समीक्षा-दर्शन

(प्रथम भाग)

लेखक

रामलाल सिंह एम० ए० साहित्यरत्न

प्राध्यापक हिन्दी-विभाग, सागर-विश्वविद्यालय, सागर

प्रकाशक

इंडियन प्रेस, लिमिटेड प्रयाग

१९५२

मूल्य ६)

समर्पण-पत्र

अध्यापकों की आर्थिक एवं मानसिक स्वतंत्रता के परम समर्थक सागर-विश्वविद्यालय के उपकुलपति परम आदरणीय डा० रामप्रसाद जी त्रिपाठी डी० यस, सी० के कर कमलों में सादर समर्पित, जिन्होंने अपने निर्माणकारी व्यक्तित्व से इस नवजात विश्वविद्यालय में सर्जनात्मक शक्तियों के विकास के लिए एक नवीन वातावरण उत्पन्न किया ।

"लीनं वस्तुनि येन सूक्ष्मसुभगं तत्त्वं गिरा कृष्यते ।
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं वाचैव यो वा बहिः ।
वन्दे द्वावपि तावहं कविवरौ वन्देतरां तं पुनः ।
यो विज्ञातपरिश्रमोऽयमनयोर्भारावतारक्षमः ॥"

प्राक्कथन

समीक्षा जीवन तथा साहित्यगत सत्य के दर्शन का प्रयत्न है। व्यापक अर्थ में समीक्षा का विकास सृष्टि के आदि काल से हो रहा है और आगे भी तब तक होता रहेगा जब तक मनुष्य प्रगति का प्रेमी बना रहेगा। समीक्षा के भिन्न भिन्न सम्प्रदायों द्वारा उसके किसी न किसी अंग या तत्व का ही प्रादुर्भाव या विकास हुआ है। उसके पूर्णतम विकास का आरोप किसी सम्प्रदाय में करना समीक्षाभास है, समीक्षा नहीं। एक प्रकार से समीक्षा-शक्ति का विकास करना साहित्य या शिक्षा का ही नहीं, वरन् जीवन का भी परम उद्देश्य है। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर मैंने समीक्षा-दर्शन का प्रयत्न किया है। समीक्षा-दर्शन को पहले एक ही पुस्तक के रूप में प्रस्तुत करने की मेरी योजना थी और उसमें सामान्य समीक्षा-सिद्धान्त तथा भारतीय एवं पाश्चात्य समीक्षा-पद्धतियों को नियोजित करने का विचार था। किन्तु पुस्तक का कलेवर अधिक बढ़ जाने से मैंने इसको दो भागों में प्रस्तुत करने की योजना बनाई। प्रथम भाग में सामान्य समीक्षा-सिद्धान्त तथा भारतीय समीक्षा-पद्धतियों को रखने का विचार था तथा दूसरे में पाश्चात्य समीक्षा-पद्धतियों को। किन्तु अनेक पारिवारिक उलझनों तथा प्रेस की कतिपय कठिनाइयों के कारण पूर्व नियोजित प्रथम भाग को भी दो भागों में उपस्थित करना पड़ रहा है। प्रथम भाग में सामान्य समीक्षा सिद्धान्त एवं भारतीय समीक्षा-पद्धतियों में से अलंकार सम्प्रदाय, रीति सम्प्रदाय तथा ध्वनि सम्प्रदाय पाठकों की सेवा में प्रस्तुत कर रहा हूँ। वक्रोक्ति सम्प्रदाय, औचित्य सम्प्रदाय, रस सम्प्रदाय तथा भारतीय समीक्षा की सामान्य धारणा एवं स्वरूप दूसरे भाग का विषय है।

दूसरा भाग भी प्रेस में जा चुका है। आशा है उसे भी पाठकों के सामने प्रस्तुत करने में शीघ्र समर्थ होऊँगा। एक प्रकार से प्रारंभिक

अध्याय मेरे समीक्षा-दर्शन का पथ निर्माण करते हैं। इसी पथ पर चल कर मैंने भारतीय तथा विदेशी समीक्षा पद्धतियों को परखने का प्रयत्न किया है। भारतीय समीक्षा-पद्धतियों के विवेचन में 'सम्प्रदायगत सिद्धान्त-निरूपण' उसके उचित पक्ष के मण्डन एवं अनुचित पक्ष के खण्डन तथा सम्पूर्ण रूप में उसके मूल्याङ्कन को अपना अनुशीलन समझता हूँ। ऐतिहासिक विकास तुलनात्मक अध्ययन आदि तो परिश्रम की वस्तुएँ हैं। शेष सामग्री के लिए अनेक संस्कृत हिन्दी तथा अंग्रेजी ग्रन्थकारों का ऋणी हूँ। इस पुस्तक के प्रणयन में भी गुरुदेव वाजपेयी जी से अनेक प्रकार की सहायतायें मिली हैं इसके लिए मैं उनका सादर अभिवादन करता हूँ। इस अवसर पर परमश्रद्धेय डा० रसाल जी के प्रति कैसे कृतज्ञता प्रकट करूँ क्योंकि उनकी कृपा, प्रेरणा, उत्साह आदि के बिना मुझे इसके लिखने की शक्ति या अवसर ही न मिलता। अन्त में इस पुस्तक में मुझसे जो भूलें या भ्रान्तियाँ हुई हैं तथा जो अपराध बन पड़े हैं उनकी क्षमा-याचना करना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ।

सागर विश्वविद्यालय
सागर (मकरोनिया)
हरिप्रबोधिनी एकादशी

रामलालसिंह

विषय-सूची

समीक्षा क्या है

समीक्षा का क्षेत्र उतना ही व्यापक है जितना जीवन का। समीक्षा उतनी ही गूढ़ है जितना जीवन। समीक्षा भी सदा से उसी प्रकार गतिशील रही है जिस प्रकार जीवन। वैयक्तिक तथा सामाजिक दोनों दृष्टियों से समीक्षा का मूल्य सदा बदलता रहता है। शैशवावस्था[१] से युवावस्था एवं युवावस्था से वृद्धावस्था का परिवर्तन सामान्य व्यक्ति के जीवनगत मूल्यों, मान्यताओं तथा स्वरूपों के निर्णय में परिवर्तन उपस्थित करता है। 'सत्यं, शिवं, सुन्दरं' के मूल्य-निर्धारण में[२] जैसे जैसे परिवर्तन, किसी व्यक्ति अथवा समाज के जीवन में उपस्थित होता है, वैसे-वैसे उस व्यक्ति तथा समाज की समीक्षा-दृष्टि भी बदलती रहती है। शास्त्र को अपनी बपौती समझनेवाले कुछ पण्डितों तथा शास्त्रकारों ने समीक्षा को जीवन तथा साहित्य के एक देशीय, एकयुगीन एवं एकाङ्गी नियमों, उपनियमों, पद्धतियों तथा रीतियों के कठघरे के भीतर बन्द करने का प्रयत्न, क्या भारत, क्या यूरोप—सभी देशों में किया, किन्तु समीक्षा, युग[३] तथा समाज की पुकार सुनते ही परम्परागत नियमों के

---

१ *The changes from child to youth and from youth to old age do involve great changes in our modes of valuation and choice. The point of view of an individual and society varies as their valuation of what is good varies*—"Essays on Criticism"—*by Roberison*

२ *The law in criticism is fluctuating thing*—"Study in Modern English Literature"—*Moulton*

३ जिस प्रकार की जिस समय लोगों की रुचि होती है, वैसी ही समालोचनाएँ भी निकला करती हैं। इस कारण समालोचना भी भिन्न-भिन्न समयों में भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है

—मर्यादा जून १९१२ कृष्णबिहारी मिश्र

कठघरों की दायित्व-श्रृंखला को तोड़कर जीवन, जगत एवं साहित्य के सत्यों तथा वास्तविकताओं का उद्घाटन करते हुए जीवन के विकास के साथ सदा आगे बढ़ती रही है।

जीवन तथा साहित्य के विकास के साथ साथ उनका मानदण्ड भी विकसित होता रहता है। लक्षण[१] ग्रन्थ जीवन की परिस्थितियों, समस्याओं तथा मूल्यों एवं उनकी प्रेरणा से बने हुए लक्ष्य[२] ग्रन्थों के आधार पर ही बना करते हैं। जीवन[३] तथा लक्ष्यग्रन्थों के स्वरूप में ज्यों-ज्यों अन्तर उपस्थित होगा त्यों त्यों लक्षण ग्रन्थ भी परिवर्तित होते जायँगे। वस्तुतः लक्षण या समीक्षा ग्रन्थ किसी लक्ष्य ग्रन्थ अथवा जीवन के तत्त्व, स्वरूप, मूल्य, आदि के समझने में सहायता पहुँचाने के लिए ही निर्मित होते हैं, साहित्य अथवा जीवन को बाँधकर गतिहीन बनाने के लिए नहीं। उपर्युक्त कथन का तात्पर्य यह नहीं है कि जीवन तथा साहित्य के सभी तत्त्व तथा मूल्य परिवर्तनशील ही होते हैं। जीवन की कुछ स्थायी भावनाएँ, कतिपय शाश्वत मूल्य तथा कुछ चिरंतन सत्य स्थिर माने जा सकते हैं; किन्तु उनकी अभिव्यक्ति, आस्वादन तथा अधिमूल्यन की पद्धतियाँ युग की आवश्यता तथा माँग के अनुसार बदलती रहती हैं। इसी प्रकार साहित्य के कतिपय[४] मूल-सिद्धान्त तथा मूल्य तो स्थिर रहते हैं, किन्तु उनके नियम-उपनियम आदि तथा उनको व्यक्त करने-

---

१ *Criticism takes into account the changing circumstances of life.*—Moulton

२ *Criticism is a derivative art; and could scarcely have come in to being without large body of literature to suggest canons of judgements*—Whawn

३ समीक्षा का स्वरूप सदा से गतिशील रहा है। वह बदलती हुई परिस्थिति के अनुसार बदलता रहता है। (टीका आणि टीकाकार)

४ देशकाल की परिस्थिति तथा व्यक्ति-रुचि के अनुसार संस्कृत तथा अंग्रेजी दोनों से समीक्षा के नये नये सम्प्रदाय बनते गये। —काव्यालोचन

वाली पद्धतियाँ, रीतियाँ एवं शैलियाँ परिवर्तित होती रहती हैं। युग तथा समाज की अभिनव परिस्थिति, आवश्यकता एवं माँग के अनुसार बदलते हुए जीवन तथा साहित्य के नियमों, उपनियमों, मूल्यों, मान्यताओं, अभिव्यक्तियों, पद्धतियों, रीतियों एवं शैलियों का निरूपण समय-समय पर समीक्षक किया करते हैं। समीक्षक का लक्ष्य जीवन तथा साहित्य का ऐसा नियंत्रण करना है जिससे दोनों उत्तरोत्तर विकास-मार्ग पर अग्रसर होते रहें। युग की माँग एवं समाज की आवश्यकता का तिरस्कार करके परम्परा की उपासना करनेवाला, पुरानी लीक पर चलनेवाला, एवं 'पुराण' को[१] ही सर्व सत्य समझनेवाला समीक्षक समीक्षा के क्षेत्र में हमारे यहाँ मूढ़ कहा गया है।

आज के वैज्ञानिक आविष्कारों तथा भविष्य में होनेवाले अनुसन्धानों के अनुमान के बल पर मानव-जीवन के विकास की कोई इयत्ता नहीं बताई जा सकती। आगामी वैज्ञानिक विकास के अनुसार एवं उनके आधार से उत्पन्न जीवन-विकास की दृष्टि से हमारे अतीत तथा वर्तमान काल के सभी शास्त्र अपूर्ण एवं अधूरे सिद्ध होंगे। जब तक ये शास्त्र अपूर्ण हैं, जब तक मानव-मन जिज्ञासा प्रधान है और मानव जब तक अपने विकास की ओर प्रयत्नशील है तब तक उसके जीवन, साहित्य एवं समीक्षा सबके लिए विभिन्न युगों में विभिन्न प्रकार के प्रयोग के क्षेत्र तथा अवसर रहेंगे। अतः जीवन, साहित्य या समीक्षा किसी की पुरानी परिभाषा को हम आज के लिए निरपेक्ष सत्य के रूप में स्वीकार नहीं कर सकते, क्योंकि जिस परिस्थिति, आवश्यकता तथा आदर्श को लेकर वे बनी थीं उनका समय या युग बीत गया। और न आज हम 'समीक्षा क्या है' के उत्तर में कोई परिभाषा भविष्य के लिए निरपेक्ष सत्य के रूप में बनाने का प्रयत्न करेंगे, क्योंकि भविष्य की परिस्थितियाँ, आवश्यकताएं तथा समस्याएं आज से नितान्त भिन्न होंगी।

---

१ पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते मूढः पर प्रत्ययनेय बुद्धिः॥ —कालिदास

समीक्षा का ठीक ठीक अध्ययन तथा विश्लेषण करने के लिए उसे हम किसी युग, राष्ट्र या वाद की परिभाषा, मान्यता तथा धारणा के कठघरे के भीतर बन्द नहीं करेंगे, वरन् अतीत तथा वर्तमान, पूर्व तथा पश्चिम—दोनों कालों तथा देशों में प्रचलित समीक्षा सम्बन्धी अर्थों, प्रयोगों, शब्दों, परिभाषाओं, मान्यताओं आदि पर अनुसन्धानात्मक दृष्टि से विचार करने का प्रयत्न करेंगे तथा उनमें निहित वैज्ञानिक तथ्यों को भी संचित करेंगे। समीक्षा की प्रक्रिया के ऊपर मनो वैज्ञानिक, सामाजिक, दार्शनिक, साहित्यिक आदि सभी दृष्टियों से विचार करने का प्रयत्न किया जायगा और अन्त में इन्हीं विवेचनों तथा विश्लेषणों के साथ स्वतन्त्र मत देने का भी प्रयत्न रहेगा।

सामान्य अर्थ में समीक्षा का प्रयोग साहित्य ही नहीं वरन् ज्ञान[१] मात्र के लिए हुआ है। इस व्यापक अर्थ में समीक्षा का आरम्भ तभी से हो गया जब से मनुष्य मात्र को विवेक मिला और उसने भले-बुरे, रुचिकर-अरुचिकर, सार्थक-निरर्थक एवं महत्त्वपूर्ण-अमहत्त्वपूर्ण का चुनाव आरम्भ कर दिया। इस अर्थ में समीक्षा का जन्म साहित्य से पहले हो जाता है। जिस प्रकार साहित्यान्तर्गत विशिष्ट समीक्षा साहित्य की अनुवर्तिनी है तद्वत् साहित्य, सामान्य-समीक्षा का अनुवर्ती है। इस दृष्टि से जीवन की समीक्षा का उद्भव पहले होता है; तदनन्तर उसकी भित्ति पर साहित्य की सृष्टि होती है। इस प्रकार समीक्षा, अपने सामान्य अर्थ में साहित्य को जीवन देती है और विशिष्ट अर्थ में समीक्षा साहित्य से जीवन ग्रहण करती है। इसी व्यापक अर्थ में मैथ्यू आर्नोल्ड[२] ने काव्यमात्र को समीक्षा कहा है। यदि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया जाय तो पता चलेगा कि काव्य या साहित्य-सृष्टि में समीक्षा-शक्ति तथा समीक्षा-क्रिया का हाथ बराबर

---

१ *Criticism is true and perfect knowledge of any thing*—Gauss

२ *Poetry is Criticism of life*—Arnold

रहता है। साहित्य रचना की मुख्य[1] शक्ति कारयित्री तथा समीक्षा की मुख्य शक्ति भावयित्री है; किन्तु भावयित्री का योगदान पाये बिना कारयित्री अपने निर्माण-पथ में गतिशील नहीं हो सकती। कोई कवि या लेखक जीवन की कोई धारणा बनाये बिना, जीवन के तथ्यों का प्रत्यभिज्ञान किये बिना, जीवन की कोई दृष्टि अपनाये बिना, जीवन के श्रेय तथा प्रेय स्वरूपों का विश्लेषण किये बिना साहित्य सृष्टि नहीं कर सकता; और उपर्युक्त सभी कार्यों में वह अपनी भावयित्री या समीक्षा-शक्ति को क्रियाशील किये बिना सफल नहीं हो सकता।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से समीक्षा के सामान्य अर्थ के भीतर किसी वस्तु, व्यक्ति, कृति, कवि, घटना, परिस्थिति, समस्या, प्रश्न, सामान्य साहित्य या विशिष्ट-साहित्य आदि पर सोचने, समझने, देखने, परखने, निर्णय करने, आस्वादन करने, मूल्य निर्धारण करने तथा आनन्द लेने की प्रक्रिया, प्रकृति तथा शक्ति का समावेश होता है।

सामाजिक दृष्टि से समीक्षा के भीतर व्यक्ति तथा समाज को प्रत्येक युग में समन्वय सूत्र में बाँधकर उत्तरोत्तर विकास के पथ पर पहुँचाने वाले जीवन के मूल्यों, तथ्यों, मान्यताओं, धारणाओं, आदर्शों आदि को समझने की शक्ति का समावेश हो जाता है। दार्शनिक दृष्टि से समीक्षा के सामान्य अर्थ के भीतर मानव जीवन तथा विश्व को व्यापक रूप से देखने की दृष्टि, मानव जीवन के आराध्य मूल्यों, साध्यों, आदर्शों, मान्यताओं को समझने की शक्ति तथा उनको प्राप्त करने में सहायक होनेवाले सिद्धान्तों, साधनों, नियमों, पद्धतियों आदि के निर्णय करने की क्षमता विद्यमान है। साहित्यिक दृष्टि से समीक्षा के सामान्य अर्थ के भीतर किसी कवि या कृति के जीवन-निर्माण में प्रयुक्त मानसिक प्रक्रिया को समझने अथवा अनुमान करने या उसके मूल्य परखने की प्रक्रिया का समावेश

---

१ सा च द्विधा, कारयित्री भावयित्री च। कवेरुपकुर्वाणा कारयित्री। भावकस्योपकुर्वाणा भावयित्री। सा हि कवेः श्रममभिप्रायं च भावयति।

—काव्यमीमांसा-राजशेखर

होता है। समीक्षा के उपर्युक्त व्यापक अर्थ से यह विदित हुआ कि समीक्षा, साहित्य के अणु अणु में बीजरूप से वर्तमान है। अतः निष्कर्ष रूपमें हम कह सकते हैं कि सामान्य समीक्षा बिना साहित्य का अस्तित्व सम्भव नहीं है।

विशिष्ट अर्थ में समीक्षा[१] के अन्तर्गत साहित्य संबन्धी सभी प्रकार के बौद्धिक विवेचन, विश्लेषण, मीमांसा, वार्ता, शास्त्रार्थ, तथा साहित्य सम्बन्धी प्रश्नों के बौद्धिक उत्तर का समावेश किया जाता है। साहित्य सम्बन्धी बौद्धिक विवेचन या उत्तर प्रस्थान-भेद या प्रश्न-भेद के अनुसार दो प्रकार के होते हैं। प्रथम प्रकार के विवेचन या उत्तर में सामान्य साहित्य को विशिष्ट सौन्दर्य के रूप में, पृथक् अस्तित्व प्रदान किया जाता है, साहित्य—सौन्दर्य के अर्थ, प्रयोजन, प्रकृति, प्रक्रिया, स्वरूप, साधन, युग-धर्म विशेषता आदि पर बौद्धिक दृष्टि से प्रकाश डाला जाता है तथा समीक्षक सामान्य से विशेष (विशिष्ट कवि या कृति) की ओर केवल उदाहरण के रूप में जाता है। दूसरे प्रकार के विवेचन, विश्लेषण, या प्रश्नोत्तर में समीक्षक किसी साहित्यिक कृति, कवि, युग, धारा, सम्प्रदाय विशेष के पदार्थ, विषय, शैली, सामान्य विशेषताओं, रचना-प्रक्रिया, जीवन-दर्शन, मौलिक-देन आदि पर मुख्य रूप से बौद्धिक प्रकाश डालते हुए गौण रूप से साहित्य के सामान्य सिद्धान्तों को निरूपित करता है जो उस कृति, कवि, युग-धारा अथवा सम्प्रदाय विशेष में पाए जाते हैं। प्रथम प्रकार के विवेचन में मुख्य विषय रहता है—साहित्य-दर्शन तथा दूसरे में विशेष कृति या कवि का अध्ययन। विद्वानों ने उक्त प्रथम प्रकार के विवेचन को सैद्धान्तिक समीक्षा नाम दिया है तथा दूसरे को व्यावहारिक समीक्षा के नाम से अभिहित किया है।

---

१ *Literary criticism in the most elastic meaning of the term is literature dicussing itself. It stands from the Formal Treatise to the floating criticism of every day conversation on literary topics*—Moulton

सैद्धान्तिक समीक्षा

आजकल भारतीय साहित्य में सैद्धान्तिक समीक्षा विषयक सबसे पुराना ग्रन्थ भरत रचित 'नाट्यशास्त्र' उपलब्ध है। प्राचीन काल में भारतवर्ष में मुद्रणकला के अभाव में नाटक ही साधारण जनता तक पहुँच पाते थे, इसीलिए नाटक पर ही समीक्षा ग्रन्थ सबसे पहले लिखे गये और उस समय के समीक्षकों ने साहित्य की दृष्टि से काव्य और नाटक दोनों को काव्य के रूप में स्वीकार किया। यही कारण है कि काव्य के आत्म-तत्त्व-रस की व्याख्या 'नाट्य-शास्त्र' से प्रारम्भ होती है। 'नाट्य-शास्त्र में नाट्य-समीक्षा के सिद्धान्तों की व्याख्या की प्रधानता होने पर भी उसमें संगीत-कला, नृत्य-कला, काव्य-कला आदि अन्य ललित कलाओं की चर्चा मिलती है। इससे यह विदित होता है कि प्राचीन काल में भारतीय साहित्य में सैद्धान्तिक समीक्षा का विस्तार अंग्रेजी के सौन्दर्य-शास्त्र के समान ही अत्यन्त व्यापक था।

सैद्धान्तिक समीक्षा के लिए सबसे पुराना नाम भारतीय साहित्य में क्रिया-कल्प[१] मिलता है। ६४ कलाओं के अन्तर्गत एक कला मानते हुए इसका उल्लेख सबसे प्रथम वात्स्यायन ने अपने काम सूत्र में किया है। वाल्मीकि ने रामायण के उत्तरकाण्ड में 'क्रिया-कल्पविद्[२]' शब्द का प्रयोग समीक्षक के अर्थ में किया है। ललित विस्तर में कलाओं की सूची के भीतर क्रिया-कल्प का उल्लेख एक कला के रूप में हुआ है। दण्डी ने अपने काव्यादर्श में 'क्रिया-कल्प' के लिए 'क्रिया-विधि' शब्द का प्रयोग किया है। काव्यादर्श की 'हृदयंगमा' नाम की टीका में 'क्रिया-विधि' का अर्थ 'काव्य-करणविधि' के रूप में हुआ है। आगे चलकर

---

१ वात्स्यायन कामसूत्र। १।३।१६

२ क्रियाकल्पविदश्चैव तथा काव्यविदो जनान्। —उत्तरकाण्ड।

जयमंगल ने क्रिया-कल्प शब्द की बहुत ही स्पष्ट एवं सुन्दर व्याख्या की है। उसे उन्हीं के शब्दों में देखिए :—

'क्रिया कल्प इति काव्यकरणविधिः,' 'काव्यालंकार इत्यर्थः। त्रितयमपि (अभिधान, छन्दस् और अलंकार)।' 'काव्य-क्रियांग परकाव्यावबोधार्थञ्च।' अर्थात् क्रिया-कल्प में दूसरे के काव्यों को समझने के लिए तथा कवियों के शिक्षण और मार्ग—प्रदर्शन के लिए काव्य की विधियों, प्रक्रियाओं, साधनों, अंगों, तत्त्वों आदि की व्याख्या रहती है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से क्रिया-कल्प दो शब्दों से बना है—'क्रिया' और 'कल्प'। क्रिया[1] शब्द के अनेक अर्थों में एक काव्य-क्रिया भी है और कल्प का अर्थ है विधि या विधान। यह ध्यान देने की बात है कि क्रिया का समानार्थी अंग्रेजी शब्द-'वर्क' (work) भी काव्य रचना या काव्य-क्रिया के अर्थ में प्रयुक्त होता है। अर्थात् क्रिया-कल्प शब्द पर विचार करने से तात्पर्य यह निकला कि सैद्धान्तिक समीक्षा में साहित्य-निर्माण के प्रयोजन, साधन, तत्त्व, प्रक्रिया, पद्धति, प्रकृति, स्वरूप, सीमा, सिद्धान्त आदि की व्याख्या रहती है। उसके भीतर अन्य ललित कलाओं के विश्लेषण का भी स्थान है। सैद्धान्तिक समीक्षा पाठकों को अन्य कवियों के काव्यों को बौद्धिक तथा तार्किक ढंग से समझने में सहायता पहुँचाने के लिये तथा कवियों को काव्य-निर्माण में पथ-प्रदर्शन करने के लिए लिखी जाती है।

भारतीय साहित्य में सैद्धान्तिक-समीक्षा के लिए सबसे प्रसिद्ध तथा प्रचलित नाम अलंकार शास्त्र मिलता है। अलंकार-युग ही भारतीय समीक्षा के इतिहास में सर्व प्रथम युग है। उस युग में काव्य में, उसके अनेक तत्त्वों-रस, रीति, वृत्ति, गुण, ध्वनि आदि में अलंकार[2]

---

१ श्रृणुत मनोभिरवहितैः क्रियामिमां कालिदासस्य विक्रमोर्वशीय कालिदासस्य क्रियायां बहुमानः —मालविकाग्निमित्र

२ यच्च संध्यंग वृत्त्यंग लक्षणाद्यागमान्तरे।
व्यावर्णितमिदं चेष्टं अलंकारतयैव नः। —दण्डी—

को इतनी अधिक प्रमुखता तथा महत्ता प्राप्त थी कि काव्य का अर्थ अलंकारत्व लिया जाता था एवं अलंकारत्व का अर्थ काव्यत्व समझा जाता था। काव्य में अलंकार[१] की इस महत्ता तथा प्रधानता के कारण काव्य के एक तत्त्व के आधार पर साहित्य समीक्षा की संपूर्ण सैद्धान्तिक पद्धतियाँ अलंकार-शास्त्र के नाम से अभिहित हुईं। अलंकार शास्त्र के प्रथम सम्प्रदाय के युग में काव्य में अलंकार की व्याप्ति इतनी अधिक बढ़ी कि दण्डी के अतिरिक्त सभी अलंकारवादियों ने उस युग में अपनी सैद्धान्तिक समीक्षा संबंधी पुस्तकों का नाम अलंकार के नाम से रखा जैसे काव्यालंकार (भामह और रुद्रट रचित), काव्यालंकार सार-संग्रह (उद्भट रचित), काव्यालंकार सूत्र (वामन रचित) आदि।

यद्यपि अलंकार सम्प्रदाय के युग में काव्य में अलंकार नामक तत्त्व को आवश्यकता से बहुत अधिक प्रसिद्धि एवं महत्त्व मिला किन्तु अलंकार शब्द का प्रयोग उस युग की सैद्धान्तिक समीक्षा की पुस्तका में इतने व्यापक[२] रूप में हुआ कि उसके अन्तर्गत काव्य में सौन्दर्य संपन्न करनेवाले समस्त तत्त्वों तथा उपकरणों का समावेश हो जाता है। इस प्रकार अलंकार शास्त्र के नाम पर विचार करने से यह पता चला कि काव्य में सौन्दर्य—निरूपण, सौन्दर्य-अनुशासन अथवा सौन्दर्य-आस्वादन की विधि, पद्धति तथा मार्ग, बताने वाला शास्त्र[३] ही उस समय अलंकार शास्त्र के नाम से अभिहित होता था।

---

१ काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते।

२ *It is reminder of that stage in the history of Sanskrit poetics when the concept of* अलंकार *was sitting high on the throne of Sanskrit expression*—राघवन

३ *As a result of the importance of this* अलंकार *stage of the Sanskrit poetics that the whole system got itself named after one of the several elements of poetry* —कुमारस्वामी

अलंकार-सम्प्रदाय के अतिरिक्त अलंकार शास्त्र में रस, रीति, गुण, औचित्य, ध्वनि, वक्रोक्ति सम्प्रदाय भी उत्पन्न हुए। काव्य के जिस तत्त्व ने जिस युग में सबसे प्रधान एवं महत्त्वपूर्ण स्थान साहित्य अथवा समीक्षा में प्राप्त किया उसी के नाम से उस युग की सैद्धान्तिक समीक्षा अभिहित हुई। यद्यपि रस, रीति, औचित्य, ध्वनि, वक्रोक्ति की महत्ता से सम्बन्ध रखनेवाले विभिन्न युगों में काव्य के किसी एक तत्त्व को कवियों तथा आचार्यों ने आवश्यकता से अधिक महत्त्व दिया किन्तु काव्य का वह एक तत्त्व अपने युग में बहुत व्यापक दृष्टि से विवक्षित हुआ और उसने काव्य के अन्य तत्त्वों को अपने भीतर समाहित कर लिया। इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से भारतीय अलंकार शास्त्र विषयक सामान्य जनों की निम्नांकित स्थूल धारणाओं[१] का निराकरण हो जाता है कि इस शास्त्र का संबंध केवल अलंकारों से है, कि संस्कृत साहित्य की सैद्धान्तिक समीक्षा काव्य के बहिरंग पक्ष की ही समीक्षा प्रस्तुत करती है, कि उसका सम्बन्ध साहित्य के अप्रगतिशील परम्परावादी नियमों, सिद्धान्तों तथा पद्धतियों से है।

राजशेखर ने समीक्षा शास्त्र [सैद्धान्तिक समीक्षा] को[२] साहित्य-विद्या नाम देते हुए उसे अन्य विद्याओं में स्वतंत्र अस्तित्व प्रदान किया है और उसे प्रसिद्ध चार विद्याओं-आन्वीक्षकी [आत्मविद्या या दर्शन-

---

१ *You may feel what Sanskrit writers have called literary criticism cannot at best rise above the level of what one might easily characterise as dogmatic criticism.* अलंकार शास्त्र *is commonly believed to be a branch of knowledge which deals with figures of speech* .. . *It does not really help you to get close to the heart of the work of Art*

—The Highways & byways of Literary Criticism

२ आन्वीक्षकी त्रयी वार्ता दण्डनीतयश्च तिस्रो विद्याः। पंचमी साहित्य विद्या इति यायावरीयः। सा हि चतसृणामपि विद्यानां निस्यन्दः

—काव्यमीमांसा—राजशेखर।

शास्त्र] त्रयी [ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद], वार्त्ता [अर्थशास्त्र] और दण्डनीति [राजनीति] का निचोड़ स्वीकार किया है। इस प्रकार भारतीय सैद्धान्तिक समीक्षा का क्षेत्र १० वीं शताब्दी में ही आधुनिक समीक्षा के समान बहुत व्यापक तथा विस्तृत दिखाई पड़ता है। हिन्दी साहित्य में सैद्धान्तिक समीक्षा के आधुनिक व्यापक स्वरूप को बहुत से विद्वान् अंग्रेज़ी साहित्य का वरदान समझते हैं। परन्तु वे ही लोग ऐसा समझते हैं जो संस्कृत सैद्धान्तिक समीक्षा से सर्वथा अनभिज्ञ हैं और जो आजकल की साहित्यान्तर्गत और सभ्यतागत सभी अच्छी चीजों को विदेशी साहित्य तथा शिक्षा का प्रसाद मानते हैं। माना कि हमने विदेशी शिक्षा तथा साहित्य से बहुत सी अच्छी बातें सीखीं हैं और हमारी आधुनिक सभ्यता उनसे बहुत प्रभावित हुई है किन्तु इसका मतलब यह नहीं कि हमारे साहित्य और शिक्षा में कोई अच्छी चीज़ थी ही नहीं। जहाँ तक समीक्षा शास्त्र का सम्बन्ध है उसके लिए राजशेखर का दृष्टिकोण इस बात को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि भारतीय समीक्षा का स्वरूप बहुत प्राचीन काल से ही इतना व्यापक है कि उसके अन्तर्गत पाश्चात्यों की 'पोइटिक्स', 'रिटारिक', 'एस्थेटिक्स', 'सबलाइम' आदि का समावेश भलीभाँति किया जा सकता है। इस प्रकार भारतीय सैद्धान्तिक समीक्षा का क्षेत्र इतना विस्तृत, व्यापक एवं विशद् दिखलाई पड़ता है कि उसकी आधुनिक व्याख्या के आधार पर संसार भर के साहित्य की सामान्य आलोचना की जा सकती है। भारतवर्ष में भिन्न-भिन्न युगों में भारतीय सैद्धान्तिक समीक्षा के भिन्न-भिन्न संप्रदायों को प्रचलित देखकर दूसरा निष्कर्ष यह निकलता है कि भारतीय समीक्षा सदा से प्रगतिशील रही है। उसने किसी प्रकार के बंधन, या शृंखला को कभी स्वीकार नहीं किया।

आनन्दवर्द्धन ने उद्योत के प्रथम खण्ड में तथा अन्यत्र भी अलंकार-शास्त्र या सैद्धान्तिक समीक्षा पर लिखनेवाले लेखकों को काव्य लक्षण-कारी के नाम से अभिहित किया है। दण्डी ने भी सैद्धान्तिक समीक्षा पर

अपना ग्रन्थ लिखते समय यही कहा है कि मैं अपनी शक्ति के अनुकूल काव्य लक्षण लिखने जा रहा हूँ :—

"यथासामर्थ्यमस्माभिः क्रियते काव्यलक्षणम् ।"

इसी आधार पर सैद्धान्तिक समीक्षा संबंधी ग्रन्थ संस्कृत साहित्य में लक्षण-ग्रन्थ के नाम से पुकारे जाते हैं। लक्षण ग्रन्थ से तात्पर्य उन ग्रंथों से है जिनमें साहित्य या काव्य के भेदोपभेदों की विशेषताओं, लक्षणों, तत्त्वों, स्वरूपों, पद्धतियों, शैलियों आदि का विवेचन रहता है।

सैद्धान्तिक समीक्षा के लिये एक और प्रचलित नाम मिलता है—रीतिशास्त्र। रीति का अर्थ है ढंग या पद्धति। जो शास्त्र काव्य रचना या उसके अनुशीलन की पद्धति को बतलाए उसका नाम है रीतिशास्त्र ।

सैद्धान्तिक समीक्षा के लिए भारतीय साहित्य में एक और नाम चलता है—साहित्य शास्त्र जो अर्थ में उससे कुछ भिन्नता रखता है। अत: सैद्धान्तिक समीक्षा तथा साहित्य-शास्त्र के अन्तर को स्पष्ट कर देना आवश्यक है। सैद्धान्तिक समीक्षा का विस्तार साहित्यिक विषय पर की हुई दैनिक असंबद्ध चर्चा से लेकर व्यवस्थित प्रबंध एवं साहित्य शास्त्र के ग्रंथों तक है। इस प्रकार साहित्य-शास्त्र सैद्धान्तिक समीक्षा के अन्तर्गत आ जाता है किन्तु सभी सैद्धान्तिक समीक्षाएँ साहित्य-शास्त्र के भीतर स्थान नहीं पा सकतीं जैसे, भरत मुनि ने काव्य के दस गुण बतलाए हैं। वामन ने उनकी संख्या बीस कर दी है। भामह ने उन्हें तीन गुणों के भीतर ही समाहित कर दिया है। आजकल काव्य-गुणों की चर्चा के समय समीक्षक प्रायः भामह के ही तीन गुणों (ओज,

---

१ *And Kavya Lakshan can also be taken as a general appellation applied to poetics in the days of the reign of* अलंकार *and even earliar*— Some Concepts of Alankar Shashtra *by* राघवन्

प्रसाद, तथा माधुर्य) का नाम लेते हैं। अतः भामह के तीन गुण साहित्य शास्त्र के भीतर स्थान पाएँगे। किन्तु भरत तथा वामन द्वारा काव्य गुणों की व्याख्या या चर्चा भारतीय साहित्य में सैद्धान्तिक समीक्षा के भीतर स्थान पाएगी।

पाश्चात्य साहित्य में सैद्धान्तिक समीक्षा के लिए सबसे पुराना नाम पोएटिक्स (Poetics) मिलता है और इस विषय पर सबसे पुराना ग्रंथ अरस्तू लिखित पोएटिक्स (Poetics) के नाम से हमें आज भी उपलब्ध है। 'पोएटिक्स' का समानार्थी शब्द हमारे यहाँ काव्य-शास्त्र है; जिसके भीतर काव्य- निर्माण एवं उसके अवबोधन के विभिन्न सिद्धान्तों, वादों, नियमों, उपनियमों, भेदों, उपभेदों, तत्त्वों, साधनों, पद्धतियों आदि की व्याख्या रहती है। होरेस ने इसी का नाम आर्ट पोएटिका (Art Poetica) दिया है जिसका अर्थ है काव्य-कला अर्थात् जिसमें काव्य-निर्माण एवं उसके अवबोधन की कला का विधान तथा व्याख्या हो। यह नाम हमारे यहाँ के सैद्धान्तिक समीक्षा के पुराने नाम क्रिया-कल्प से मिलता जुलता है।

अंग्रेजी साहित्य में सैद्धान्तिक समीक्षा के लिए दूसरा व्यापक तथा प्रचलित नाम ऐस्थेटिक्स (Aesthetics) मिलता है जिसका समानार्थी शब्द हमारे यहाँ सौन्दर्य मीमांसा अथवा सौन्दर्य शास्त्र है। वस्तुतः

---

१ *'In English the subject called literary criticism has the old name 'Poetics' and we have Aristotle's work on the Subject called 'Poetics''.*—Raghvna

२ *'Poetics is largely made up of literary Theory — Modern Study in English literature'*—Moulton.

३ *'Strictly Speaking, the theory of literature belongs to that department of philosophy which is called aesthetics .* Principles of literary Criticism-*by Abercrombie.*

४ *Aesthetics or* सौन्दर्यशास्त्र *does not strictly mean Poetics but embraces the Critical appreciation of all fine arts including Sculpture, Painting and Music'*—Raghvna

ऐस्थेटिक्स (Aesthetics) पाश्चात्य साहित्य की सैद्धान्तिक समीक्षा का दार्शनिक नाम है। आज-कल सौन्दर्य शास्त्र की व्याप्ति काव्य-दर्शन तक ही सीमित नहीं की जाती वरन् उसके अन्तर्गत सभी ललित कलाओं के आस्वादन की कला, प्रक्रिया, पद्धति आदि का समावेश किया जाता है।

पाश्चात्य साहित्य में सैद्धान्तिक समीक्षा के लिए 'सबलाइम' (Sublime) शब्द का भी प्रयोग हुआ है। इस विषय पर 'लांगिनस' के द्वारा लिखा हुआ प्रसिद्ध आलोचना-ग्रंथ 'आन सबलाइम' (On Sublime) पाश्चात्य जगत् के आलोचना-ग्रंथों में बहुत ही महत्त्व पूर्ण स्थान रखता है। 'सबलाइम' का समानार्थी शब्द हमारे यहाँ भव्य या 'उदात्त' है। अब प्रश्न यह खड़ा होता है कि सैद्धान्तिक समीक्षा को भव्य या उदात्त क्यों कहा जाय। लांगिनस के मत में वही रचना काव्य की संज्ञा प्राप्त करने की अधिकारिणी है जो भव्य या उदात्त हो।[1] भव्य या उदात्त वही रचना मानी जायगी जो किसी वस्तु के विषय में नवीन विचार करने के लिए सामग्री प्रस्तुत करती हो, जिसके प्रभाव को रोकना नितांत असंभव हो, जिसकी स्मृति इतनी प्रबल हो कि वह बिना प्रयत्न के ही पाठक के मानस-पटल पर अमर रूप में अंकित हो जाय तथा जो सभी श्रोताओं तथा पाठकों को सदा प्रसन्न रखने की क्षमता रखती हो। सदा प्रसन्न करना और सब को प्रसन्न करना, अमिट प्रभाव छोड़ना, नवीन विचार उत्तेजित करने की सामग्री प्रस्तुत करना—एक प्रकार से रस ही का काम है। दूसरे शब्दों में इसे यों कहिए कि काव्य में रस नामक तत्त्व ही उसे भव्य या उदात्त बनाता है। सैद्धान्तिक समीक्षा के 'सबलाइम' नाम का विवेचन करने से निष्कर्ष यह निकला कि सैद्धान्तिक समीक्षा इस बात पर विचार करती है कि कोई विचार या भाव किस प्रक्रिया, तत्त्व, साधन आदि के समावेश से रसदशा

---

१ *'That is really great, which gives much food for fresh reflection, which is hard, nay, impossible to resist of which the memory is strong and indelible, you may take it that those are beautiful and genuine effects of sublimity which please always and which please all' (On Sublime)*—Longinus

को प्राप्त होता है, वह श्रोता या पाठक को किस प्रक्रिया से भव्य या उदात्त बनाता है, वह रसिकों के हृदय को किस प्रकार निम्न धरातल से उठाकर उच्च धरातल पर प्रतिष्ठित करता है। साहित्य किस प्रक्रिया से विश्व को सरस, स्निग्ध उदार एवं कोमल बनाता है, वह किस प्रकार समाज के अत्याचार, अन्याय, रोग, शोक, दु:ख आदि को मिटाने के लिए श्रोता तथा पाठक को प्रेरित करता है, मनुष्य जाति को दुर्गति से बचाने का संकल्प किस प्रकार करता है, व्यक्ति को इसी जीवन में अर्थ, धर्म, काम, एवं मोक्ष प्राप्त कराने में सहायक कैसे होता है। व्यक्ति की सबसे बड़ी उदात्तता (Sublemity), परमोच्च सामाजिकता है जहाँ उसका वैयक्तिक स्व सामाजिक अथवा विश्वात्मक-स्व में लय हो जाता है। इस उदात्तता को साहित्य द्वारा कवि, श्रोता, पाठक, रसिक तथा समीक्षक कैसे प्राप्त करेंगे इसी बात पर सैद्धान्तिक समीक्षा विशेष दृष्टि से विचार करती है।

आजकल अंग्रेजी साहित्य में सैद्धान्तिक समीक्षा के लिए सबसे आधुनिक नाम स्पेकुलेटिव क्रिटिज़म (Speculative Cricism) दिखाई पड़ता है वह सैद्धान्तिक समीक्षा के अन्य नामों से कुछ भिन्न और विशेष अर्थ रखता है। अत: इस पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। 'स्पेकुलेटिव' शब्द[१] प्रयत्नान्तर्गत सामयिक प्रगति के दर्शन की ओर संकेत करता है जिसमें चिन्तन सम्बंधी दोनों वृत्तियों—तार्किक-विश्लेषण एवं नियम-प्रतिष्ठापन का समावेश हो जाता है। किसी भी नए युग में नवीन परिस्थितियों, प्रश्नों, समस्यावों, अभावों से उत्पन्न हुई विचारधारायें जब जीवन में प्रयोग के अन्तर्गत आने लगती हैं तथा उनके आधार पर जब उस देश में प्रयोगात्मक ढंग से ऐसी नवीन कृतियों का निर्माण होने

---

१ *'The word speculative suggests a tentutire and temporary stage of advance towards such a philosphy which lends itself to both of the moods in which men philosophise – a priory reasoning and induction'* — 'Modern Study in English Literature'

Moulton

लगता है जो स्थायी साहित्य में स्थान पाने की विशेषता रखती हैं, तब उस नवीन जीवन-सरणि तथा उसके आधार पर बनी हुई नवीन काव्य-रचनाओं के दर्शनों, वादों[२] सिद्धान्तों, नियमों, उपनियमों, प्रकृतियों,[३] प्रवृत्तियों, स्वरूपों, सीमाओं, साधनों, तत्त्वों एवं आदर्शों आदि के विश्लेषण, विवेचन तथा निर्धारण के लिए जो चिन्तनपूर्ण सैद्धान्तिक समीक्षा लिखी जाती है उसे (Speculative Criticism) (स्पेकुलेटिव क्रिटिज़म) कहते हैं। यहाँ स्मरण रखने की बात यह है कि इस प्रकार की सैद्धान्तिक समीक्षा काव्य के बहिरंग-रूपों, पक्षों, तत्त्वों, नियमों, सिद्धान्तों, लक्षणों में केन्द्रित नियमनिष्ठ सैद्धान्तिक समीक्षा से भिन्न होती है। इस प्रकार की समीक्षा[४] काव्य के बहिरंग पक्ष के निश्चित वादों, नियमों, रूढ़ियों, परम्पराओं से उन्मुक्त होकर जीवन तथा साहित्य की प्रयोगान्तर्गत प्रगतियों तथा प्रवृत्तियों के दर्शन पर विचार करती है। उनकी दार्शनिक मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, आर्थिक पृष्ठभूमियों का विश्लेषण करती है। इसमें समीक्षक अपने पूर्वग्रह से ऊपर उठकर जीवन तथा साहित्य की दार्शनिक, सामाजिक एवं कलात्मक प्रगति के साथ सहानुभूति पूर्ण दृष्टिकोण से समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न करता है एवं अपनी विकासशील साहित्यिक अभिरूचि से अभिनव साहित्य-सौन्दर्य की रूप-संपदा गुणोत्कर्षता के समीक्षण का स्वतंत्र पथ तैयार करता है। इसीलिए मोल्टन इस प्रकार की समीक्षा को विकासवादी अभिरुचि की समीक्षण-पद्धति का परिणाम मानता है। इस प्रकार की समीक्षा के जन्मदाता जर्मनी के प्रसिद्ध समालोचक 'हर्डर' महोदय हैं। इन्होंने ही

---

१ *"Speculative Criticism works towards a theory and philosophy of literature"*—Moulton

२ *"Speculative and inductive method of criticism belong to the nature of things"*—Moulton.

३ *'In Speculative Criticism, formal literary theory relaxes into tentative advance towards an undertime philosophy o literature'* —Moulton.

सबसे पहले इस सिद्धान्त की स्थापना की कि कविता सर्वत्र राष्ट्रीय परिस्थिति और वातावरण की विकसित सृष्टि है; अतएव उसकी समीक्षण पद्धति अथवा उसका मूल्याङ्कन तत्कालीन जीवन तथा साहित्य के आधार पर बनना चाहिए, किसी निगूढ़ सत्ता या विश्वजनीन विधि अथवा परंपरागत पद्धति के आधार पर नहीं।[१]

सैद्धान्तिक समीक्षा की स्पष्टता के लिए तत्संबंधी कुछ परिभाषाओं पर विचार करना चाहिए। हमें संस्कृत साहित्य में सैद्धान्तिक समीक्षा की कोई अलग परिभाषा नहीं मिलती। भरत मुनि ने अपने नाट्य-शास्त्र में नाट्य-शिक्षक या समीक्षक[२] के लिए कतिपय गुणों का उल्लेख किया है। उन्हीं के आधार पर हम सैद्धान्तिक समीक्षा के स्वरूप या परिभाषा की कल्पना कर सकते हैं। भरत मुनि सच्चे नाट्य परीक्षक या साहित्य समीक्षक के लिए बुध होना ही पर्याप्त नहीं समझते, वरन् उसके लिए चारित्र्य, निर्व्यसन, निष्पक्षपात, रसग्रहण-क्षमता नामक गुणों को आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य मानते हैं, इसीलिए वे उनका उल्लेख एक वचन के रूप में (हेतुः) कहकर करते हैं। यदि उन्हें उपर्युक्त गुणों में से किसी एक के ऊपर कम या अधिक महत्त्व देना होता, किसी एक को गौण या मुख्य बनाना होता तो उनका उल्लेख वे हेतवः के रूप में करते, हेतुः के रूप में नहीं। बुध शब्द इस बात की ओर संकेत करता है कि समीक्षक को जीवन और साहित्य का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए जिससे वह अपनी सैद्धान्तिक समीक्षा में प्रतिपादित विषय का सांगोपांग विवेचन प्रस्तुत कर सके। चारित्र्य शब्द इस बात की व्यंजना करता है कि समीक्षक को

---

१ *'Poetry is everywhere the evolutionary product of national condition and that the Criteria for judging it should be sought in that fact rather than in abstract and universal canons.'*— Herder (*translated by Moulton*)

२ नाट्य-शास्त्र भरत

उदात्त चरित्र का होनाचाहिए क्योंकि उदात्त चरित्र के अभाव में वह जीवन की उदात्तता तथा भव्यता का पूर्ण आस्वादन या मूल्यांकन नहीं कर सकता तो फिर वह साहित्य को उदात्त या भव्य बनाने का मार्ग-प्रदर्शन कैसे करेगा ? इससे समीक्षा के सम्बन्ध में यह तात्पर्य निकला कि समीक्षा मनुष्य के स्वभाव का ही निदर्शन नहीं करती वरन् उसके आदर्शों[1] की भी प्रतिष्ठा करती है। निर्व्यसन शब्द का अभिप्राय यहाँ अभिरुचि से है अर्थात् समीक्षक को काव्य अथवा जीवन के किसी एक विशेष पक्ष, स्वरूप, तत्त्व से विशेष रुचि नहीं रखनी चाहिए अन्यथा वह जीवन तथा साहित्य के अन्य पक्षों, स्वरूपों, तत्त्वों से समरसता स्थापित नहीं कर सकता। वह जीवन तथा साहित्य में किसी एक अंग, पक्ष, तत्त्व, या स्वरूप को आवश्यकता से अधिक महत्त्व देने लगेगा। निष्पक्षपात का अर्थ है सब प्रकार के पूर्वग्रहों से रहित होना। पूर्वग्रह से रहित हुए बिना समीक्षक जीवन अथवा साहित्य का चतुरस्र सौन्दर्यान्वेषण नहीं कर सकता, साहित्य तथा जीवन के सुन्दरतम सन्देशों का प्रसार नहीं कर सकता ; तत्कालीन साहित्य अथवा जीवन के बाधक तथा साधक तत्त्वों के विषय में समुचित सम्मति नहीं दे सकता। निष्पक्ष-पात[2] का तात्पर्य यहाँ संस्कृति की पूर्णता से भी है। रसास्वादन-क्षमता का तात्पर्य है समीक्ष्य भाव, विचार अथवा सिद्धान्त से सम-रसता स्थापित करने की क्षमता जिससे वह उनका ठीक ठीक मूल्यांकन कर सके। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर अनुमान, प्रमाण द्वारा भारतीय सैद्धान्तिक समीक्षा का कार्य निम्नांकित ढंग से प्रस्तुत किया जा सकता है। समीक्षा, समीक्ष्य विषय का पूर्ण ज्ञान प्रस्तुत करती है, जीवन तथा साहित्य को उदात्त बनाती है, अपूर्णता से पूर्णता की ओर ले जाती है, जीवन तथा साहित्य के विविध मूल्यों, स्वरूपों, एवं साधनों

---

१ समीक्षा, मानव के विशिष्टादर्शों की अनुगामिनी क्रिया है—अनुवादक प्रभाकर माचवे—हेगेल

२ *"Critc will be disinterested in the sense that he will persue only the ends of cultural perfection."* —Arnold

में उचित सामंजस्य स्थापित करती हैं, जिससे कोई मूल्य, स्वरूप या पक्ष अतिरेकता को न प्राप्त हो; जीवन या साहित्य का कोई अवयव उसके पूर्ण स्वरूप पर अनुशासन न करें; समीक्षा, जीवन तथा साहित्य का चतुरस्र सौन्दर्यान्वेषण करती है, संस्कृति में पूर्णता लाने का प्रयत्न करती है, जीवन तथा साहित्य के नए पुराने सभी सिद्धान्तों, नियमों, उपनियमों, एवं मान्यताओं का ठीक ठीक मूल्यांकन करती है।

सैद्धान्तिक समीक्षा की कुछ और स्पष्टता के लिए तद्विषयक कुछ अंग्रेजी साहित्य की परिभाषाओं पर विचार करना अप्रासंगिक न होगा। अंग्रेजी साहित्य के आधुनिक समीक्षक मोल्टन ने सैद्धान्तिक समीक्षा की परिभाषा यद्यपि बहुत ही सामान्य ढंग से की है किन्तु सैद्धान्तिक समीक्षा की व्याप्ति के लिए उसे जान लेना आवश्यक है। उसे मोल्टन के ही शब्दों में देखिए, (Literary Criticism, in the most elastic meaning of the term, is literature discussing itself. It extends from the formal treatise to the floating criticism of everyday Conversation on literary topics'. अर्थात् साहित्य-समीक्षा अपने प्रगतिशील अर्थ में वह साहित्य है जिसमें साहित्य सम्बन्धी विवेचन, विश्लेषण, एवं विचार रहते हैं। इसका विस्तार साहित्य विषय पर की हुई असंबद्ध दैनिक बातचीत से लेकर नियमबद्ध प्रबंध तक है। मोल्टन की उपर्युक्त परिभाषा में सैद्धान्तिक समीक्षा की व्याप्ति बहिरंग दृष्टि से ही अधिक बताई गई है। उसकी अंतरंग व्याप्ति को राबर्टसन ने अपने समीक्षा सम्बन्धी निबंधों में बहुत स्पष्ट किया है। उसकी दृष्टि में "समीक्षा की प्रक्रिया के भीतर मानव ज्ञान के सभी क्षेत्रों का प्रवेश हो जाता है।" इस प्रकार समीक्षा की व्याप्ति के भीतर

---

१ *"Criticism is a process that goes on over all field of human knowledge."* *Essays on Criticism* —**Robertson**

मानव ज्ञान संबंधी सभी विषय आ जाते हैं। सैद्धान्तिक समीक्षा की इस व्याप्ति का उल्लेख राजशेखर की साहित्यविद्या के प्रसंग में हो चुका है जिसमें यह बताया गया है कि समीक्षा में दर्शन, राजनीति, अर्थशास्त्र, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद का सार भरा रहता है। समीक्षा का संबंध विभिन्न विषयों से स्पष्ट करने के लिए एक और उदाहरण देना अप्रासंगिक न होगा 'Criticism resolves itself into an analysis of the social relationships exhibited in art, description of schools of art, tracing the sources and developments of these, examination and influences of religious, political, economic, philosophical institutions upon the art, comparison of Cultural institutions to mark general cultural traits, which ran through the period and characterise the period' (Bases of Criticism) अर्थात् समीक्षा, कला अथवा साहित्य के भीतर स्थान पानेवाले सामाजिक सम्बन्धों का विवेचन, विश्लेषण एवं निर्धारण करती है, कला अथवा साहित्य के विभिन्न सम्प्रदायों का वर्णन उनके मूलस्रोत एवं विकास के साथ करती है, कला अथवा साहित्य के ऊपर धर्म, राजनीति, अर्थशास्त्र, दर्शनशास्त्र के विभिन्न सम्प्रदायों के पड़े हुए प्रभावों की परीक्षा करती है तथा उस युग में प्रचलित एवं उसकी विशिष्टता निर्दिष्ट करनेवाली संस्कृति की विशेषताओं के निरूपण के लिए संस्कृति के विभिन्न सम्प्रदायों की तुलना करती है। इस प्रकार यह बात स्पष्ट हो गई कि सैद्धान्तिक समीक्षा में साहित्य अथवा कला के विभिन्न सम्प्रदायों का विवेचन ही, उनके विकास के इतिहास के साथ नहीं रहता, वरन् उसमें, अन्तर्योग रूप में साहित्य से सम्बन्ध रखने-वाले अथवा उस पर प्रभाव डालने वाले विभिन्न विषयों—दर्शन राजनीति, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, मानवशास्त्र, मनोविज्ञान, धर्म, संस्कृति आदि के विभिन्न सम्प्रदायों का विवेचन अनुबन्ध रूप में रहता है।

स्काट और गेली की दृष्टि में सैद्धान्तिक समीक्षा साहित्य को समझने का बौद्धिक[१] प्रयत्न है। साहित्य के भीतर जीवन तथा कला दोनों के तत्त्व निहित रहते हैं; अतएव सैद्धान्तिक समीक्षा साहित्य[२] के विश्लेषण द्वारा जीवन तथा कला दोनों के नियमों तथा तथ्यों को विवृत करती है। सैद्धान्तिक "समीक्षा के सिद्धान्त[३], कला तथा जीवन की दृष्टि से वहीं तक न्यायोचित तथा प्रामाणिक माने जायेंगे जहाँ तक वे मानव स्वभाव के आधार पर निर्मित होंगे। इस दृष्टि से सैद्धान्तिक समीक्षा एक व्यवस्थित विज्ञान है जिसका अनुशासन न्यायशील एवं युक्तियुक्त सिद्धान्तों से होता है।" इस प्रकार समीक्षा केत्र भीतर मूल्याङ्कन अथवा निर्णय का समावेश हो जाता है जो कि मानव स्वभाव तथा कला के स्थायी संबंधों के आधार के ऊपर स्थित रहता है; जैसा कि सायमन्ड (Symond) का कहना है "Criticism implies a judgement based on what he calls the abiding relation between art and human nature" ड्रायडन[४] भी सैद्धान्तिक समीक्षा को निर्णय के मानदण्ड के रूप में स्वीकार करता है, किन्तु

१ *'Criticism is a form of intellectual effort to understand literature'*
—Methods and Materials of Criticism.

२ *'Criticism discloses the laws and facts of art and life as those final realities are revealed through literature.'*
Mabie—Significance of Modern Criticism.

३ *'It is a regular science governed by just principles These principles are valied in so far as they agree with human nature'—Kames.*

४ *Drydon thought of it (Criticism) as a standard of Judgement whose purpose is to enable to observe those excellencies which should delight a reasonable reader'*

५ *The aim of Criticism is to regulate intellectual pleasures to free literature from the Tyranny of the notion that there is no disputing about taste to constitute an exact science 'intent rather on guiding than gratiying the mind'.*

इसका उद्देश्य कवियों को किसी नाप-जोख के बटखरे पर तौलना नहीं मानता; कवियों को श्रेणीबद्ध करना अथवा प्रथम, द्वितीय, तृतीय श्रेणी में बिठाना अथवा लाला भगवानदीन या मिश्रबन्धुओं की तरह किसी कवि को घटकर या बढ़कर बताना नहीं मानता; वरन् इसका प्रयोजन काव्य की उन गुणोत्कर्षताओं तथा रूप-संपदाओं का निरीक्षण करना मानता है; जो विवेकशील पाठक को आनन्दित कर सकें। निजार्ड की दृष्टि में सैद्धान्तिक समीक्षा का ध्येय साहित्य के बौद्धिक आनन्द को व्यवस्थित करने का विधान बनाना है; तथा साहित्य को रूढ़ियों एवं परम्पराओं के स्थायित्व के शोषण से मुक्त करना है; इस प्रकार एक ऐसे यथार्थ विज्ञान का निर्माण करना है जो समीक्षकों की तृप्ति के स्थान पर कवियों, पाठकों तथा रसिकों का मार्ग-प्रदर्शन कर सके।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर निम्नांकित बातें उपसंहार रूप में सैद्धान्तिक समीक्षा के विषय में कही जा सकती हैं। सैद्धान्तिक समीक्षा, मानव की जीवन तथा साहित्य विषयक जिज्ञासा का कलात्मक परिणाम है। वह एक स्वतंत्र कला है जिसमें जीवन तथा साहित्य के मूल्यों का पुनर्निर्माण होता है; समीक्षा एक व्यवस्थित यथार्थ-विज्ञान है जिसमें जीवन तथा साहित्य को सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि से समझने का बौद्धिक एवं तार्किक प्रयत्न किया जाता है; समीक्षा का संबंध साहित्य या सौन्दर्य शास्त्र से ही नहीं वरन् अनुबंध रूप में मानव जीवन के ज्ञान-संबंधी सभी विषयों से है, उसमें जीवन की सभी विद्याओं का सार भरा है; वह जीवन की प्रगति एवं लक्ष्यग्रंथों के परिवर्तन के साथ साथ बदलती रहती है, उनके साथ ही प्रगति के पथ पर चलती रहती है; उसे शृंखला, बंधन या दासता स्वीकार नहीं, वह साहित्य के मूल्यांकन का मानदण्ड तत्कालीन जीवन तथा साहित्य के आधार पर बनाती है; किसी निगूढ़ सत्ता अथवा परंपरागत पद्धति के आधार पर नहीं।

समीक्षा साहित्य तथा जीवन की नियामक तथा निर्मिति दोनों है, वह साहित्य तथा जीवन दोनों के आधार पर बनती है इसलिए दोनों की

निर्मिति है। वह दोनों के सौन्दर्य-निरूपण एवं सौन्दर्यानुशासन की विधियों, पद्धतियों, प्रक्रियाओं आदि को समझाती है इसलिए वह दोनों की नियामक है।

किसी विशेष युग में जीवन तथा साहित्य में उनके किसी एक मूल्य की अधिक आवश्यकता एवं माँग होने के कारण उस युग की सैद्धान्तिक समीक्षा में उसको विशेष महत्ता मिलती है। इस प्रकार उसका आधार सामयिक होता है। साहित्य एवं जीवन को भव्य तथा उदात्त बनाने के मार्ग-प्रदर्शन के कारण तथा उनके विशिष्टादर्शों की अनुगामिनी क्रिया होने के कारण इसका आधार दार्शनिक है; साहित्य के भीतर स्थान पानेवाले सामाजिक संबंधों, अनुभूतियों, आदर्शों आदि के विवेचन, विश्लेषण एवं निर्धारण के कारण इसका आधार सामाजिक है; भिन्न-भिन्न युगों के साहित्य के ऊपर पड़े हुए सांस्कृतिक प्रभावों के विश्लेषण के कारण एवं किसी विशेष युग में प्रचलित तथा उसकी विशिष्टता निर्दिष्ट करने वाली संस्कृति के गुणों के विवेचन के कारण इसका आधार सांस्कृतिक है। सैद्धान्तिक समीक्षा के सिद्धान्त वहीं तक न्याय्य एवं प्रामाणिक माने जाते हैं जहाँ तक वे मानव स्वभाव के आधार पर होते हैं, दूसरे यह कवि के मन को समझने की प्रक्रिया बतलाती है; इसलिए इसका आधार मनोवैज्ञानिक है; आर्थिक परिस्थिति की भिन्नता के कारण जीवन तथा साहित्य के नियम, नीति, रीति, पद्धति, आदर्श, मूल्य आदि किस प्रकार परिवर्तित होते हैं इस पर विचार करने के कारण इसका आधार आर्थिक है।

सैद्धान्तिक समीक्षा इस बात का विवेचन करती है कि सौन्दर्य वस्तुनिष्ठ है या व्यक्तिनिष्ठ, सौन्दर्य ज्ञानस्वरूप है या आनन्दस्वरूप, सौन्दर्य और आनन्द की उत्पत्ति एक है अथवा अलग अलग, साहित्यानन्दविशुद्ध तथा निरपेक्ष वस्तु है अथवा सापेक्ष; प्रकृतिनिर्मित सौन्दर्य तथा कलानिर्मित-सौन्दर्य में क्या अन्तर होता है; सौन्दर्य में भव्यता तथा उदात्तता कैसे आती है, सौन्दर्य तथा लोकरुचि का क्या संबंध है; कर्त्ता के आनन्द, पाठक के आनन्द तथा समीक्षक के आनन्द

में क्या अन्तर होता है; सौन्दर्य के विभिन्न तत्त्वों—द्रव्य, रूप, आकार संयोजना, एकरूपता, विविधता, संगति, संवादित्व, समप्रमाणता, विरोध, प्रमाणबद्धता, स्वार्थनिरपेक्षता, सूचकता, नवनवोन्मेषशालीनता, संयम, सादगी, मर्यादात्तता, औचित्य आदि पर प्रकाश डालने के कारण इसका आधार सौन्दर्य संबंधी है। साहित्य एवं जीवन को तार्किक एवं बौद्धिक ढंग से समझाने के कारण इसका आधार वैज्ञानिक है, 'रामादिवदाचरितव्यम् न तु रावणादिवत्' को साध्य मानकर चलने के कारण इसका आधार नैतिक है।

सैद्धान्तिक समीक्षा का आदर्श समीक्ष्य विषय का पूर्ण ज्ञान प्रस्तुत करना है, जीवन तथा साहित्य को उदात्त बनाना है, उन्हें अपूर्णता से पूर्णता की ओर ले जाना है, जीवन के विविध मूल्यों, स्वरूपों एवं साधनों में उचित सामंजस्य स्थापित करना है, जीवन तथा साहित्य का चतुरस्र सौन्दर्यान्वेषण करना है, जीवन तथा साहित्य दोनों के नए पुराने सभी सिद्धान्तों, नियमों, उपनियमों तथा मान्यताओं का ठीक ठीक मूल्यांकन करना है, साहित्य तथा समाज के बाधक तत्त्वों को मिटाने का संकल्प करना है एवं उसके साधक तत्त्वों का प्रचार करना है, साहित्य तथा जीवन को अधिक से अधिक सामाजिक, राष्ट्रीय एवं विश्वजनीन बनाना है। उक्त आदर्शों की प्राप्ति में समीक्षा या समीक्षक के सामने निम्नांकित समस्याएँ उपस्थित होती हैं जिनको दूर करना विद्वज्जन असंभव नहीं तो कठिन अवश्य मानते हैं; जैसे, समीक्षक का पूर्वग्रह से रहित होना, विषय का पूर्ण पंडित होना, ज्ञान के साथ साथ चारित्र्य की प्राप्ति, अभिरुचि को अधिक से अधिक सामाजिक बनाने के लिए निर्व्यसन होना, जीवन तथा साहित्य के सब प्रकार के मूल्यों का सम्मान करने के लिए पक्षपात रहित होना, समीक्ष्य विषय का ठीक-ठीक आस्वादन करते हुए उस पर समुचित निर्णय देना इत्यादि।

समीक्षा की उक्त समस्याओं को दूर कर उपर्युक्त आदर्शों की प्राप्ति के लिए समीक्षक को निम्नांकित प्रक्रिया का अनुगमन करना पड़ता है। सर्व प्रथम उसे अपनी मानवीय प्रकृति की रक्षा में सतर्क रहना पड़ता

है। इसके पश्चात् समीक्षा-प्रक्रिया की द्वितीय अवस्था में समीक्षक को अपनी मनःप्रवृत्ति को किसी विशिष्ट ध्येय की ओर तन्मय करना पड़ता है, तृतीय अवस्था में उसे, लोकपर्यवेक्षण, काव्यानुशीलन, शास्त्राध्ययन तथा स्वतंत्र चिन्तन से अपनी रुचि को सुसंस्कृत बनाना पड़ता है, चतुर्थ अवस्था में समीक्ष्य विषय के साथ आत्मसात् होने या समरसता प्राप्त करने की शक्ति उपार्जित करनी पड़ती है, इसके पश्चात् समीक्ष्य-विषय के पूर्ण प्रत्यभिज्ञान में वह समर्थ होता है, तदनन्तर उसके गुण-दोष, उचित-अनुचित-तत्त्वों पर बौद्धिक एवं तार्किक ढंग से विचार करता है। अंतिम अवस्था अभिव्यक्ति की है जिसके पूर्व वह जीवन तथा साहित्य को पूर्ण बनानेवाले, सुन्दर बनानेवाले एवं आनन्द की ओर ले जानेवाले तत्त्वों को पहचानकर उनको प्रस्तुत करने की प्रेरणा से भर जाता है। इस प्रकार सैद्धान्तिक समीक्षा अपनी उक्त प्रक्रिया को पार करने के पश्चात् कवि, पाठक तथा समीक्षक तीनों को ठीक मार्ग पर चलने के लिए आदर्श दृष्टि देती है; कवि अथवा लेखक को विभिन्न प्रकार के काव्यों को रचने की विधि तथा पद्धति समझाती है एवं उनके लिए आवश्यक तथ्यों तथा साधनों को विवक्षित करती है। कवि तथा लेखक को उनके व्यक्तित्व-निर्माण के लिए उपयोगी उपादानों, साधनों, एवं मार्गों को स्पष्ट करती है, साहित्य के प्रयोजनों, हेतुओं, साधनों, तत्त्वों एवं आदर्शों को समझाती है, साहित्य के विभिन्न आधारों—मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक, नैतिक, सामाजिक, आर्थिक आदि-को स्पष्ट करती है, साहित्य के राष्ट्रीय, मानवीय, सामयिक एवं सांस्कृतिक तथ्यों की व्याख्या करती है। कवि, विश्व को सरस, स्निग्ध, उदार तथा कोमल कैसे बनाये, समाज के अभाव, अन्याय, अत्याचार, रोग, शोक, दुःख आदि का चित्रण कैसे करे, मनुष्य जाति को दुर्गति से बचाने का संकल्प कैसे करे आदि बातों की शिक्षा देती है। पाठकों को साहित्य तथा जीवन का महत्त्व समझाती है, उचित रूप से उचित मात्रा में साहित्यानंद लेने का पथ बतलाती है, रुचि को परिमार्जित करती है, भावों तथा विचारों को

साहित्य द्वारा उदात्त बनाने का मार्ग बतलाती है, साहित्य से जीवन के आदर्श के लिए बल प्राप्त करने का पथ आलोकित करती है, समाज में सफल, आनन्दपूर्ण एवं कलापूर्ण जीवन बिताने कासम्बल वे साहित्य से कैसे प्राप्त करें, इसकी शिक्षा देती है।

सैद्धान्तिक समीक्षा अपने व्यापक रूप में किसी भी वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति, सिद्धान्त, नियम, ग्रंथ आदि के निरीक्षण, विश्लेषण, नियम-प्रतिष्ठापन, निर्धारण आदि की वृत्ति में छिपी हुई है; जीवन के सद्-सत्, शुभाशुभ, उचितानुचित, नीति-अनीति, सुन्दर-असुन्दर के विवेचन, निराकरण, निर्णय में उसी की झलक दिखाई पड़ती है; भौतिक, नैतिक, सामाजिक, राजनीतिक, शैक्षणिक, आदि जीवन के नवीन सिद्धान्तों, नियमों, उपनियमों, पद्धतियों आदि के आविष्कार में उसी की शक्ति काम करती है; व्यष्टितथा समष्टि के संयम-नियम संस्कार-सुधार आदि में उसी की प्रेरणा है; नई-पुरानी, पूर्वी-पश्चिमी, भौतिक-आध्यात्मिक सभी तरह की विचार-धाराओं, वादों, संप्रदायों एवं दर्शनों को समझने, आस्वादन करने एवं मूल्याकंन करने में उसीकी प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। सुधारक बनने, नेता बनने, समीक्षक बनने, धर्मप्रणेता बनने एवं शास्त्रनिर्माता बनने की चेष्टाओं में उसी का व्यापक स्वरूप दिखाई पड़ता है।

व्यावहारिक समीक्षा

व्यापक अर्थ में सारा साहित्य एक आलोचना है। इसी अर्थ में मैथ्यू आर्नोल्ड ने काव्य को जीवन की आलोचना कहा है। कोई[१] कवि या लेखक अर्थभूमि के ज्ञान बिना, जीवन की धारणा बनाये बिना, जगत के सत् तथा असत् दोनों पत्तों को समझे बिना, जीवन-तथ्यों या सिद्धान्तों का मूल्यांकन किये बिना, सत् साहित्य की रचना नहीं कर सकता।

संकुचित अर्थ में व्यावहारिक समीत्ता का प्रयोग दोष-दर्शन अथवा छिद्रान्वेषण के लिए किया जाता है। व्यावहारिक समीत्ता के विशद रूप से अपरिचित लोग उसका प्रयोग किसी वस्तु या कृति के आस्वादन (Appreciation) प्रशंसा या केवल वैशिष्ट्य-प्रदर्शन के लिए कर देते हैं।

उच्छिन्न अर्थ में व्यावहारिक समीत्ता का प्रयोग पुस्तक-परिचय, गुण-दोष-उल्लेख, निर्णय या सम्मति प्रकाशन, किसी कवि या कृति विषयक वाद-विवाद आदि के लिए देखा जाता है।

साधारण अर्थ में समीत्ता का प्रयोग भारतवर्ष में प्राचीन काल में मीमांसा, व्याख्या, टीका तथा भाष्यों के रूप में मिलता है। यूरोप में इसका प्रयोग दर्शन, राजनीति, व्याकरण, भाषाविज्ञान, समाजशास्त्र, इतिहास किसी भी विषय पर साङ्गोपाङ्ग दृष्टि से लिखे हुए प्रबन्ध के लिए हुआ है।

विशिष्ट अर्थ में व्यावहारिक समीत्ता की प्रतिष्ठा दसवीं शताब्दी में राजशेखर की काव्य-मीमांसा में मिलती है। "अन्तर्भाष्यं समीत्ता।

---

१ *"The author, painter, producer and every other creator is at a stage of creation, a critic himself, when he selects, constructs and synthesises the broken threads of his imaginative material'*

(*The Role of Critic*)—Somenath Dhar

अवान्तरार्थ विच्छेदश्च सा।" तात्पर्य यह हुआ कि किसी विशेष रचना में किन मुख्य बातों का ध्यान रखा गया है, उसका विवेचन किया जाय; साथ ही उनके गौण अर्थों की भी व्याख्या हो; अर्थात् समीक्षा में किसी कृति के प्रधान, गौण, अन्तः, बाह्य सभी अर्थों का विवेचन रहता है। इसके पश्चात् अभिनव गुप्त के ध्वन्यालोक लोचन के एक श्लोक से पता चलता है कि आलोचना, टीका से विशद एवं व्यापक अर्थ रखती थी, इसलिए उन्होंने ध्वन्यालोक की टीका रहते हुए भी, उससे पाठकों की जिज्ञासा-तृप्ति होते न देखकर ध्वन्यालोकलोचन की रचना की :—

किं लोचनं बिना लोको भाति चन्द्रिकयाऽपिहि।
तेन अभिनवगुप्तोऽत्र लोचनोन्मीलनं व्यधात्।

'चन्द्रिका' (ध्वन्यालोक पर लिखित टीका) के रहते हुए भी लोचन के बिना लोक या ध्वन्यालोक का ज्ञान असम्भव है; इसलिए प्रस्तुत रचना (ध्वन्यालोक लोचन) में अभिनव गुप्त ने पाठकों की आखें खोलने का प्रयत्न किया है। तात्पर्य यह कि टीका के रहते हुए भी आलोचना के बिना काम नहीं चलता, जन साधारण की आँखें नहीं खुलतीं। अभिनव गुप्त ने स्वयं अपने ग्रन्थ के प्रारंभ में यह स्पष्ट कर दिया है कि मैं अपनी आलोचना द्वारा न्यूनाधिक व्याख्या करता हुआ काव्यालोक को जनसाधारण के लिए स्पष्ट कर रहा हूँ :—

"यत्किञ्चिदप्यनुरणन्स्फुटयामि काव्यालोकं
स्वलोचननियोजनया जनस्य।"

[ध्वन्यालोक लोचन पृष्ठ २]

इन उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि भारतीय दृष्टि से आलोचना, आलोचक द्वारा पाठक को दिया हुआ वह ज्ञान है जिसकी सहायता से वह आलोचित रचना का पूर्ण ज्ञान या उचित अनुभावन कर सके। क्रिटिज़्म (Criticism) शब्द ग्रीक धातु क्रीनियन (Krinein) से बना है जिसका अर्थ है निर्णय देना। समीक्षा के लिए फारसी शब्द तनकीद है जिसका अर्थ है ग़ौर से देखना।

पाश्चात्य साहित्य में व्यावहारिक समीक्षा का अर्थ रचना के विषय, सौन्दर्य-सिद्धान्त, जीवन-दर्शन, युग-परिस्थिति, रचनाकार की जीवनी, मस्तिष्क आदि की दृष्टि से उसके गुण-दोष, विविध वैशिष्ट्य, मूल्य, सन्देश, प्रभाव, प्रसार, मौलिकता, उपयोगिता आदि का सम्यक् विवेचन करना है।

व्यावहारिक समीक्षा के स्वरूप की स्पष्टता के लिए उसकी कुछ परिभाषाओं पर विचार करना आवश्यक है:—कृष्णविहारी मिश्र के शब्दों में किसी ग्रन्थ की समालोचना करते समय तद्गत विषय का प्रत्येक ओर से निरीक्षण होना चाहिए। ग्रन्थ का गौण विषय क्या है तथा प्रयोजनीय क्या है? वास्तविक वर्णन क्या है तथा भराव क्या है? आदि बातों का वैज्ञानिक तथा विस्तृत उत्तर देना चाहिए।

शुक्लजी की दृष्टि में समीक्षा अच्छी तरह देखना और विचार करना है। क्या देखना और विचार करना है यह परिभाषा करते समय शुक्लजी ने स्पष्ट नहीं बतलाया। उनकी व्यावहारिक समीक्षा से विदित होता है कि वे कवि के जीवन-दर्शन तथा रचनातंत्र पर विचार करते हुए कृति की रमणीयता तथा मूल्य का हृदयंगम कराने में समीक्षा की सार्थकता मानते हैं।

कान्ट की दृष्टि में सौन्दर्य-तृप्ति जन्य आत्मसुख को सर्वसुख बनाने की आकांक्षा में समीक्षा का बीज छिपा है तो हीगेल के विचार से भौतिक तथा आध्यात्मिक तत्त्वों के समन्वय सूत्र की व्याख्या में समीक्षा का सार भरा है। शापेनहावर के अनुसार वास्तविक समीक्षा कवि की भावात्मक इच्छा की अभिव्यक्ति के समझने में है। मैकडूगल आदिम वृत्तियों के निरोध एवं उदात्तीकरण की प्रवृत्ति को समीक्षा का मूलाधार मानता है। युङ्ग महोदय समीक्षा को चेतन मन की संग्राहक समाधि मानते हैं तो फ्रायड अचेतन या अर्द्धचेतन मन की अभिव्यक्ति के मूल्यांकन को समीक्षा कहते हुए दिखाई पड़ते हैं। गेस्टाल्टपंथी अभाव या अपूर्णता के पूर्ति-प्रयत्न में समीक्षा का आदि बिन्दु मानते हैं तो स्वभाववादी समीक्षा को मानव की एक प्रकार की आचार वृत्ति समझते हैं। थारबर्न समीक्षा को संचयन समाधि कहता है तो क्रोचे सहजानुभूति की

भावात्मक अभिव्यक्ति का बौद्धिक विवेचन। जान ड्यूई समीक्षा का प्रयोजन कलाकार या कला की अनुभूतियों की सामाजिक उपयोगिता, गहराई, विशदता एवं मार्मिकता की व्याख्या में मानता है। वह कला के बहिरंगस्वरूप को अनुभूति की स्वाभाविक देन समझता है। अतः वह कला के स्वरूपों का निर्णय पाठकों के लाभालाभ की दृष्टि से करता है तथा समीक्षा का मूल्य सामाजिक आवश्यकता, राष्ट्रीय अभाव की पूर्ति एवं तात्कालिक समस्याओं के समाधान रूप में मानता है। मार्क्सवादी समीक्षक समीक्षा का मूल्य राष्ट्र के तात्कालिक आर्थिक मूल्यों की कसौटी और समाज की ऐतिहासिक स्थिति के आधार पर निरूपित करते हैं। कला के भीतर वे द्रष्टा से अधिक दृश्य को महत्त्व देते हैं।

हडसन के अनुसार यदि सर्जनात्मक साहित्य, काव्य अथवा कला के विभिन्न रूपों के भीतर जीवन की व्याख्या है; तो समीक्षात्मक साहित्य उस काव्य के विशिष्ट स्वरूप तथा उसके अन्तर्गत निहित जीवन की व्याख्या की व्याख्या है।

एबरक्रोम्बी की दृष्टि में समीक्षा सर्जनात्मक साहित्य तथा आस्वादन से एक विभिन्न वस्तु है जिसका दायित्व साहित्य संबंधी प्रश्नों के बौद्धिक उत्तर देने में निहित है। हैज़लिट के विचारानुसार समीक्षा का काम साहित्यिक कृतियों के विशिष्ट गुणों को पहचानते हुए उनका लक्षण निरूपित करना है। हर्बर्ट रीड के अनुसार साहित्यिक समीक्षा वही है जो साहित्यिक कृतियों की सर्जना का कारण कवि के मानसिक जगत् तथा समाज के आर्थिक ढाँचे में ढूँढ़ती है। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक समीक्षक रिचर्ड्स के विचार में समीक्षा के भीतर सहानुभूति पूर्ण दृष्टि से काव्य का अध्ययन, विवेचन तथा तटस्थ वृत्ति से कवि के मानसिक जगत का विश्लेषण आवश्यक है। स्कॉट और गेली की सम्मति में समीक्षा जनता की इच्छाओं, भावनाओं, विचारों, आदर्शों को व्यक्त करती हुई उसके अन्तरङ्ग प्रचार-मंत्री का काम करती है।

आर्नोल्ड के शब्दों में समीक्षा किसी कवि या कृति की महत्वपूर्ण एवं अच्छी बातों के समझने एवं प्रचार करने का तटस्थ प्रयत्न है।

एडवर्ड पारकर के मतानुसार समीक्षा किसी कवि या कृति पर दिये हुए विचारपूर्ण निर्णय का नाम है। जार्ज इलियट समीक्षा का मानदण्ड लेखक की आध्यात्मिक देन मानता है तो टी० यस० इलियट समीक्षा के भीतर बौद्धिक तत्त्व के समर्थन को सारभूत तत्त्व स्वीकार करता है।

समीक्षा की उपर्युक्त परिभाषाएँ भिन्न भिन्न साहित्यों, युगों तथा व्यक्तियों द्वारा भिन्न भिन्न प्रकार से की गई हैं। कुछ परिभाषाएँ वैयक्तिक हैं तो कुछ सामयिक; कुछ साम्प्रदायिक हैं तो कुछ रूढ़िग्रस्त। किसी में अतिव्याप्ति दोष है तो किसी में अव्याप्ति। किसी में स्वरूप-कथन है तो किसी में लक्षणकथन। किसी में समीक्षक का कर्तव्य बताया गया है तो किसी में उसका दायित्व। किसी की सीमा काव्य के गुण-दोष विवेचन से बाँधी गई है तो किसी की काव्य के निर्णय से। किसी में कवि के मानसिक तत्त्व के उद्घाटन का प्रयास है तो किसी में काव्य के जीवनपक्ष के विश्लेषण का प्रयत्न। किसी में काव्य के रचना-तंत्रों तथा बहिरंग स्वरूप के निर्णय पर बल है तो किसी में जीवन-तत्त्व के प्रचार के ऊपर। समीक्षा की उपर्युक्त कतिपय परिभाषाओं में प्रायः साहित्य या जीवन के किसी एक तत्त्व द्वारा उसके सम्पूर्ण स्वरूप को अनुशासित करने का प्रयत्न किया गया है तो कुछ में जीवन या साहित्य के किसी एक तत्त्व को सर्व मानने का प्रयास। समीक्षा की मनोवैज्ञानिक परिभाषाओं में कवि की मस्तिष्क रचना तथा उसकी साहित्यगत अभिव्यक्ति के विवेचन पर अधिक ध्यान है तो दार्शनिक परिभाषाओं में कवि का मस्तिष्कतत्त्व तथा रचना का बहिरंग पक्ष उपेक्षित। ड्यूई की समाजवादी परिभाषा में समाज की अनुभूतियों, आवश्यकताओं तथा अभावों पर इतना बल है कि अन्य तत्त्व छूट गये हैं। मार्क्सवादी समीक्षा के स्वरूपों में जीवन के आर्थिक मूल्यों पर इतना अधिक ध्यान है कि अन्य तत्त्व पीछे पड़ गये हैं। जर्मनी की आधुनिक समीक्षा-पद्धति युग तत्त्व की ओर ही केन्द्रित है; चिरन्तन सत्यों तथा आदर्शों के ऊपर उसकी दृष्टि नहीं है। निर्णयवादी, परम्परावादी, प्रभाववादी तथा विवेचनात्मक

समीक्षाओं में समीक्षक के किसी एक दायित्त्व-सम्पादन की ओर दृष्टि रहती है। वस्तुत: समीक्षा का सच्चा स्वरूप तभी प्रकट हो सकता है जब समीक्षक की दृष्टि कवि के मस्तिष्क पक्ष, जीवन-दर्शन तथा रचना तंत्र तीनों के सम्यक् विवेचन के साथ सब के संश्लेषण-तत्त्व की ओर भी सम्यक् प्रकार से रहे, जब वह अपनी समीक्षा में, पाठक, साहित्य, कवि तथा जीवन सब के प्रति अपने दायित्व-निर्वाह में प्रयत्नशील हो; जब वह प्रेरणा, निरीक्षण, आस्वादन, विश्लेषण, विभाजन, सिद्धान्त-निरूपण, निर्णय आदि सभी समीक्षा-स्थितियों को पार करते हुए अपनी आलोचना लिखने में समर्थ हो, जब वह कृतिकार की कारयित्री शक्ति, व्यक्तित्व, जीवन-दर्शन, काव्यपद्धति—सबके वैशिष्ट्य-निरूपण एवं मूल्याङ्कन में सफल हो, जब उसकी समीक्षा लोकमत के दिग्दर्शन, लेखक के मार्गप्रदर्शन, एवं साहित्य के सत्स्वरूपों के संरक्षण में तत्पर हो।

व्यावहारिक समीक्षा की स्पष्टता के लिए उसकी प्रक्रिया पर भी विचार कर लेना चाहिए। व्यावहारिक समीक्षा एक प्रकार की मौलिक चिन्तन-प्रक्रिया है। अत: उसके भीतर स्वतंत्र चिन्तन की प्रक्रिया की सभी स्थितियों का सन्निवेश स्वाभाविक है। चिन्तन, विचार-निरूपण की एक मानसिक प्रक्रिया है, जो कभी, व्यक्त वस्तु, घटना, मूर्ति, रूप, व्यक्ति की सहायता से घटित होती है और कभी कल्पना द्वारा; किन्तु कल्पना लोक में भी कोई न कोई वस्तु ही विद्यमान रहती है। समीक्षा की चिन्तन-प्रक्रिया में मन किसी कवि या कृति के अवलम्बन से भाषा की सहायता द्वारा विचार निरूपित करता है; जैसे चिन्तन में कोई न कोई समस्या सन्निविष्ट रहती है, उसी के समाधान के प्रयत्न में चिन्तक अपने चिन्तन में लीन होता है, तद्वत् समीक्षक के सामने भी कोई न कोई समस्या उपस्थित रहती है—चाहे उसका सम्बन्ध पूर्ण कवि या कृति से हो अथवा उसके किसी अंश विशेष से। जैसे तार्किक चिन्तन में आगमन और निगमन दोनों पद्धतियों का समावेश रहता है उसी प्रकार वैज्ञानिक व्यावहारिक समीक्षाओं में भी उक्त दोनों

पद्धतियों का समन्वय रहता है। तार्किक चिन्तन में आगमन पद्धति का लक्ष्य किसी विशिष्ट वस्तु या तत्त्व के विश्लेषण द्वारा सामान्य सिद्धान्त-निरूपण की ओर रहता है, निगमन पद्धति उस सामान्य सिद्धान्त की परीक्षा या प्रयोग किसी विशिष्ट वस्तु पर या उसी वस्तु पर करती है। व्यावहारिक समीक्षा में समीक्षक आगमन पद्धति का अनुगमन करते हुए किसी विशिष्ट वस्तु के विश्लेषण द्वारा सामान्य सिद्धान्त का निरूपण करता है, तदनन्तर उन्हीं सामान्य सिद्धान्तों की कसौटी पर उस कृति की परीक्षा करके उसके गुण-दोष का निराकरण करता है। इस प्रकार विश्लेषण तथा संश्लेषण दोनों प्रणालियों का समावेश व्यावहारिक समीक्षा में हो जाता है। आगमन पद्धति, अनुभूति के अन्तर्गत आये हुए किसी विशिष्ट पदार्थ के निरीक्षण से आरम्भ होकर सिद्धान्त-निरूपण में समाप्त होती है। इस बीच में मन की निम्नाङ्कित अवस्थाएँ आती हैं—व्याख्या, विश्लेषण, वर्गीकरण, तुलना, प्रतिज्ञा-निरूपण, निगमनपद्धति द्वारा प्रतिज्ञा का प्रयोग, सिद्धान्त स्थापन। निरीक्षण होने पर भी पूर्वज्ञान के बिना व्याख्या नहीं हो सकती। अतः पूर्वज्ञान (Apperception) की अवस्था भी इसमें आ जाती है। किसी कृति का निरीक्षण, समीक्षक किसी प्रेरणा या विशिष्ट ध्येय अथवा रुचि के कारण करता है। किसी विशिष्ट ध्येय या रुचि के बनने के पूर्व समीक्षक के मन में सभी प्रकार के भावों (Sentiment) का होना आवश्यक है। व्यावहारिक समीक्षा लिखनेवाले समीक्षक के मन में भी आगमन पद्धति की उक्त सभी मानसिक अवस्थाएँ क्रमशः उपस्थित होती हैं। अर्थात् व्यावहारिक समीक्षा लिखनेवाले समीक्षक के मन की प्राथमिक अवस्था है—सब प्रकार के भावों से युक्त रहना (जिसे शास्त्रीय भाषा में सहृदयता कहते हैं) दूसरी अवस्था है—किसी विशिष्ट ध्येय अथवा रुचि से मन का अङ्कित होना। तीसरी अवस्था में वह ग्रन्थ या कृति का निरीक्षण, अध्ययन, अनुशीलन आदि करता है। चौथी अवस्था में पूर्व ज्ञान के आधार पर उसकी व्याख्या करता है, अर्थ लगाता है। पाँचवीं अवस्था में विश्लेषण करता है।

छठी अवस्था में कृति के बहिरंग तथा अंतरंग तत्त्वों का वर्गीकरण होता है। सातवीं अवस्था में कृति के वैशिष्ट्य-निरूपण की स्पष्टता के लिए वह समान तथा विषम कृतियों से तुलना करता है। तदनन्तर वह उस कृति की व्याख्या, विश्लेषण, तुलना आदि के आधार पर सामान्य सिद्धान्तों का निरूपण करता है। सिद्धान्त-निरूपण उस कृति के सभी पक्षों, तत्त्वों, सम्बन्धों तथा अवयवों के आधार पर होता है। प्रामाणिकता के लिए इन सिद्धान्तों की परीक्षा वह अपने तत्सम्बन्धी पूर्व अर्जित ज्ञान अथवा सिद्धान्तों की कसौटी पर करता है। अन्त में अपने इस प्रामाणिक ज्ञान का प्रयोग (application) उस विशिष्ट कृति पर करता हुआ उसके गुण-दोष का निरूपण करके उसका मूल्य निश्चित करता है। निर्णय अथवा मूल्याङ्कन का सम्बन्ध मुख्यतः दो विचारों से है—प्रथम, उस कृति के सौंदर्य सम्बन्धी सामान्य सिद्धान्तों का प्रामाणिक सौन्दर्य-सिद्धान्तों से समर्थन तथा द्वितीय, उस कृति के सभी प्रकार के वैशिष्ट्यों का निरूपण। कहने की आवश्यकता नहीं कि उपर्युक्त मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया से किसी वस्तु या कृति की सभी वास्तविक विशेषताओं का पूर्ण प्रत्यभिज्ञान हो जाता है। इस दृष्टि से उसी समीक्षा को वैज्ञानिकसमीक्षा कहना चाहिए जिसकी प्रक्रिया में उपर्युक्त सभी मानसिक अवस्थाओं का समावेश हो।

यदि समीक्षा कुछ दृष्टियों से विज्ञान है तो वह कतिपय दृष्टियों से कला भी है।[१] समीक्षा कला क्यों है इस पर पहले विचार करना चाहिये। जिस प्रकार कला का मुख्य व्यापार सर्जनात्मक है उसी प्रकार समीक्षा का भी। कला में जीवन की अनुभूतियों, मूल्यों, आदर्शों तथा धारणाओं का निर्माण होता है, तो समीक्षा में[२] कला के भीतर

---

१ *'If criticism in a certain sense is science, it is also as an art'.*
—Saint Beuve

२ *Critic acquires a sort of creative function by producing values latent in work of Art. The critic recreates in the process of judgement what the artist has created* —Bases of Criticism
Gritcism is really creative in the highest sense of the Term.
—Oscar Wilde

To the critic the work of art is simply a suggetion for a new work of his own Poems and Essays—Wilde

निहित जीवन की अनुभूतियों मूल्यों आदि का। कला जीवन के सत्य को भावात्मक प्रक्रिया से जानने का प्रयत्न करती है, तो समीक्षा सत्य का ज्ञान बौद्धिक प्रक्रिया से प्राप्त करती है। कला में सत्य कल्पनात्मक रूप में प्रस्तुत किया जाता है तो समीक्षा में तार्किक ढंग से। कला और समीक्षा दोनों का उद्देश्य एक ही है—जीवन की असलियत समझने का प्रयत्न। कला और समीक्षा दोनों का विषय[१] भी एक ही है—जीवन। यदि कला इसे प्रत्यक्ष जगत से प्राप्त करती है तो समीक्षा पुस्तकों से। समीक्षा[२] के सिद्धान्त भी वही हैं जो कला के। समीक्षा और कला के मूल्य भी सामान्य दृष्टि से एक हैं क्योंकि दोनों का आधार एक है अर्थात् जीवन। कला, जीवन से ग्रहण किये हुए प्रभावों[३] का निर्माण करती है तो, समीक्षा साहित्य से ग्रहण किये हुए प्रभावों का। समीक्षा को कला सिद्ध करने के लिये समीक्षक और कलाकार की कुछ समानताओं पर विचार करना आवश्यक है। समीक्षक कवि का समानधर्मी कहा गया है। समीक्षक अपनी समीक्षा-प्रक्रिया के समय कवि की उत्तेजना, प्रेरणा, भावना, पूर्वज्ञान, कल्पना[४], अनुभूति, निरीक्षण[५], तुलना, सिद्धान्त-स्थापन आदि सभी

---

१ *The subject on which they speak is one.* × × × ×
Poet or writer finds his subject in the external life around him or in same internal life experiences but the critic finds his subject in other men's books in the world literature.(Scott James)

२ *The principles which find expressions in criticism have their root in those that underline the process of creation—Methods and Materials of Criticism) Scot & Gaielly.*

३ *The first (poet) reconstructing impression drawn from life the other reconstructing impressions drawn from literature- Making of literature*

४ *In the imaginative activity Artist & Critic are nearly one—They are travellers all actively following same Traits*

५ *Aesthetic perceptions of the critic must be essentially the same as that for work of art*

मानसिक क्रियाओं का अनुगमन करता है। समीक्षकों को कवि की सारी[१] सामग्री का ज्ञान ही नहीं आवश्यक है वरन् उसके प्रति उसी प्रकार की संवेदनात्मक[२] अनुभूति भी रखनी पड़ती है; कवि की भावनाओं तथा विचारों के प्रति उसी प्रकार की निष्ठा भी रखनी पड़ती है। समीक्षक कवि के श्रम को समझता[३] ही नहीं वरन् उसे पुनर्जीवन प्रदान करता है वह कवि के सर्जनात्मक आनन्द में लय ही नहीं होता वरन् उसकी पुनर्सृष्टि करता है। समीक्षक सहानुभूति तथा आस्वादन वेला में पद-पद[४] पर कवि का अनुसरण करता हुआ उसके व्यक्तित्व से वह समरस ही नहीं होता वरन् उसे पुनर्जन्म प्रदान करता है। आलोचक 'व्युत्पत्ति' में कवि का बिलकुल समानधर्मी होता है किन्तु वह रचनातन्त्र[५] की कला, कवि-शिक्षण तथा अभ्यास से अधिकांश रूप में अनभिज्ञ दिखाई पड़ता है[६]। समीक्षक और कवि दोनों का मुख्य व्यापार पुनर्निमाण है। इन्हीं समानताओं के कारण भारतीय साहित्य के पुराने आचार्यों ने समीक्षक को कवि नाम से अभिहित किया है। भारतीय

---

१ *He must know the raw material upon which the theme is built*

२ *He must have some of the same sensibilities to his ideas.*
—The Critic (Scott James)

३ *The hours of the author's labour are lived again by the Critic, the pleasure of the Critic is renewed*—The Craft of Fiction

४ *The reader (Critic) must therefore become. for his part a novelist × × × × from point to point he follows the writer always looking back to the subject itself in order to understand the logic of the course he persues. He finds that he is creating a design.* (वही) पृ० १७

५ *He (Critic) lacks only Technical skill & Training.*
—The Critic (Scott James)

६ *Creation & Criticism do not represent two distinct things, they are but different phases of the same thing* (सा प्रतिभा च द्विधा-कारयित्री—भावयित्री च ,—राजशेखर

साहित्य शास्त्र में समीक्षक[१] और कवि की शक्ति एक ही जाति की मानी गई है उन दोनों में केवल परिमाण (degree) का अन्तर है। कवि की शक्ति कारयित्री और आलोचक की शक्ति भावयित्री एक ही शक्ति—प्रतिभा के दो स्वरूप हैं। इस दृष्टि से कविता और आलोचना दो अलग वस्तुएँ नहीं हैं वरन् वे एक ही वस्तु के दो भिन्न स्वरूप हैं। वस्तुतः सौन्दर्य-स्वरूप[२] या सौन्दर्य सम्बन्धी विचार या धारणाएँ आलोचकों या दार्शनिकों द्वारा ही उद्भावित होकर समाज में फैलती हैं। कलाकार समाज के वातावरण से उन्हें ग्रहण करता है। समीक्षक[३], साहित्य, समाज तथा संस्कृति के मानदण्ड का प्रतिनिधि माना जाता है। वह प्रतिनिधि होते ही अपनी प्रतिज्ञा या प्रस्तावना को सिद्ध करने का प्रयत्न करता है। केवल तर्क के द्वारा ही वह इस कार्य में सफलता नहीं प्राप्त कर सकता वरन् उसे एक नई कला का अवलम्बन लेना पड़ता है और वह कला—आनन्दकुमार स्वामी के शब्दों में समीक्षा है।

अब, समीक्षा विज्ञान कैसे है, इस पर विचार करना चाहिए। किसी भी वैज्ञानिक समस्या को हल करने में मुख्यतः तीन मानसिक स्थितियाँ आती हैं :—

(१) विषय या समस्या का निरीक्षण, अध्ययन तथा अनुशीलन।
(Observation or the study of the subject matter)

(२) तत्त्वों की व्याख्या-विश्लेषण तथा वर्गीकरण।
Analysis & classification of properties,

---

१ *The genius of poets & critics differ in degree not in kind*
—Anand Kumar Swami

२ *Who provides these nourishing ideas—food for Shakes peare & Words worth or future? Arnold replies—the Critic—it is he who discovers the ideas.*
The conecpt of beauty has been originated by philosopher not by the artist
—Anand Kumar Swami

३ *The Critic as soon as he becomes anexponent, has to prove his case and he can not do this by any process of argument, but only by creating a new work of art—the Criticism.*
Anand Kumar Swami

(३) सिद्धान्त-निरूपण (Systematisation)

ये ही उपर्युक्त मानसिक स्थितियाँ समीक्षात्मक समस्या को हल करने में अथवा समीक्षा प्रक्रिया में भी दिखाई पड़ती हैं। आगमन पद्धति (Inductive method) समीक्षा की एक मात्र वैज्ञानिक पद्धति मानी गई है।

इस प्रकार वैज्ञानिक समीक्षा तथा विज्ञान, प्रक्रिया में समान हैं। समीक्षा किसी कृति या कवि को वास्तविक प्रस्तुत रूप में दिखाने के कारण रचनात्मक विज्ञान (positive science) कही जा सकती है। युग के अनुकूल मानदण्ड निश्चित करने के कारण वह प्रतिमानात्मक विज्ञान (normative science) कही जाती है। विज्ञान के समान समीक्षा का ज्ञान भी व्यवस्थित, सुसम्बद्ध तथा तार्किक होता है। जिस प्रकार विज्ञान भौतिक द्रव्यों के तत्त्वों का विश्लेषण, वर्गीकरण एवं तत्सम्बन्धी बौद्धिक आविष्कार करता है तद्वत् समीक्षा साहित्य-सौन्दर्य के नियामक तत्त्वों का सूक्ष्म विश्लेषण, वर्गीकरण तथा तत्सम्बन्धी बौद्धिक आविष्कार करती है। इसीलिए समीक्षा को साहित्य का विज्ञान कहते हैं। जिस प्रकार विज्ञान की आत्मा जिज्ञासा है तद्वत् समीक्षा का प्राण-तत्त्व भी अतृप्त जिज्ञासा के रूप में प्रतिष्ठित है। समीक्षा और विज्ञान दोनों में, अनुसन्धानात्मक प्रवृत्ति ही वास्तविक दृष्टिकोण के रूप में स्वीकृत है। समीक्षा और विज्ञान दोनों का उद्देश्य सत्य की प्राप्ति है। यदि विज्ञान, भूतद्रव्य विषयक सत्य की खोज करता है तो समीक्षा मानसिक, दार्शनिक एवं सांस्कृतिक सत्य की पहचान करती है। विज्ञान नूतन भूतद्रव्यों के आविष्कार से साधारण जीवन को भौतिक दृष्टि से धनी एवं सुखी बनाने का प्रयत्न करता है तो समीक्षा सत्य, शिव तथा सौन्दर्य सम्बन्धी आविष्कारों से वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन को सांस्कृतिक दृष्टि से सुखी बनाने का प्रयास करती है। जैसे, विज्ञान, धर्म, जाति, सम्प्रदाय, राष्ट्र आदि सीमाओं में विश्वास नहीं करता उसी प्रकार समीक्षा भी मानव मन के भावात्मक पक्ष पर शाश्वत दृष्टि

से विचार करने के कारण अन्तरराष्ट्रीय ही नहीं सार्वभौम दृष्टिकोण रखती है। जिस प्रकार विज्ञान ने सभ्यता एवं संस्कृति में परिवर्तन उपस्थित किया है उसी प्रकार समीक्षा ने सभी देशों की सभ्यताओं एवं संस्कृतियों में परिवर्तन, संशोधन एवं परिमार्जन उत्पन्न किया है। जैसे, विज्ञान ने एक दूसरे को समझने में बहुत सहायता पहुँचाई है उसी प्रकार समीक्षा द्वारा भी हम एक दूसरे को ठीक समझ सकते हैं। जैसे विज्ञान, पग पग पर आधुनिक मानव जीवन को स्पर्श करके प्रभावित करता है तद्वत् समीक्षा भी आदि काल से क्षण क्षण पर हमारे जीवन को प्रभावित करती आ रही है। आज विज्ञान और समीक्षा दोनों का दुरुपयोग हो रहा है उसका परिणाम पूँजीवाद, सामन्तवाद, नाना संघर्ष तथा विश्व युद्धों के रूप में उत्पन्न हो रहा है। इन सब शोषणों का अपसारण तभी होगा जब विज्ञान तथा समीक्षा दोनों का सदुपयोग होगा। अब समीक्षा को विज्ञान सिद्ध करने के लिए समीक्षक तथा वैज्ञानिक दोनों की समानताओं पर विचार करना चाहिए। दोना में स्वतंत्र बुद्धि, तार्किक शक्ति तथा प्रगतिशील प्रवृत्ति रहती है। समीक्षक वैज्ञानिक के समान ही जीवन में अधिकाधिक ज्ञान-सम्पादन की अतृप्त जिज्ञासा तथा उत्सुकता रखता है। जैसे, वैज्ञानिक मानवता की कल्याण-कामना से प्रेरित होकर दिन रात अपनी प्रयोगशाला में बैठा नये नये अनुसन्धान किया करता है उसी प्रकार समीक्षक संसार रूपी प्रयोगशाला में बैठकर अहर्निश मानव-कल्याण के लिए उपयोगी सांस्कृतिक सत्यों के आविष्कार में रत रहता है। यदि वैज्ञानिक भौतिक अमरता के लिए प्रयत्न करता है तो समीक्षक आध्यात्मिक अमरता के लिए। वैज्ञानिक और समीक्षक दोनों परप्रत्ययनेयता में अरुचि रखते हैं। दोनों जीवन के प्रति प्रयोगात्मक दृष्टिकोण रखते हैं। दोनों में त्याग, सचाई तथा पर-प्रतीति पर्याप्त मात्रा में रहती है।

समीक्षा की व्याप्ति

(१)

एक में अनेक की सत्ता वर्तमान है, अतः एक का अनेक से सापेक्ष सम्बन्ध है। मानव जीवन अनेक तत्त्वों के सहयोग से बना है जिसकी आदर्शपूर्ण अभिव्यक्ति साहित्य में होती है। संसार के सभी विषयों का सम्बन्ध प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से मानव जीवन से है। अस्तु, मानव जीवन की आदर्शपूर्ण तथा रमणीय अभिव्यक्ति—साहित्य[१] में प्रकारान्तर से सभी विषयों का सम्बन्ध स्थापित होना ही चाहिए। इस प्रकार अन्य विषयों—दर्शन, मनोविज्ञान, तर्कशास्त्र, समाजशास्त्र, राजनीति, अर्थशास्त्र, भूगोल, इतिहास, विज्ञान, धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र, भाषाविज्ञान आदि का साहित्य से सापेक्ष सम्बन्ध स्थापित करते ही उनका सम्बन्ध समीक्षा से अपने आप हो जाता है। राबर्टसन[२] की दृष्टि में समीक्षा-प्रक्रिया के भीतर मनुष्य ज्ञान के सभी विषय आ जाते हैं। वस्तुतः समीक्षा अपने व्यापक अर्थ में सृष्टि के आदि काल से मानव जीवन को स्पर्श करती चली आ रही है। सभी राष्ट्रों की सभ्यताओं तथा संस्कृतियों के परिवर्तन-परिवर्धन तथा परिष्करण में मूल रूप से समीक्षा ही काम करती हुई दिखाई पड़ती है। आरंभकाल से साहित्य-समीक्षण मानवता के मूल्यों की कसौटी पर ही होता चला आ रहा है।

---

१ प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री हरबार्ट की दृष्टि में साहित्य का सम्बन्ध शिक्षा के सब विषयों से है। योरोपीय शिक्षा का इतिहास—सरयूप्रसाद चौबे

२ *'Criticism is a process that goes on over all the field of human knowledge'.*

३ *Criticism of literature may lead you to metaphysics, theology, morals, politics etc.*

साहित्य के मूल्याङ्कन में अन्ततोगत्वा मानव मूल्यों का ही निर्धारण तो होता है। अन्य विषयों की व्याप्ति जीवन के किसी एक मूल्य अथवा कुछ मूल्यों तक हो सकती है किन्तु समीक्षा की व्याप्ति मानव जीवन के सभी मूल्यों तक है। वस्तुत: जीवन के सभी मूल्य साहित्य में प्रतिष्ठित होते हैं। अत: उसकी परीक्षा में उन सभी मूल्यों की विवेचना अनिवार्य है। स्वस्थ समीक्षा में साहित्य और जीवन के सभी मूल्यों पर सम्यक् दृष्टि से विचार करना आवश्यक है। अस्वस्थ समीक्षकों ने जब जब अपने किसी पूर्वग्रह, संस्कार, शिक्षा, वातावरण अथवा संकुचित आत्म-दर्शन के कारण अपनी समीक्षा को जीवन तथा साहित्य के किसी एक अथवा कुछ मूल्यों तक सीमित करने का प्रयत्न किया तब तब समीक्षा की व्याप्ति संकीर्ण हुई। संस्कृत साहित्य में अलंकारवादी, रीतिवादी, गुणवादी, वक्रोक्तिवादी—सैद्धान्तिक समीक्षाओं की व्याप्ति इसी लिए सीमित रही कि उनके प्रतिष्ठापकों ने अपनी अपनी समीक्षाओं के भीतर साहित्य के किसी एक विशिष्ट तत्त्व या मूल्य को आवश्यकता से अधिक महत्त्व दिया, साहित्य से सम्बन्ध रखनेवाले अन्य विषयों की सम्बन्ध-व्याख्या पर विचार नहीं किया तथा मानव जीवन के दर्शन तथा विविध मूल्यों पर सम्यक् रीति से दृष्टिपात नहीं किया। आगे चलकर राजशेखर ने दसवीं शताब्दी में व्यावहारिक समीक्षा की परिभाषा में 'अवान्तरार्थ विच्छेदश्च सा' जोड़कर इसकी व्याप्ति को काफी विस्तृत बना दिया। सैद्धान्तिक समीक्षा की व्याप्ति को भी राजशेखर ने साहित्य-विद्या को 'चतसृणामपि विद्यानां निस्यन्द:' कहकर बहुत विशद कर दिया। इसके पहले भारतीय साहित्य की सैद्धान्तिक समीक्षा सम्बन्धी किसी पुस्तक में साहित्य विवेचन के समय अन्तर्योग रूप में दर्शन, राजनीति, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, इतिहास, भूगोल, विज्ञान आदि का विश्लेषण नहीं मिलता। राजशेखर के पूर्व केवल भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में नाट्य-सिद्धान्तों की व्याख्या के समय नृत्यकला, संगीतकला, काव्यकला आदि ललित कलाओं की चर्चा मिलती है।

भिन्न-भिन्न विषयों द्वारा साहित्य पर प्रकाश पड़ने से वह अधिक विशद तथा आनन्ददायी हो सकता है, उसका भाव अधिक विशद तथा बोधगम्य बनाया जा सकता है। समीक्षा का ज्ञान व्यवस्थित तथा सुविस्तृत किया जा सकता है। विषय की ओर रुचि भी स्थायी, विशद एवं परिष्कृत रूप में जगाई जा सकती है, साहित्य एवं समीक्षा का उपयोग तथा मूल्य जीवन-व्यापी बनाया जा सकता है। किन्तु बड़े दुख की बात है कि इस विकासवाद के युग में विशदता की डींग हाँकने-वाले वर्तमान समीक्षकों के द्वारा भी समीक्षा की व्याप्ति संकुचित होती जा रही है। विभिन्न सम्प्रदायों के समीक्षक अपने अपने सम्प्रदाओं के पूर्वग्रह से गृहीत होने के कारण समीक्षा की व्याप्ति को अपने अपने पूर्वग्रहों की सीमा से आगे बढ़ने नहीं देना चाहते। मार्क्सवादी यदि आर्थिक अथवा भौतिक सीमा से समीक्षा को सीमित करने का प्रयत्न कर रहे हैं तो फ्रायडवादी अन्तश्चेतनावाद की परिधि से।

समीक्षक को साहित्य के विषय में निम्नाङ्कित प्रकार के प्रश्नों का उत्तर देना पड़ता है:—साहित्य मानव जीवन को सफल, आनन्दमय, कलात्मक, सामाजिक, धनी, गंभीर, उदार, विस्तृत बनाने में कहाँ तक समर्थ हो रहा है? उसे अर्थ, धर्म, काम एवं, मोक्ष की प्राप्ति कराने में कहाँ तक सहायक हो रहा है? मानव को अशेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्धों की रक्षा में कहाँ तक समर्थ बना रहा है? मनुष्य की पाशविक वृत्तियों के निरोध एवं उदात्तीकरण में वह कितना भाग ले रहा है? मानव संस्कृति एवं सभ्यता की विशदता, पूर्णता एवं परि-पक्वता में कितना योगदान दे रहा है? उक्त प्रश्नों के उत्तरों का सम्बन्ध पूरे मानव जीवन से होने के कारण उनका सम्बन्ध जगत् के सभी ज्ञातव्य विषयों से हो जाता है। इस प्रकार समीक्षा की व्याप्ति मानव जीवन के ज्ञान की परिधि के भीतर आनेवाले सभी विषयों तक हो जाती है। समीक्षा की व्याप्ति की स्पष्टता के लिए उसकी परिधि के भीतर आनेवाले विविध विषयों के सम्बन्ध-सूत्रों पर दृष्टिपात कर लेना आवश्यक है।

साहित्य-समीक्षा का मुख्य सम्बन्ध सौन्दर्य-शास्त्र से है क्योंकि साहित्य[१]-सम्बन्धी निर्णय कलात्मक सौन्दर्य की कसौटी पर निरूपित किये जाते हैं। साहित्य[२]-समीक्षा का पथ सौन्दर्य शास्त्र (aesthetic) के क्षेत्र से निर्मित होता है। समीक्षा के बहिरंग पक्ष के विभिन्न तत्त्व—अलंकार, रीति, वृत्ति, गुण, छन्द आदि का सम्बन्ध कलात्मक सौन्दर्य से है। कवि, पाठक या आलोचक की रसानुभूति दार्शनिक दृष्टि से सौन्दर्यानुभूति ही है, इस प्रकार काव्य के आत्म-तत्त्व रस का सम्बन्ध भी सौन्दर्य शास्त्र से है। वैज्ञानिक दृष्टि से समीक्षक की रसिकता का अर्थ है सौन्दर्य तत्त्वों की अभिज्ञता या अनुभूति; जिसके अभाव में वह किसी कृति या वस्तु में बसे हुए सौन्दर्य का दर्शन नहीं कर सकता। साहित्य के विभिन्न स्वरूप उपन्यास, कहानी, नाटक, निबन्ध, गीतिकाव्य, महाकाव्य आदि के परिवर्तनशील बहिरंग तत्त्व कलात्मक सौन्दर्य के बाह्य-तत्त्वों के आधार पर बनते रहते हैं। काव्य के इन्द्रियगोचर तत्त्व-रूप, आकार, संयोजना, विस्तार आदि वस्तु-निर्मिति के सौन्दर्य नियामक तत्त्वों के इन्द्रियगोचर गुणों के आधार पर बनते हैं जो युग, व्यक्ति तथा परिस्थिति के अनुसार बदलते रहते हैं। साहित्य के स्थायी मूल्यों एवं आदर्शों की परख सौन्दर्य के बौद्धिक[३] एवं भावात्मक[४] गुणों की कसौटी पर की जाती है। सैद्धान्तिक समीक्षा में कलात्मक सौन्दर्य के विभिन्न स्वरूपों, सम्बन्धों, तत्त्वों, सिद्धान्तों, नियमों, साधनों, भेदों, आदर्शों, गुणों, प्रक्रियाओं, प्रयोजनों, मानदण्डों आदि का वैज्ञानिक

---

१. *A Literary judgement is inevitably an aesthetic.*

२. *The road to Literary criticism is necessarily through the field of aesthetic and phiolsophy —The issue in Literary Criticism.*

३—एकरूपता, विविधता, संगति, विरोध, प्रमाण-बद्धता, सम-प्रमाणता, संवादित्व एवं शुद्धता।—सौन्दर्यशोध आणि आनन्दबोध

४—स्वार्थ-निरपेक्षता, सूचकता, नवनवोन्मेषशालीनता, गूढ़रम्यता, सादगी, संयम, भव्यता, उदात्तता तथा औचित्य।—सौन्दर्य शोध आणि आनन्दबोध

विवेचन रहता है तथा व्यावहारिक समीक्षा में किसी विशिष्ट कृति, कवि, काल या साहित्य को लेकर उनकी उपयोगिता, व्यावहारिकता तथा प्रयोगार्हता पर परीक्षात्मक ढंग से विचार किया जाता है। यदि कोई समीक्षक अपनी व्यावहारिक समीक्षा में साहित्यिक या कलात्मक सौन्दर्य के विभिन्न तत्त्वों तथा गुणों का विवेचन नहीं करता तो उसकी समीक्षा अधूरी तथा एकदेशीय मानी जायगी। मार्क्सवादी, फ्रायडवादी तथा समाजवादी समीक्षक अपनी समीक्षाओं में साहित्य के कलात्मक सौन्दर्य सम्बन्धी तत्त्वों पर विचार नहीं करते इसलिए उनकी समीक्षा एक देशीय होती है। समीक्षा के सिद्धान्त, मूल्य, आदर्श तथा प्रक्रिया की विभिन्न स्थितियाँ[१] सौन्दर्य-निर्माण की कला में भी उसी रूप एवं मात्रा में विद्यमान हैं जिस रूप एवं मात्रा में साहित्य-समीक्षा में। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सौन्दर्य दर्शन या दृष्टि समीक्षा की ही प्रक्रिया से उत्पन्न होती है और उसका जन्मदाता[२] भी समीक्षक ही होता है, कलाकार नहीं। समाज में सौन्दर्य-दृष्टि[३] को प्रसृत करने का कार्य समीक्षकों को सौंपा गया है। क्या कलाकार, क्या सामान्य[४] जन—सबको सौन्दर्य-दृष्टि प्राप्त कराने का श्रेय समीक्षा या समीक्षक को ही है। इस व्यापक अर्थ में दार्शनिक, शिक्षाशास्त्री, समाजसुधारक, नेता, क्रान्तिकारी आदि समीक्षक ही के नाम से अभिहित होते हैं। सौन्दर्य-शास्त्र के ज्ञान के अभाव में कोई भी समीक्षक किसी प्रकार की कला का मूल्य नहीं आँक

---

१ *'The Principles which find expression in criticism have their root in those that underlies the process of artistic creation*
Scott and Gaielley

२ *The concept of beauty has been originated with the philosopher (critic) not with the artist'* —Anand Kumar Swami

३ *Who provides these nourishing ideas—food for Shakespeare and Wordsworth of future ?—The Critic. It is he who discovers the ideas.* —Arnold

४ *The efforts of the critics are devoted to determine the Literary system or organism* —Methods and Materials of Criticism

सकता। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट सिद्ध हो गया कि साहित्य समीक्षा का सम्बन्ध सौन्दर्यशास्त्र से विविध रूपों में है।

समीक्षा की व्याप्ति के भीतर दर्शन का समावेश बहुत प्राचीन काल से ही स्वीकृत है। राजशेखर ने स्पष्ट शब्दों में घोषित किया है कि साहित्य विद्या अर्थात् समीक्षा के भीतर आन्वीक्षकी[१] अर्थात् अध्यात्म-विद्या का सार भरा है। अंग्रेजी[२] साहित्य में बहुत प्राचीन काल से ही समीक्षा और दर्शन का सम्बन्ध इतना घनिष्ठ रहा है कि वहाँ सारा दर्शन समीक्षा कहा जाता था और दार्शनिक, समीक्षक के नाम से अभिहित होते थे। जीवन रूपी[३] मानचित्र को समझने की कुंजी दर्शन में निहित है। जीवन की परिभाषा, साध्य, साधन, सिद्धान्त, नियम आदि की विवृति दर्शन ही करता है। दर्शन की सहायता से ही साहित्यकार जीवन को समझने में समर्थ होता है। दर्शन,[४] साहित्य की आत्मा है; इस प्रकार प्रकारान्तर से समीक्षा की आत्मा भी दर्शन ही हुआ। साहित्य का मुख्य ध्येय जीवन में चतुर्वर्ग (अर्थ, धर्म, काम तथा मोक्ष) की प्राप्ति है। इन चतुर्वर्गों को समझाने में दर्शन, समीक्षा की सहायता करता है।

---

१ पंचमी साहित्य विद्या इति यायावरीयः। सा हि चतसृणामपि विद्यानां (आन्वीक्षकी, त्रयी, वार्तादण्डनीत्यश्च) निस्यन्दः। काव्यमीमांसा (राजशेखर)

२ *The term criticism is used in the history of Philosophy to designate the philosophical system of Immanual Kant. The meaning which Kant attached to the term has considerable influence in shaping the modern views upon the subject,*

—The Methods & Materials of Criticism

३ *Philosophy is the key to the map of life by which are set forth the meaning of life and the means of attaining its goal.*

—Anand Kumar Swami

४ *Philosophy is the soul of poetry* —Radhakrishnan

सैद्धान्तिक समीक्षा का मुख्य कार्य साहित्य-दर्शन का विवेचन करना है। साहित्य-दर्शन[१] में जगत और जीवन का दर्शन सामान्य रूप से तथा कलाकार या साहित्यकार रूप में मनुष्य का कर्तव्य, दायित्व, व्यक्तित्व आदि विशिष्ट रूप से विवेचित रहता है। व्यावहारिक समीक्षा में समीक्षक कवि के मस्तिष्क एवं रचनातंत्र पर ही विचार नहीं करता; उसके भाव-पक्ष, विचार-तत्त्व एवं जीवन-दर्शन का भी विश्लेषण करता है; उसकी उपयोगिता तथा अनुपयोगिता पर निर्णय देता है। इन उपर्युक्त कार्यों के सम्पादन के लिए सामान्य जीवन-दर्शन का सम्यक् ज्ञान तथा साहित्य के भीतर प्रविष्ट विशिष्ट वादों के दर्शन का विशिष्ट ज्ञान समीक्षक के लिए अत्यावश्यक है। समीक्षा का सांस्कृतिक कार्य अन्ततोगत्वा जीवन-दर्शन को स्वस्थ, सुखद, सन्तुलित एवं विशद बनाना है। इस दृष्टि से समीक्षा का सम्बन्ध मानव जीवन के सभी पक्षों तथा स्वरूपों से है। समीक्षा में समीक्षक के तटस्थ[२] होने का वैज्ञानिक अर्थ यही है कि वह दर्शन की पूर्णता को लक्ष्य करके अपने समीक्षा सम्बन्धी सारे प्रयत्नों को संचालित करता है। आर्नोल्ड की दृष्टि में समीक्षा जीवन-दर्शन[३] की पूर्णता की समस्या के समाधान में योगदान करती है। उपर्युक्त विवेचन से तात्पर्य यह निकला कि समीक्षा और दर्शन में घनिष्ठ सम्बन्ध है।

जीवन और साहित्य का पारस्परिक संबंध जितना मनोविज्ञान द्वारा स्पष्ट हो सकता है उतना और किसी साधन द्वारा नहीं। वस्तुतः सारा साहित्य मनोवैज्ञानिक भाषा में मानव अनुभूति सम्बन्धी कला-

---

१ *Philosophy of art is a general philosophy of man and his world with a special reference to man's function as an artist and his world's aspect of beauty*

Types of aesthetic judgement —E. M. Burtlett.

२ *Critic is disinterested in the sense that he will persue only the ends of cultural perfection.*

३ *It (Criticesm) is a contribution to the problem of perfection or how to live,* —Arnold.

त्मक अभिव्यक्तियों का भण्डार है। साहित्यिक अनुभूतियों के अर्जन की साधना में काम करनेवाली विभिन्न स्थितियों–पूर्वज्ञान (apperception), इन्द्रिय सन्निकर्ष (perception), प्रेरणा (Inspiration), निरीक्षण (observation), व्याख्या (interpretation), भावना (feeling), विचार (thought), कल्पना (imagination), सिद्धान्त निरूपण (conception) आदि का सम्बन्ध विभिन्न मनोव्यापारों से है। इन मनोव्यापारों से जो अपरिचित हैं वे साहित्य की प्रक्रिया, साधना, साधन, साध्य आदि को ठीक ठीक नहीं समझ सकते। साहित्य प्रायः भावात्मक सामग्री (emotional material) उपस्थित करता है। जो मनोविज्ञान नहीं जानता वह उस भावात्मकता की अभिव्यक्ति में से सत्य का उद्घाटन नहीं कर सकता। कोई कवि किसी विशिष्ट प्रकार के विचार, भाव, कल्पना, जीवन-दर्शन को क्यों अपनाता है, किस प्रक्रिया से उस पर पहुँचता है—आदि बातों को मानस-शास्त्र जितनी अच्छी तरह स्पष्ट कर सकता है उतना और कोई साधन नहीं। किसी कवि का व्यक्तित्व किस प्रकार का है, किस प्रक्रिया से वह निर्मित हुआ है; उसकी शक्ति, प्रेरणा, अनुभूति, निरीक्षण, अध्ययन, प्रवृत्ति आदि किसी विशिष्ट दिशा की ओर क्यों अभिमुख हुई है; उसका व्यक्तित्व किसी रचना में किस मात्रा में अभिव्यक्त हुआ है—आदि बातों का ज्ञान मनोविज्ञान से जितना ठीक ठीक हो सकता है उतना और किसी विषय से नहीं।

कविता के कलापक्ष का जितना यथार्थ ज्ञान मनोविज्ञान दे सकता है उतना और कोई शास्त्र नहीं। कोई कृतिकार किसी विशिष्ट प्रकार के रचनातंत्र, छन्द, अलंकार, रीति-शैली, प्रतीक आदि को क्यों अपनाता है—इसे मनोविज्ञान जितनी अच्छी तरह समझा सकता है उतना और कोई विषय नहीं। डा० युङ्ग ने उपनिषदों के प्रतीकों के प्रयोग के मनोवैज्ञानिक कारणों की शोध करके कवि के अन्तर्जगत में प्रविष्ट होने का बहुत बड़ा मार्ग ढूँढ़ दिया है।

साहित्य की उत्पत्ति के मूल स्वरूप पर विचार करते समय समीक्षक कवि की शक्ति, भावना, स्वभाव, व्युत्पत्ति, प्रेरणा, व्यक्तिमत्ता आदि शब्दों का प्रयोग करता है। इन शब्दों से सूचित मनोव्यापार मानस-शास्त्र से ही स्पष्ट किये जा सकते हैं। कृतिकार के बाह्य निरीक्षण की गंभीरता तथा विशदता काव्य में बाह्य-सौन्दर्य का समावेश करती है तथा कवि की जीवन-विषयक प्रवृत्ति तथा दृष्टि काव्य में आन्तरिक सौन्दर्य की प्रतिष्ठा करती है। पात्रों के चरित्र-चित्रण के लिए उपन्यासकार या नाटककार को बाह्य निरीक्षण की आवश्यकता है किन्तु उनमें प्राण प्रतिष्ठा करने का श्रेय कृतिकार के व्यक्तित्व को ही है। परन्तु कलाकार के व्यक्तित्व का ज्ञान मनोविश्लेषण के बिना नहीं हो सकता। और मनोविश्लेषण मनोविज्ञान की सहायता के बिना संभव ही नहीं।

प्राचीन काल में मनःस्थिति का इतना सूक्ष्म अध्ययन नहीं हुआ था इसलिए मानसिक व्यापारों का इतना सूक्ष्म विभाजन, विश्लेषण तथा वर्णन उस समय नहीं हो सका जितना अब हो रहा है। प्राचीन काल में चेतन का ही महत्त्व ज्ञात था। इसी कारण प्राचीन रीतिशास्त्रों में कवि के चेतन[1] मन के ही कार्यों का वर्णन मिलता है। कोई कवि अपनी किन किन मानसिक क्रियाओं, प्रक्रियाओं, स्थितियों को पार कर के किसी कविता के निर्माण में समर्थ होता है—इसका ज्ञान भी आज के मनोविज्ञान शास्त्र द्वारा ही हुआ है। मनोविज्ञान एक ओर कलाकार के रहस्यमय, अज्ञात, आन्तरिक जीवन पर प्रकाश डालता है तो दूसरी ओर उसके व्यक्तित्व के ज्ञात तथा प्रकाशित तत्त्वों की वैज्ञानिक खोज करके उसके विकास-क्रम का पता लगाता है। समीक्षक, मनोविज्ञान द्वारा कवि की विकृत, स्वाभाविक, अतृप्त, कुंठित, उदात्त तथा परिमार्जित वृत्तियों का प्रभाव साहित्य पर जान सकता है। इस प्रकार

---

१ क्षेमेन्द्र

समीक्षक* का कवि के मानसिक स्वास्थ्य से उसी प्रकार का सम्बन्ध है जिस प्रकार डाक्टर का जनता के शारीरिक स्वास्थ्य से।

समीक्षा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से किसी वस्तु, कृति को समझने, मूल्य निरूपित करने, निर्णय देने की प्रक्रिया है और ये सब प्रक्रियाएँ मनोविज्ञान से सम्बन्ध रखती हैं। समीक्षा के मूल्य का अर्थ है किसी वस्तु, कृति, कवि, में अन्तर्निहित मनुष्य की स्वाभाविक मानसिक इच्छाओं को संतृप्त करने की शक्ति। इस प्रकार समीक्षा के मूल्यों का ज्ञान भी मनोविज्ञान के बिना नहीं हो सकता। जान ड्यूई के शब्दों में कला एक प्रकार की सामाजिक अनुभूति है और समीक्षा उसकी व्याख्या। अनुभूति की व्याख्या या मूल्यांकन मनोविज्ञान की सहायता के बिना नहीं हो सकता। यह मनोविज्ञान का ही प्रभाव है कि समीक्षा साहित्य के बाह्य नियमों के प्रयोग या अन्धानुकरण से परिवर्तित होकर साहित्यगत आन्तरिक जीवन की व्याख्या बनती जा रही है। यदि ध्यान से विचार किया जाय तो पता चलेगा कि समीक्षा का जन्म भी मानसिक कारणों से ही होता है। समीक्षा-उत्पत्ति के मूल कारणों—जिज्ञासा, आत्माभिव्यक्ति, विस्मय, अहं-प्रदर्शन, आत्म-संरक्षण, आस्वादन, शंसन आदि का संबंध मनुष्य की मानसिक प्रवृत्तियों से है। यह पहले कहा जा चुका है कि समीक्षा-प्रक्रिया की विभिन्न स्थितियों—पूर्वज्ञान, इन्द्रिय-सन्निकर्ष, प्रेरणा, व्याख्या, विश्लेषण, वर्गीकरण, तुलना, सिद्धान्त-निरूपण, प्रयोग आदि का सम्बन्ध ज्ञानार्जन में प्रयुक्त मानसिक प्रक्रिया की विभिन्न स्थितियों से है। वर्तमान युग में फ्रायड, युङ्ग आदि मानसशास्त्रियोंका हमारे साहित्य तथा जीवन पर इतना अधिक प्रभाव पड़ा है कि इनके वादों तथा सिद्धान्तों के आधार पर सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों प्रकार की

---

१ *The critic is as much concerned with the health of the mind as any doctor with the health of the body.* —Richards

समीक्षाओं के स्वरूप, धारणा, आदर्श तथा सिद्धान्तों में परिवर्तन, परिवर्धन एवं पुनर्निर्माण की आवश्यकता है। समीक्षक के पूर्वग्रह के कारण समीक्षा पर नाना प्रकार के अत्याचार हुए हैं। मनोविज्ञान ही यह बता सकता है कि पूर्वग्रह क्या है? यह समीक्षक के मन में कैसे उत्पन्न होता है? और उससे दूर रहने के साधन तथा उपाय क्या हैं? नवीन समस्याओं, प्रश्नों तथा अभावों के कारण किस प्रकार नयी विचारधारा उत्पन्न होती है, पुरानी विचारधारा उससे विच्छिन्न दिखाई पड़ने लगती है; इन दोनों को जोड़ने का कार्य जितनी सफलता से मनोविज्ञान कर सकता है उतनी सफलता से और कोई विषय नहीं। इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध हुआ कि समीक्षा और मनोविज्ञान में बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है।

मानव विज्ञान के विभिन्न युगों—वन्ययुग, पशुपालन युग, कौटुम्बिक युग, वैयक्तिक युग, कृतसंविद्युग आदि के अनुसार कला के अन्तरङ्ग तत्त्वों, वहिरङ्ग स्वरूपों, व्याप्ति, उद्देश्य प्रभृति में परिवर्तन होता रहा है, कला-समीक्षण की प्रणालियाँ बदलती रही हैं। अतः सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक—दोनों प्रकार की समीक्षाओं का अध्ययन, मानव-विज्ञान की सहायता के बिना ठीक ठीक नहीं हो सकता।

समाज और साहित्य में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। साहित्यकार अपनी भावात्मक प्रक्रिया द्वारा समाज के आलम्बनों, उद्दीपनों, आदर्शों, आवश्कताओं, समस्याओं, विचारों, भावनाओं को कलात्मक ढंग से प्रतिष्ठित करता है, समीक्षक अपनी बौद्धिक प्रक्रिया द्वारा वैज्ञानिक ढंग से उन पर विचार करता है, उनकी उपयोगिता, अनुपयोगिता, शाश्वतता, एकयुगीनता, सार्वभौमिकता, एकदेशीयता आदि तत्त्वों पर तटस्थ दृष्टि से प्रकाश डालता है; कवि का व्यक्तित्व किसी न किसी प्रकार सामाजिक तत्त्वों से ही निर्मित होता है। उसके जीवन का विकास प्रायः सामाजिक परिस्थितियों के प्रभाव, परिणाम तथा प्रतिक्रियास्वरूप देखा जाता है। उसकी जीवन-दृष्टि तथा काव्य की

टेकनीक—दोनों समाज तथा वातावरण की उपज मानी जाती हैं। अतः उसके व्यक्तित्व का अध्ययन—उसकी उदारता, संकीर्णता, राष्ट्रीयता, मानवता आदि की नाप-जोख समाजशास्त्र के अध्ययन के अभाव में ठीक ठीक नहीं हो सकती। समाज की क्रान्तियों, युद्धों, घटनाओं, परिस्थितियों, विचारधाराओं, समस्याओं, संघटनों यातायात के साधनों, वैज्ञानिक आविष्कारों, भौतिक सामग्रियों के प्रभाव[१], परिणाम या प्रतिक्रियास्वरूप साहित्यकार या समीक्षक के विचार, आदर्श, मूल्य, मान्यता, जीवन-दृष्टि आदि का निर्माण होता रहता है, कला के स्वरूप, रचनातंत्र आदि में परिवर्तन होता रहता है; अतः समाजशास्त्र के ज्ञान के अभाव में कोई समीक्षक साहित्य या साहित्यकार को ठीक ठीक समझ ही नहीं सकता, उसका मूल्य कैसे निरूपित करेगा? मार्क्सवादियों के अनुसार तो मनुष्य की सभी प्रकार की भावनाओं, विचारों, आदर्शों, मान्यताओं की सृष्टि के लिए समाज ही जिम्मेदार है, व्यक्ति नहीं; दृश्य ही सब कुछ है, द्रष्टा नहीं। इस कथन में अतिरंजना भले ही कुछ हो, पर इतना निष्कर्ष तो अवश्य निकलता है कि समाजशास्त्र और समीक्षाशास्त्र में घनिष्ठ सम्बन्ध है। समीक्षा अपने व्यापक रूप में सभ्यतागत मानसिक परिवर्तनों को प्रतिबिम्बित ही नहीं करती वरन् समाज की सांस्कृतिक पार्श्वभूमियों का निर्माण भी करती है। समाज के सभ्यतागत तथा संस्कृति सम्बन्धी परिवर्तन समीक्षा द्वारा ही स्वस्थ, भव्य तथा उदात्त बनाये जा सकते हैं।

समीक्षा की व्याप्ति भूत, वर्तमान तथा भविष्य तीनों तक है। अतीत काल के बहुत से साहित्यिक सिद्धान्त, मत, विचार, आदर्श, वाद,

---

१ *The work of art is the product of its environment. In order to comprehend a work of art, an artist or a group of artists, we must clearly understand the general social and intellectual condition of the times they belong. Herein is to be found the final explanation, herein resides the primitive cause, determining all that follows it.* (History of aesthetics—Mrs Gilburt)

रचनातंत्र आदि वर्तमान में प्रचलित रहते हैं। इनका प्रभाव उन युगों के रचनात्मक साहित्य पर भी रहता है जिनके आधार पर ये बनाये जाते हैं अथवा जिनके अनुशासनार्थ इनका निर्माण होता है। सभी भाषाओं में सभी देशों का साहित्य, ऐतिहासिक परिस्थितियों के अनुसार अपनी गतिविधि, जीवन तथा रचनातंत्र दोनों दृष्टियों से बदलता आया है। महाकाव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी आदि में तो प्राय: इतिहास; कथानक, पात्र, समस्या, जीवन-चित्रण आदि का प्रत्यक्ष आधार बनकर आता है। तात्पर्य यह कि कला अथवा साहित्य के वास्तविक रहस्य को जानने के लिए समीक्षा को ऐतिहासिक सौन्दर्यों की सहायता लेना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। समीक्षा का सबसे निकट तथा प्रत्यक्ष सम्बन्ध वर्तमान से रहता है। वर्तमान को सुधारने, सँवारने तथा पुष्ट करने के लिए समीक्षा अतीत की ओर देखती है। समीक्षा के सभी प्रयत्नों का उद्देश्य विशद रूप में वर्तमान को सफल, सुखद, तथा निष्कण्टक बनाना है। भविष्य का निर्माण भी वर्तमान की ही आधार भित्ति पर किया जाता है। समीक्षक व्यापक अर्थ में समाज-सुधारक या साहित्य-सुधारक माना जाता है। जो बीत गया उसका सुधार नहीं हो सकता, भविष्य अदृश्य रहता है, उसमें यदि कुछ सुधार किया जा सकता है तो वर्तमान के द्वारा ही। इस प्रकार समीक्षा का मुख्य सम्बन्ध वर्तमान से है। समीक्षा अपने युग की समस्याओं, मनोवृत्तियों, व्यवहारों, आचारों, जीवन-दृष्टियों आदि पर प्रकाश डालती है। समीक्षकअपने युग की सड़ी-गली रूढ़ियों, अस्वस्थ विचारधाराओं, निर्बल सिद्धान्तों, एकदेशीय वादों, संकीर्ण नियमों, हानिकारक[२] विधि-विधानों की अग्राह्यता को

---

१ *As Literature reflects manners, problems of the age, so also the Criticism.* —Bases of Criticism

२ *It is one of the most useful function of criticism to sweep those dead leaves from the path of the society which creates unhealthy effects on the minds of the individual.* —Reader & the Critic

वैज्ञानिक ढंग से विवक्षित कर तत्कालीन समाज को, उससे बचने के लिए सजग करता है तथा उसके स्थान पर स्वस्थ विचारधाराओं, व्यापक सिद्धान्तों, सार्वभौम मतों, मंगलदायक विधि-विधानों की बौद्धिक व्याख्या कर समाज में उनका प्रचार करना चाहता है। समीक्षा वर्तमान जीवन के उत्तरोत्तर विकास तथा पूर्णता के प्रश्नका समाधान करने में विचार तथा भाव रूप से योगदान करती है। समीक्षक का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य वर्तमान साहित्य तथा जीवन के मूल्यों का निर्णय तथा विवेचन करना है, इसलिए उसे वर्तमान से पूर्णरूपेण परिचित होना आवश्यक है क्योंकि जब तक वह उस जीवन को जानेगा नहीं तब तक उसपर निर्णय कैसे देगा। समीक्षक का कार्य वर्तमान युग के कवियों का मार्ग प्रदर्शन करना भी है। इस दृष्टि से वह अपने युग के कवियों के जीवन-दर्शन की कमियों, दोषों तथा उनके रचना-तंत्र की त्रुटियों का विवेचन करता है। इसलिए उसे वर्तमान साहित्य से घनिष्ठ सम्बन्ध रखना नितान्त आवश्यक है। समीक्षक भविष्यद्रष्टा तथा क्रान्ति का अग्रदूत कहा जाता है। उसकी समीक्षा-सम्बन्धी विवेचनाओं, विचारों तथा जीवन-दृष्टियों में क्रान्ति का बीज छिपा रहता है। वह वर्तमान के उन प्रगतिकारी विचार-स्फुलिंगों को पकड़ कर भविष्य की ओर फेंकता है जिनसे एक नये युग तथा नये समाज का निर्माण होता है। जिस समीक्षा में भविष्य के लिए प्रेरणा, प्रकाश या शक्ति-प्रदान की क्षमता नहीं रहती उसमें स्थायित्व बहुत कम रहता है। इस प्रकार समीक्षा का भविष्य से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

जनता की समीक्षा-शक्ति के निर्माण अथवा परिवर्तन में राजनीति का स्थान आदि काल से ही बहुत ही महत्त्वपूर्ण रहा है। 'यथा राजा तथा प्रजा' की कहावत इस बात को चारितार्थ कर रही है। हिन्दी साहित्य के चारों कालों की सहित्यिक विचारधारायें अपने अपने युगों की राजनीतिक विचारधाराओं के प्रभाव, प्रतिक्रिया, प्रतिबिम्ब, खण्डनमण्डन, विवेचन आदि के रूप में ही दिखाई पड़ती हैं। अतः राजनीतिक विचार-

धाराओं के सम्यक् ज्ञान के बिना किसी भी साहित्यक काल, कवि अथवा कृति का ठीक ठीक विवेचन, समीक्षण अथवा मूल्याङ्कन नहीं हो सकता। विशेषतः आधुनिक युग में तो राजनीति का इतना अधिक प्रभाव साहित्य पर दिखाई पड़ता है कि राजनीतिक वादों की विचार-धाराएँ, सिद्धान्त, आदर्श, जीवन सम्बन्धी धारणाएँ तथा कल्पनाएँ साहित्य तथा समीक्षा के क्षेत्र में विशिष्ट वाद एवं विशिष्ट समीक्षा-पद्धतियों की सर्जना कर चुकी हैं। जैसे गांधीवाद, मार्क्सवाद, समाजवाद, सामन्तवाद। बहुत से साहित्यकार तथा समीक्षक इन वादों के चित्रण, विवेचन, समर्थन एवं अन्धानुकरण में ही साहित्य तथा समीक्षा की इतिकर्तव्यता समझते हैं। बहुतों की दृष्टि में मार्क्सवादी समीक्षा-पद्धति एकमात्र वैज्ञानिक समीक्षा पद्धति है अथवा गांधीवाद जीवन का एक मात्र पूर्ण दर्शन। कहने की अवश्यकता नहीं कि साहित्य के क्षेत्र में प्रसृत राजनीतिक वादों, सिद्धातों, आदर्शों तथा जीवन-दृष्टियों का साहित्यिक मूल्य, स्थान तथा महत्त्व; राजनीति तथा साहित्यिक समीक्षा का यथार्थ सम्बन्ध जाने बिना ठीक-ठीक नहीं आँका जा सकता।

समीक्षा में किसी मत का स्थापन, विवेचन, समर्थन, अथवा खण्डन तार्किक कारणों से किया जाता है। वैज्ञानिक समीक्षा-पद्धति में निगमन तथा आगमन दोनों प्रकार की नैयायिक प्रणालियों का समावेश रहता है। अतः न्यायशास्त्र से अभिज्ञ हुए बिना कोई समीक्षक उपर्युक्त कार्यों में सफल नहीं हो सकता। तर्कशास्त्र की सहायता लिए बिना आलोचक अपनी आलोचना को पाठकों के लिए विश्वसनीय तथा ग्राह्य नहीं बना सकता। सैद्धान्तिक समीक्षक, अव्याप्ति अतिव्याप्ति आदि दोषों से बच नहीं सकता; परिभाषा, लक्षण-कथन, सिद्धान्त-निरूपण, मत-पुष्टि आदि की प्रक्रियाओं को समझ नहीं सकता। समीक्षा का मुख्य कार्य मूल्याङ्कन तथा निर्णय का है। इस कार्य में दक्षता प्राप्त करने के लिए समीक्षक को तर्कशास्त्र का सामान्य ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। इसीलिए समीक्षा की व्याप्ति न्यायशास्त्र तक मानी गई है।

समीक्षा के जीवन-सम्बन्धी मानदण्ड, जिनसे[१] साहित्य की परख होनी चाहिए, अन्ततोगत्वा नैतिक ही हैं। साहित्य में नीति और धर्म की अभिव्यक्ति व्यक्तिधर्म, गृहधर्म, कुलधर्म, समाजधर्म, राष्ट्रधर्म, विश्व-धर्म आदि के रूप में इसी लोक के बीच हमारे परस्पर व्यवहारों तथा आचरणों द्वारा दिखाई जाती है। इस प्रकार काव्य की अभिव्यक्ति में नीति और धर्म की अभिव्यक्ति छिपी रहती है। काव्य का उद्देश्य मानव आत्मा में प्रतिष्ठित शिव को जगाना है। काव्य के इस उद्देश्य की पूर्ति की परीक्षा के लिए यह जानना आवश्यक है कि शिव तत्त्व है क्या। जीवन का शिव-तत्त्व वस्तुतः हमारे नीति, धर्म तथा सदाचार सम्बन्धी भावनाओं एवं विचारों का पुञ्जीभूत स्वरूप है। काव्य में शिव या[२] नीति तत्त्व के बहिष्कार का अर्थ है साहित्य से सौन्दर्य-तत्त्व का निष्कासन। सौन्दर्य के भावना-सम्बन्धी तथा बुद्धि-सम्बन्धी गुणों का सम्बन्ध किसी न किसी प्रकार धर्म, नीति अथवा सदाचार से ही है। इस प्रकार काव्य-सौन्दर्य, धर्म तथा नीति सम्बन्धी तत्त्वों के बिना आत्मा रहित है। धर्म तथा नीति की उपेक्षा करके काव्य में सौन्दर्य की खोज करना शव की उपासना करना है। औचित्य-भंग ही काव्य में रसाभास का कारण है। किसी देश के साहित्य में औचित्य की रक्षा वहाँ के धार्मिक तथा नैतिक मानदण्डों के पालन से होती है। साहित्य में रस-भंग या रसाभास पहचानने के लिए उस देश या समाज का औचित्य ज्ञान आवश्यक है और औचित्यज्ञान के लिए सामान्य धर्म तथा नीति का कार्य-कारण-सम्बन्ध ज्ञान अनिवार्य। सत्-असत् के द्वन्द्व में कवि लोग प्रायः अन्त में सत् की ही जीत दिखाते

---

१ *The values of Literature, the standard by which it must be Criticised—are in the last resort moral.* —Murrey

२ *Moral nihilism in Literature involves an aesthetic nihilism* —Murrey

हैं। इससे काव्य में शिक्षावाद या नैतिकता की गन्ध आ जाती है, किन्तु वहाँ कवि को ध्यान यह रखना पड़ता है कि नैतिकता की गन्ध स्वाभाविक हो, कान्ता-सम्मित हो; अन्यथा पाठकों के ऊपर कृत्याकृत्यप्रवृत्ति-निवृत्ति सम्बन्धी प्रभाव स्थायी रूप में नहीं पड़ सकता। किसी कृति या कवि पर समीक्षा उपस्थित करते समय नीति, धर्म तथा नैतिकता की कला पर विचार करना आवश्यक हो जाता है। सभी शक्ति-काव्यों में लोक-प्रवृत्ति को परिचालित करनेवाला स्थायी प्रभाव होता है, जो पाठकों या श्रोताओं में सामाजिक भावों की ओर स्थायी प्रेरणा उत्पन्न करता है। जीवन में लोक-धर्म या नैतिक मानदण्ड प्रायः आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित होते रहते हैं। इन्हीं परिवर्तित लोक-प्रवृत्तियों तथा नैतिक आदर्शों के वातावरण में साहित्यकार का व्यक्तित्व विकसित होता है। अतएव उसकी कृतियों पर इन परिवर्तनों का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। अतः किसी कृति की परीक्षा करते समय तत्कालीन लोक-धर्म तथा नैतिक आदर्शों का ज्ञान आवश्यक है।

समीक्षक किसी कृति के कला-पक्ष पर विचार करते समय भावाभिव्यक्ति के साधन भाषा-तत्त्व पर विचार करता है। भाषा-पक्ष की समीक्षा करते समय उसे काव्य में प्रयुक्त भाषा-विशिष्ट की विविध विशेषताओं, शक्तियों, गुणों, दोषों, रीतियों, पद्धतियों आदि पर वैज्ञानिक विवेचन उपस्थित करना आवश्यक है। कहने की आवश्यकता नहीं कि समीक्षक अपने इस कार्य का सम्पादन भाषा-विज्ञान की सहायता के बिना ठीक प्रकार से नहीं कर सकता। किसी शब्द के अभिधेय, लक्ष्य तथा व्यंग्य-तीन अर्थ होते हैं। जब तक इन अर्थों का सम्यक् ज्ञान न होगा तब तक साहित्य को कोई ठीक ठीक समझ नहीं सकता, उसकी समीक्षा करना तो दूर रहा। इन तीनों अर्थों का ठीक ज्ञान भाषाविज्ञान कराता है। साहित्य में प्रयुक्त पदों के बाह्य रूप-परिवर्तन तथा अर्थ-परिवर्तन की उपयुक्तता एव

अनुपयुक्तता, उनकी साधुता तथा असाधुता की व्याख्या भाषाविज्ञान की सहायता के बिना सम्यक् रीति से नहीं हो सकती। इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि समीक्षा का भाषाविज्ञान से भी घनिष्ठ सम्बन्ध है।

समीक्षा के मूल्य

सामान्यतः हम उसी वस्तु, कृति या कार्य को मूल्यवान कहते हैं जो प्रत्यक्ष रूप से हमारे उपयोग में आ सके; हमारे लिए सुविधा के साधनों को जुटा सके या भविष्य में जुटाने की क्षमता रखता हो; जो हमारे जीवन को सफल एवं प्रभावशाली बनाने में सहायता पहुँचा सके। धन या द्रव्य को हम इसीलिए मूल्यवान मानते हैं कि वह हमारे लिए उपयोगी वस्तुओं को जुटाता है, हमारी सुविधा एवं आराम की वस्तुओं को संचित करता है तथा हमारे जीवन को सफल एवं प्रभावशाली बनाने में सबसे बड़ा साधन बनता है। विदेशी दृष्टि[1] से किसी वस्तु का मूल्य मानव जीवन की अन्य इच्छाओं की सन्तुष्टि में बाधा न पहुँचाते हुए अधिकाधिक इच्छाओं की संतृप्ति एवं आवश्यकताओं की पूर्ति में है। भारतीय दृष्टि से किसी वस्तु का मूल्य अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष में से किसी एक भी साधन के संचयन में सहायक होने में है। किसी वस्तु का मूल्य, उसकी सापेक्ष्य उपयोगिता का प्रतीक है। साधारणतः निरपेक्ष दृष्टि से किसी वस्तु के निरपेक्ष मूल्य-निर्धारण की समस्या का समाधान इस सापेक्ष जगत में कठिन ही नहीं असम्भव प्रतीत हो रहा है, जहाँ हमारे सभी कार्य, विचार तथा भावनाएँ, स्थान, काल, तथा परिस्थिति से सापेक्ष संबंध रख रही हैं; जहाँ प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन का मूल्य-मान अपनी शिक्षा, संस्कार, पूर्वग्रह, अनुभव, परिस्थिति, वातावरण के अनुसार बनाता हुआ दृष्टिगोचर हो रहा है। मूल्य-निर्धारण का निरपेक्ष-दृष्टिकोण द्रष्टा की उपेक्षा करता हुआ दृश्य को ही सर्व मान लेता है, सौन्दर्य

---

1. *Anything is valuable which satisfies desires most and conflicts least with other desires.* —I. A. Richards.

को एकान्ततः वस्तुनिष्ठ समझता है, तथा किसी वस्तु के मूल्यांकन में वस्तु के गुणों एवं विशेषताओं को ही एकमात्र कसौटी निरूपित करता है। किन्तु ध्यान से विचार करने पर यह दृष्टिकोण अधूरा एवं भ्रमपूर्ण जान पड़ेगा। सौन्दर्यानुभूति के लिए वस्तु और व्यक्ति दोनों की आवश्यकता है। वस्तु में बसे हुए सौन्दर्य एवं व्यक्ति की रसिकता का गुणाकार रूप ही सौन्दर्यानुभूति है। व्यक्ति-रसिकता कम होने पर सौन्दर्यानुभूति उतनी ही कम होगी। व्यक्ति की रसिक-शून्यता अथवा विभ्रम की अवस्था में वस्तु का पूर्व सौन्दर्य-सामर्थ्य अनुकूल प्रभाव डालने में असमर्थ सिद्ध होगा। सहृदय की शिक्षा, संस्कार, स्वभाव, मनःस्थिति में भिन्नता होने के कारण वस्तु का एक ही प्रकार का सौन्दर्य विभिन्न प्रकार का दिखाई पड़ता है, जैसे एकही व्यक्ति का चित्र, भिन्न-भिन्न कैमरों में भिन्न-भिन्न प्रकार का आता है। उपर्युक्त विवेचन से यह तात्पर्य निकला कि सौन्दर्य का मूल्यमापन एक सापेक्ष्य वस्तु है। उसका संबंध वस्तु तथा व्यक्ति दोनों से है।

मनुष्य की विभिन्न आवश्यकताओं, एषणाओं, उपयोगिताओं, विषयों, स्थानों, समयों आदि के अनुसार मूल्य के अनेक भेद हो सकते हैं; जैसे :—
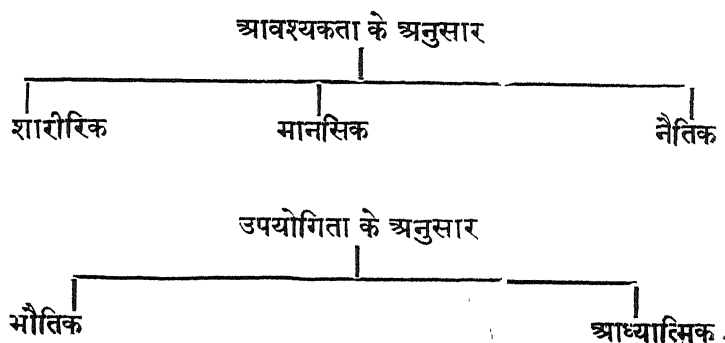
स्थान के अनुसार
- एकदेशीय
- सार्वभौम

एषणा के अनुसार
- लौकिक (सामाजिक)
- वैयक्तिक

विषय के अनुसार
- धार्मिक
- शैक्षणिक
- राजनीतिक
- साहित्यिक
- ऐतिहासिक
- दार्शनिक
- वैज्ञानिक

समय के अनुसार
- सक्तकालीन
- सर्वकालीन

अन्य विषयों का सम्बन्ध किसी एक ही मूल्य से हो सकता है; जैसे विज्ञान का सम्बन्ध शारीरिक अथवा भौतिक मूल्य से है; दर्शन का सम्बन्ध जीवन के आध्यात्मिक (उच्चतर) मूल्यों से है; अर्थशास्त्र का सम्बन्ध जीवन के आर्थिक मूल्यों से है; नीतिशास्त्र का सम्बन्ध जीवन के नैतिक मूल्यों से है; समाजशास्त्र का सम्बन्ध जीवन के सामाजिक मूल्यों से है, इत्यादि; किन्तु[1] समीक्षा का सम्बन्ध मानव जीवन के सभी मूल्यों से समन्वित रूप में है। वस्तुतः जीवन के सभी मूल्य साहित्य में प्रतिष्ठित होते हैं। जीवन की आवश्यकताओं,

---

1. *Value in criticism means total integration of existence of the reality of the Universe* —Bases of Criticism.

उपयोगिताओं अथवा मान्यताओं को भूलकर हम साहित्य का स्वस्थ चिन्तन नहीं कर सकते। स्वस्थ समीक्षा में साहित्य और जीवन दोनों के मूल्यों पर सम्यक् विचार किया जाता है। यह दूसरी बात है कि समीक्षाभास में अस्वस्थ समीक्षक अपने किसी पूर्वग्रह; संस्कार, शिक्षा, वातावरण अथवा आत्मदर्शन के कारण जीवन अथवा साहित्य के किसी एक मूल्य को आवश्यकता तथा औचित्य से अधिक महत्त्व प्रदान कर दे; जैसा कि संस्कृत समीक्षा में अलंकार, रीति, गुण, वक्रोक्ति, ध्वनि सम्प्रदाय के आचार्यों ने अपनी अपनी समीक्षा में साहित्य के किसी एक तत्त्व को आवश्यकता से अधिक स्थान दिया। वर्तमान युग में भी विभिन्न सम्प्रदायों के समीक्षक अपने अपने सम्प्रदायों के पूर्वग्रह के कारण जीवन अथवा साहित्य के किसी एक मूल्य को ही आवश्यकता से अधिक महत्त्व दे रहे हैं।

सामान्य जन प्राय: वास्तविक मूल्य एवं आर्थिक मूल्य को समझने में भ्रम करते हैं; विशेषत: कला अथवा साहित्य के क्षेत्र में आर्थिक मूल्य तथा वास्तविक मूल्य को अलग करने में बहुत ही भ्रान्ति उत्पन्न हो जाती है; अतएव इनका अंतर स्पष्ट करना यहाँ आवश्यक प्रतीत होता है। किसी वस्तु का वास्तविक मूल्य उसकी मानवीय आवश्यकता की पूर्ति तथा एषणात्मक संतृप्ति की क्षमता पर स्थिर रहता है; किन्तु उसका आर्थिक मूल्य उसके अभाव पर निर्भर करता है। अन्न और जलकी जब तक किसी स्थान में कमी रहती है, तब तक इनका आर्थिक मूल्य बहुत अधिक रहता है किन्तु जब उसी स्थान पर उनका आधिक्य हो जाता है तब उनका आर्थिक मूल्य घट जाता है। रेगिस्तान में पानी का जितना आर्थिक मूल्य है उतना गंगा के किनारे नहीं; किन्तु पानी का वास्तविक मूल्य (प्यास आदि-बुझाने का) रेगिस्तान में और गंगा के किनारे समान है। कभी-कभी साहित्य के क्षेत्र में वास्तविक मूल्य से हीन कृतियाँ भी लेबल तथा मुहरों के बल पर अपना आर्थिक मूल्य बढ़ा लेती हैं और इस विज्ञापन

तथा पहुँच के युग में वे चल भी जाती हैं; इस प्रकार उनके युग में उनका ठीक मूल्यांकन करना कठिन हो जाता है।[१] वास्तविक मूल्य की सबसे सुरक्षित तथा सच्ची कसौटी समय है। जो कलाकार अथवा कृतियाँ, विविध युग के सहृदयों की स्वीकारात्मक सम्मति, अपने पक्ष में प्राप्त करने में समर्थ होती हैं उन्हीं में कला का वास्तविक मूल्य निहित रहता है। जो समीक्षक इस मूल्य को देखने या परखने में असमर्थ होता है वह अपनी दृष्टि से अथवा कुछ लोगों की दृष्टि में भले ही ठीक जान पड़े किन्तु कला-सौन्दर्य के मूल्यमापन में उससे त्रुटि होने की ही सम्भावना अधिक है।

जीवन में मूल्यों के प्रत्यभिज्ञान का महत्त्व आँका नहीं जा सकता। समीक्षा द्वारा अर्जित जीवन के विविध मूल्यों का सम्यक् ज्ञान ही मानव को एकाङ्गी, एकदेशीय तथा एकयुगीन होने से बचाता है; उसकी[२] असीम शक्तियों का ज्ञान कराता है; उसकी सम्भावनाओं को समझाता है; उसको जीवन का वास्तविक मानदण्ड निश्चित करने में समर्थ बनाता है; जीवन की प्रत्येक परिस्थिति, घटना, अवस्था एवं व्यक्ति का महत्त्व, सन्देश, उपादेयता आदि स्पष्ट करता है; असफलता एवं पराभव काल में निराश होने से बचाता है; बाह्याडम्बरों, ऊपरी तड़क-भड़क, मिथ्यावादों तथा किसी व्यक्ति अथवा समाज के बहकावे में फँसने से बचाता है। साहित्य

---

१ *The guide to value is certainly one of the safest that we have is the time. We have the works that have obtained the sufferage of the men of many periods and climates, have a presupposition of value in their favour. If a critic does not percieve this value, he may be right and later confirmed but the most probability, is that he is wrong.*

Problem of values—H. R. Huse

२ *Value in man is an equilibrium state which enables him to realise the infinite within him.* —Bases of Criticism

में मूल्यमापन की अवस्था ही समीक्षा में साङ्गोपाङ्गता लाती है। जीवन के ये त्रिविध मूल्य मनुष्य की सन्तुलन अवस्था में ही ठीक देखे या परखे जा सकते हैं। इसी कारण समीक्षक के लिए मानसिक स्वास्थ्य सबसे आवश्यक तथा प्रारम्भिक गुण माना गया है। यदि समीक्षक अपने किसी परिवार, समाज, सम्प्रदाय, धर्म, जाति, राजनीतिक दल आदि के पूर्वग्रह से गृहीत हुआ, यदि वह किसी रूढ़ि या परम्परा से मोहासक्त रहा, यदि वह अपने समाज, युग तथा परिस्थितियों, प्रश्नों, अभावों, विचारों का प्रत्युत्तर देने में असमर्थ रहा, यदि वह काव्य, लोक, शास्त्र आदि के अनुशीलन, निरीक्षण से अपना मन विस्तृत नहीं कर सका, यदि वह वर्ण्य विषय अथवा जीवन परिस्थिति में हृदय रमाने की क्षमता प्राप्त नहीं कर सका तो वह जीवन तथा साहित्य के मूल्यों का आस्वादन अथवा मूल्याङ्कन उचित ढंग से नहीं कर सकता।

समीक्षा के मूल्यों में जीवन के सभी मूल्यों का सार भरे रहने के कारण 'राजशेखर' ने उसे सभी विद्याओं का सार कहा, आचार्य 'शुक्ल' ने कृतियों की रमणीयता एवं मूल्य हृदयंगम कराने की क्रिया कहा, 'गास' ने पूर्ण ज्ञान कहा,' थारबन' ने संचयन-समाधि कहा, 'बोसाङ्के' ने संश्लिष्ट-सौन्दर्य बोध की वैज्ञानिक क्रिया कहा, 'शोपेनहावर' ने उसे अपूर्णता से पूर्णता की ओर ले जानेवाली प्रवृत्ति कहा। समीक्षक की मूल्य दृष्टि में एकदेशीयता अथवा एकाङ्गिता आने से समीक्षा के स्वरूपमें संकीर्णता आ जाती है, जीवन, साहित्य तथा समीक्षा के क्षेत्र में संकीर्णता रखनेवाले नाना भेद तथा वाद उत्पन्न हो जाते हैं। समीक्षा के मूल्यों में संकीर्णता आने के कारण ही आज वैयक्तिक, सामाजिक, राजनीतिक, शैक्षणिक, आर्थिक, धार्मिक जीवन अलग-अलग बिखरे दिखाई पड़ रहे हैं, मजदूर-साहित्य, किसान-साहित्य, मध्यवर्गीय साहित्य, सामान्तवादी साहित्य आदि नामों से साहित्य के टुकड़े किये जा रहे हैं तथा प्राचीन काल में भी अलंकारवादी, गुणवादी, रीतिवादी, वक्रोक्तिवादी आदि समीक्षा के विभिन्न संकीर्ण भेद हुए एवं आधुनिक युग में परम्परावादी, निर्णय

वादी, प्रभाववादी, ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक, फ्रायडवादी, मार्क्सवादी आदि विभिन्न संकुचित समीक्षा भेद दिखाई पड़ रहे हैं।

समाज का[१] मानसिक स्वास्थ्य व्यक्ति के मानसिक स्वास्थ्य से अनुबद्ध है। यदि किसी भी व्यक्ति का मानसिक स्वास्थ्य स्खलित हुआ तो वह अपने समाज अथवा वातावरण को अपनी व्याप्ति, प्रभाव एवं प्रसार के अनुसार विषाक्त करेगा ही। समीक्षक साहित्यिक, दार्शनिक, समाजसुधारक, शिक्षाशास्त्री, राजनीतिज्ञ, समाजशास्त्री, क्रान्तिकारी आदि किसी भी रूप में अपना प्रभाव, प्रसार एवं व्याप्ति; समाज में बहुत दूर तक रखता है। यदि उसका मानसिक स्वास्थ्य खराब हुआ तो उसकी समीक्षा वैयक्तिक, सामाजिक, राष्ट्रीय तथा अन्तरराष्ट्रीय सन्तुलन के स्वरूप को पहचानने में असमर्थ होगी और उसकी समीक्षा जहाँ जहाँ प्रसृत होगी वहाँ वहाँ उपर्युक्त प्रकार के असन्तुलन फैलेंगे और जहाँ जहाँ उपर्युक्त प्रकार के असन्तुलन फैलेंगे वहाँ वहाँ साहित्य और समाज में नाना प्रकार के दोष तथा अनाचार आदि बढ़ेंगे।

समीक्षा के मूल्यों की आधार-भित्ति, परम्परा या रूढ़ि की उपासना नहीं, किसी ऐतिहासिक युग के मूल्यों की स्वीकृति अथवा अस्वीकृति नहीं, किसी विशिष्टवाद या सम्प्रदाय का अनुगमन नहीं, समीक्षक के तात्कालिक प्रशंसात्मक अथवा निन्दात्मक प्रभाव की अभिव्यक्ति नहीं; उसके आत्माविष्कार अथवा रुचिप्रदर्शन की कलात्मक अभिव्यञ्जना नहीं, उसके किसी चेतन, अचेतन अथवा अर्द्धचेतन मन का दिग्दर्शन नहीं वरन् मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन है। सभी[२] वस्तुओं के मूल्य-निश्चय का आधार हमारा जीवन होता है। अतः समीक्षा के भी मूल्य-निश्चय का आधार हमारा जीवन ही होना चाहिए। समीक्षा एक प्रकार की

---

1. *Mental health of the society is correleted with the health of the individual who composes it* —Bases of Criticism
2. *Life is basis for establishing values.* —Richards

विधायक प्रक्रिया है। साहित्य में जीवन के मूल्यों का निर्माण होता है, समीक्षा में उनका पुनर्निर्माण। इस प्रकार समीक्षा के मूल्यों का आधार जीवन की विधायक तथा विकासात्मक दिशा है। जीवन की विधायक दिशा का निर्माण करने के लिए समीक्षक को समाज एवं साहित्य के भीतर प्रचलित ध्वंसात्मक विचारों, बाधक परम्पराओं, हानिकारक एवं संकीर्ण वादों तथा मान्यताओं का खण्डन करके उनका भयावह रूप दिखाना होगा, तत्कालीन प्रगति में साधक नवीन विचारधाराओं, आदर्शों एवं मान्यताओं का मण्डन करके जनता को उनका महत्त्व समझाना होगा। इस प्रकार समीक्षक को समाज में ऐसा बौद्धिक वातावरण उपस्थित करना होगा जिससे समाज में उठती हुई विचार-तरङ्गें साहित्यकारों को प्रभावित कर सकें तथा उन विचारों पर कुछ कहने के लिये उन्हें बाध्य कर सकें। जीवन तथा साहित्य की विकासात्मक दिशा निश्चित करने के लिये समीक्षा को जीवन तथा साहित्य के प्रयोगसिद्ध सत्यों, सिद्धान्तों, एवं आदर्शों का प्रचार करना होगा, जीवन तथा साहित्य के प्राचीन दर्शनों को युग-प्रगति के अनुकूल बनाकर प्रचलित करना होगा तथा युग के प्रगतिशील सन्देशों का समादर करना होगा। इस प्रकार समीक्षा के मूल्यों का आधार जीवन तथा साहित्य की प्रगति को पूर्णता की ओर अग्रसर करना है; समाज के आदर्शों को उत्तरोत्तर वृहत्तर बनाना है तथा व्यक्ति को समाज में कलात्मक ढंग से सफल, प्रभविष्णु एवं आनन्दपूर्ण जीवन-यापन करने का पथ बताना है। उपर्युक्त विवेचन का तात्पर्य यह है कि व्यापक दृष्टि से समीक्षा के मूल्यों का आधार मानव संस्कृति का उत्तरोत्तर विकास करना है; साहित्य को सतत प्रशस्त स्वरूप प्रदान करने का प्रयत्न करना है। समीक्षा के मूल्य, संस्कृति एवं साहित्य के विकास पर लक्ष्य रखने के कारण मानव जीवन के सभी पक्षों, स्वरूपों तथा सत्यों से सम्बन्ध रखते हैं, अखिल मानवता को अपनी गोद में प्रश्रय देते हैं, साहित्य को विशिष्ट वाद, धर्म, सम्प्रदाय, जाति, देश, काल, परिस्थिति के संकीर्ण

घेरे से ऊपर उठा कर उसे सार्वभौम तथा सार्वकालिक रूप देने का प्रयत्न करते हैं।

समीक्षा के मूल्य समझने का अर्थ है किसी कृति को अच्छा या बुरा, सुन्दर या असुन्दर कहने का कारण समझना, उसकी उपयोगिता एवं महत्ता को तार्किक ढंग से स्पष्ट करना। यदि कोई समीक्षक कारण रूप में अपनी रुचि ही पेश करता है तो कोई सुनेगा नहीं; किन्तु जब वह सवसामान्य रुचि-नियमों अधिकाधिक आधार बनाकर अपना कारण कहेगा तब अधिकांश लोग उसके कारणों से अधिकांशमात्रा में सहमत होंगे। यद्यपि समीक्षक के लिये अपनी रुचि का बिल्कुल लोप करके सर्वसामान्य रुचि को अपनी रुचि बना लेना अत्यन्त कठिन है किन्तु जो भी समीक्षक रसग्रहण करते समय या निर्णय देते समय अपने पूर्वग्रह, रुचि, अरुचि, संस्कार आदि से जितना अधिक मुक्त होकर समाज की रुचि को अपनायेगा वह उतनाही आदर्श माना जायगा; उसकी समीक्षा उतनीही स्वस्थ होगी। समीक्षा के इस स्वास्थ्य तथा आदर्श में जितनी अधिक पूर्णता वह प्राप्त करेगा उतना ही अधिक वह समीक्षा के मूल्यों को पहचान सकेगा। उपर्युक्त विवेचन से यह परिणाम निकला कि समीक्षा के मूल्य की आदर्श कसौटी सर्वसामान्य रुचि है। इसी को भारतीय समीक्षकों ने सहृदय की रुचि कहा है। सहृदय की कल्पना हमारे यहाँ इतनी विशाल है कि उसमें वैयक्तिकता के लिये स्थान ही नहीं है। क्योंकि यह सहृदयता, लोक, काव्य, शास्त्र, आदि के अध्ययन तथा आवेक्षण से उत्पन्न हृदय-विशालता, वर्णनीय विषय में तन्मय होने की क्षमता, हृदय-संवादित्व, चारित्र्य, निष्पक्षपात, निर्व्यसनता, निस्संगदृष्टि पर निर्भर करती है। इस प्रकार किसी वस्तु या कृति के मूल्य-निर्णय की कसौटी सर्वसामान्य रुचि, संतुष्टि अथवा सहृदय-हृदय-संतृप्ति सिद्ध हुई। सौन्दर्य के मूल्य-निर्णय की सबसे प्राथमिक कसौटी अनुकूल संवेदना है। जो वस्तु प्रेक्षक या रसिक के मन पर अनुकूल संवेदना उत्पन्न करती है, उसे वह सुन्दर या अच्छी कहता है; जो प्रतिकूल

संवेदना उत्पन्न करती है, उसे वह असुन्दर या बुरी कहता है। इस कथन का इतना ही तात्पर्य मानकर आगे चलना है कि सौन्दर्य में अनुकूलत्व का गुण रहता है; लेकिन हम यही अर्थ लगाकर नहीं चल सकते कि जो जो वस्तु अनुकूल संवेदना उत्पन्न करे वह सुन्दर है ही, क्योंकि कभी कभी प्रेक्षक की सौन्दर्य-प्रतीति में वस्तु का सौन्दर्य कम रहता है, व्यक्ति के मन का अध्यारोपित सौन्दर्य अधिक। कोई वस्तु सुन्दर या असुन्दर है इसके कहने में समय नहीं लगता। क्यों? इसका उत्तर यही है कि अनुकूल संवेदना मिलते ही व्यक्ति उसे तुरत सुन्दर कह देता है। जब कोई व्यक्ति किसी वस्तु को सुन्दर कहता है तो प्रथमत: उसकी आकृति, रूप, रंग, समप्रमाणता पर चेतन रूप से उसकी दृष्टि नहीं जाती, अचेतन रूप से भले ही हो। वह वस्तु के पूर्ण अवलोकन जन्य अनुकूल-प्रतीति से उसे सुन्दर कहता है। वस्तु सुन्दर है, इतना ही उसे पहले प्रतीत होता है। गौर वर्ण उसे क्यों अच्छा लगता है? काला रंग वह क्यों नहीं पसन्द करता? कमल का पुष्प क्यों प्रिय है? चपटी नाक उसे क्यों खराब लगती है? उपर्युक्त प्रश्नों के उत्तर में वह यही कहेगा कि मेरा सौन्दर्यानुभव ऐसा है अथवा अधिक से अधिक वह यही कहेगा कि वह हमें भाता है, अच्छा लगता है, उसे देखकर हमें आह्लाद होता है, सुख होता है। इस प्रकार वह अपनी अनुकूल संवेदना को भिन्न भिन्न शब्दावली में व्यक्त करेगा। अनुकूल संवेदना का मानदण्ड अवस्था, शिक्षा, वातावरण, देश, काल आदि की भिन्नता के अनुसार बदलता रहता है। अनुकूल संवेदन में वैयक्तिकता अधिक बढ़ने से एक ही रसिक अपनी विभिन्न मानसिक अवस्थाओं तथा मनोवृत्तियों के अनुसार दिन प्रतिदिन अपने मूल्य-मापन का दृष्टिकोण बदलता हुआ दिखाई पड़ता है। कभी वह गान्धीवादी दृष्टिकोण से किसी कृति अथवा वस्तु का मूल्यमापन करता है तो कभी पुरानी शास्त्रीय दृष्टि से, कभी समाजवादी दृष्टिकोण से व्यक्ति और समाज का मूल्य निर्धारण करता है तो कभी साम्यवादी दृष्टि से। एक ही वस्तु, एक ही व्यक्ति को भिन्न भिन्न वय में भिन्न भिन्न प्रकार की

संवेदना उत्पन्न करती है। बच्चे को जो वस्तु बचपन में अनुकूल संवेदना प्रदान करती है वह जवानी में नहीं, जवानी में जो जो वस्तुएँ सुखद लगती थीं वे सभी वृद्धावस्था में अच्छी नहीं लगतीं। अनपढ़ स्त्रियों को जो जो आभूषण पसन्द लगते हैं वे सभी शिक्षित स्त्रियों को प्रिय नहीं लगते; पति को जो सौन्दर्य अपनी प्रियतमा में सुहाग रात में दिखाई पड़ता है, वह कभी नहीं; चीन देश में पति को अपनी स्त्री के कृत्रिम रीति से छोटे किये हुए पैर में जो सौन्दर्य दिखाई पड़ता है, वह हिन्दू पति को नहीं। वस्त्र-सौन्दर्य का जो मानदण्ड आज से दस वर्ष पहले माना जाता था वह आज नहीं माना जाता; ठीक इसी प्रकार साहित्य-समीक्षा का मानदण्ड व्यक्ति अथवा परिस्थिति की भिन्नता के कारण अलंकार, रीति, गुण, वक्रोक्ति, औचित्य, ध्वनि आदि सम्प्रदायों के कालों में भिन्न भिन्न प्रकार का रहा। यदि सभी सहृदयों का स्वभाव, संस्कार, शिक्षा, रुचि, अरुचि, रसास्वाद-काल की मनःस्थिति समान हो जाय तो सौन्दर्य-स्वरूप-निर्णय में अथवा अनुकूल संवेदना में भेद उपस्थित होने की संभावना नहीं रहेगी किन्तु सहृदयता जिन गुणों तथा विशेषताओं से निश्चित होती है उनका सभी व्यक्तियों में, सभी कालों में सभी देशों में समान होना कठिन है। फलतः सहृदयों में असमानता अथवा भेदत्व एक स्वाभाविक बात है। इस प्रकार सहृदयों की भिन्नता के अनुसार सौन्दर्य निर्णय के मूल्य माप में भिन्नता होना और भी स्वाभाविक है। उपर्युक्त विवेचन से तात्पर्य यह निकला[1] कि निरपेक्ष दृष्टि से समीक्षा का मूल्य स्थापित करना इस संसार में कठिन है, जहाँ सभी वस्तुओं का मूल्य सापेक्ष संबंध पर निर्भर करता है। किसी कृति अथवा

---

1. *The problem of value in an absolute sense is probably impossible of solution in a world, where all is relative, where our very self what we can and do, think or feel are relative to time and space.* *Problem of values*—H R. Huse.

कवि पर निर्णय देते समय किसी समीक्षक का अपने पूर्वग्रह, रुचि, अरुचि, संस्कार आदि से मुक्त होना कठिन ही नहीं, असम्भव है। आदर्श रूप में समीक्षक की निस्संगता, तटस्थता, निष्पक्षपात, पूर्वग्रहनिवृत्ति, लोकरुचि आदि की कल्पना करना ठीक है किन्तु व्यवहार या कार्य रूप में ऐसे समीक्षक के दर्शन करने की आशा करना दुराशामात्र है; क्योंकि समीक्षक अपने आदर्शों की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करता हुआ भी मानव हृदय की दुर्बलताओं से सर्वथा मुक्त नहीं हो सकता। इसीलिये सौन्दर्य के मूल्य निर्णय की कसौटी में लोकरुचि को महत्त्व देते हुए भी उसे किसी न किसी रूप में किसी सीमा तक व्यक्तिनिष्ठ मानना पड़ता है।

सौन्दर्य-मूल्य-मापन में व्यक्तिनिष्ठता के तत्त्व-प्रतिपादन का अर्थ यह नहीं कि सौन्दर्य, वस्तु के अंग, रूप, रंग, आकार, स्वभाव, गुण में नहीं बसता, वरन् व्यक्ति की मनोवृत्ति में ही बसता है या सौन्दर्य उसकी मनोदृष्टि का एक व्यापार मात्र है। यदि ऐसा होता तो बिहारीसतसई अब तक वैद्यक शास्त्र की पुस्तक बन गई होती—लोग काले वर्ण की स्त्री में गौर वर्ण देखते, कुब्जा में रम्भा का दर्शन करते, संसार में विरूपता को स्थान न मिलता, किम्बहुना मानव का दुःख कभी का नष्ट हो गया होता। यदि सौन्दर्य को द्रष्टा, ज्ञाता, या कर्ता में ही समाया हुआ मान लें तो सौन्दर्य केवल ज्ञान स्वरूप हो जायगा, फिर सौन्दर्य-मीमांसा में या उसके मूल्य-निर्धारण में ज्ञेय के विवेचन की कोई आवश्यकता ही नहीं रहेगी। यदि सौन्दर्य, व्यक्ति द्वारा वस्तु में अध्यारोपित रूप में ही रहता तो प्रत्येक रसिक को घर बैठे बैठे सौन्दर्य-शाली वस्तुयें घेर लेतीं; किन्तु जो व्यक्ति अपने अध्यारोपित सौन्दर्य की प्रतीति किसी असुन्दर या कम सुन्दर वस्तु में करते हैं, वे अपने अधीत लोक-सौन्दर्य या संसार में वस्तुओं के सौन्दर्य-निरीक्षण द्वारा संचित अनुभव से ही ऐसा करने में समर्थ होते हैं। इससे परिणाम यह निकला कि किसी रसिक के अध्यारोपित सौन्दर्य की कल्पना, उसके मन में निरपेक्ष रूप में नहीं उत्पन्न होती, प्रत्युत सुन्दर वस्तुओं के सौन्दर्य-दर्शन अथवा अध्ययन द्वारा ही उत्पन्न हुई है। उसके अध्या-

रोपित सौन्दर्य का पिता, वह व्यक्ति या उसका मन नहीं है प्रत्युत वस्तु-जगत है। वस्तु में बसा हुआ सौन्दर्य व्यक्ति की रसिकता से दिखाई पड़ता है। यदि व्यक्ति पागल हो जाय, या उसे मूर्च्छा आ जाय तो वस्तु में सौन्दर्य रहते हुए भी वह उसे दिखाई नहीं पड़ेगा; यदि उसका मन विकृत हो जाय तो उसे वही सौन्दर्य विकृत रूप में दिखाई पड़ेगा, यदि सौन्दर्य-द्रष्टा अज्ञ या मूर्ख अथवा शारीरिक-वय में कम रहा तो अनुभूति तथा ज्ञान की अल्पता के कारण रूप-सौन्दर्य अल्पमात्रा में दिखाई पड़ेगा। यदि किसी वस्तु के सौन्दर्य को कोई रसिक नहीं देख पाया या उसका मूल्य परख नहीं पाया तो इसका मतलब यह नहीं कि उसका सौन्दर्य कम हो गया या उसका मूल्य कम हो गया। गुलाब का फूल निर्जन जंगल से तोड़कर समाज में लाया गया तभी वह सुन्दर नहीं हुआ, वह सुन्दर पहले भी था, केवल समाज में आने पर सहृदय द्वारा उसके सौन्दर्य का मूल्य निश्चित हुआ। यदि ताजमहल को देखने एकाध दिन कोई न जाय तो इसका मतलब यह नहीं कि उसका सौन्दर्य कम हो गया। यदि 'कामायनी' समझने की भाषाशक्ति किसी पाठक में नहीं है तो इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि 'कामायनी' में कोई काव्य-सौन्दर्य नहीं है या समाज के लिये उसका कोई मूल्य ही नहीं है।

सौन्दर्यानुभूति के लिये सहृदय और उसका मन ही काफी नहीं है। इसके लिये वस्तु भी चाहिए क्योंकि अनुकूल संवेदनसामर्थ्य वस्तु में है, मनुष्य में नहीं; इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि एक ही वस्तु अनेक लोगों को रुचती है। यह मानते हुए भी कि भिन्न भिन्न लोगों की रुचि भिन्न भिन्न प्रकार की होती है अधिकतर यह देखा जाता है कि वे भिन्न भिन्न रुचि वाले लोग भी अधिक संख्या में एक ही वस्तु को सुन्दर कहते हैं। उसको विरूप कहने वाले अपवाद स्वरूप होते हैं और उनके विरूप कहनेका कारण उनका अविकसित मन, कम अनुभव अथवा उनका कोई मानसिक रोग रहता है। इन्द्रिय-ग्राह्य-सौन्दर्य के मूल्य-निर्धारण में मतभेद होने की कम सम्भावना रहती है किन्तु बुद्धि-ग्राह्य सौन्दर्य के मूल्य निर्धारण में मतभेद होने की सम्भावना अधिक रहती

है। सुगन्धित फूल सबको अच्छा लगता है; सुन्दर गाने में सब लोग तल्लीन हो जाते हैं; रम्यनारी के विहसित आननको सभी लोग सुन्दर कहते हैं। इस प्रकार इन्द्रिय-ग्राह्य सौन्दर्य युक्त पदार्थों के मूल्यांकन में अधिकांश लोगों की सम्मति मिल सकती है क्योंकि इन्द्रियों का सौन्दर्य ग्रहण-सामर्थ्य अधिकांश लोगों में समान रहता है। किन्तु इसके विरुद्ध बुद्धिग्राह्य सौन्दर्य के मूल्य-निर्धारण में भिन्न-भिन्न बुद्धि-विकास स्तर वाले भिन्न भिन्न सम्मति देंगे। इसीलिए एक कृति अथवा कृतिकार के मूल्यांकन में विभिन्न बुद्धि-स्तर के समीक्षक विभिन्न सम्मति रखते हुए दिखाई पड़ते हैं।

सौन्दर्य-समीक्षण के मूल्य को व्यक्ति-निष्ठ मानने वालों का एक और सम्प्रदाय है जिसे साहचर्यवादी कहते हैं। इनका कहना है कि कोई वस्तु किसी द्रष्टा को इसीलिये सुन्दर लगती है कि उसके साथ उसकी किसी अतीत स्मृति या अनुभव का साहचर्य चेतन अथवा अचेतन रूप में है। उनके अनुसार वस्तु में सौन्दर्य नहीं वरन् द्रष्टा के अनुभव या स्मृति के साहचर्य-संबंध में है। एक गान्धीवादी को कुर्त्ता, धोती, टोपी वाला वेश जितना अधिक सुन्दर या अच्छा लगता है, उतना सूट बूट वाला नहीं; क्योंकि उस वेश के साथ उसको अपने अनुभव के साहचर्य का संबन्ध दिखाई पड़ता है। किसी पुत्र को अपनी कुरूपा माता का मुख अच्छा लगता है; इसका कारण केवल उसका साहचर्य जन्य संबंध है। द्रष्टा को जिन जिन चीजों को साथ देखने की आदत पड़ जाती है, उनमें से किसी एक के न रहने पर उसे वह चीज अच्छी नहीं लगती; जैसे यदि किसी द्रष्टा को, किसी बालक को सदा टोपी के साथ देखने का अनुभव है, तो उसे वह बालक टोपी न लगाने पर उतना अच्छा नहीं लगेगा जितना टोपी लगाने पर लगता था। इसी प्रकार जो लोग शास्त्रीय लक्षणों को सर्वत्र देखने के अभ्यस्त हैं वे किसी शास्त्रीय लक्षण-शून्य कृति का ठीक मूल्यांकन नहीं कर पाते। परम्परावादी समीक्षक एक प्रकार से साहचर्यवादी ही माने जायेंगे। किसी साहचर्य-संबंध के कारण सुन्दर कही जाने वाली वस्तु की सुन्दरता का मूल्य-

माप उसके निजी सौन्दर्य के मानदण्ड से उतना नहीं होता जितना द्रष्टाकी धारणाओं, अनुभवों, विचारों, भावनाओं, आदि के मानदण्डों से होता है। इस प्रकार साहचर्यवाद के सिद्धान्तों के आधार पर किया हुआ मूल्य-माप अधूरा होगा। साहचर्य संबंध में सौन्दर्य-स्थापन की कुछ शक्ति अवश्य है किन्तु पूर्ण सौन्दर्य उपपत्ति-निर्माण की क्षमता केवल उसी में मानना भ्रमपूर्ण होगा। बाल्यकाल में जिस वृक्ष के नीचे हमने क्रीड़ायें की हैं वह हमारी सुःखद स्मृति-सम्बन्ध के कारण अनुकूल संवेदना तुरंत उत्पन्न करता है किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि प्रकृति के वे मनोरम दृश्य-खण्ड जिनसे हमारी स्मृतियों या अनुभवों का कोई सम्बन्ध नहीं, हमें सुन्दर लगेंगे ही नहीं। छोटे बालक का सुन्दर गाने से अभी कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं हुआ है किन्तु फिर भी वह संगीत की स्वर लहरी को पहले पहल सुनकर भी आनन्द विभोर हो जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध हुआ कि सौन्दये वस्तु में रहता है। किसी भी वस्तु को सौन्दर्यशाली होने के लिये अनेक तत्त्वों से सहायता लेनी पड़ती है। उसमें बाह्य तथा आभ्यन्तर—दोनों गुणों का समावेश करना पड़ता है। दोनों का संचित प्रभाव यथार्थ मूल्यनिर्धारण में क्रिया-शील दिखाई पड़ता है। फोटो में छाया और प्रकाश का, पुष्प में रंग और गंध का, संगीत में स्वर और भाव का, काव्य में अलंकृत शब्द तथा चमत्कृतिपूर्ण अर्थ का सम्यक् संयोग ही मूल्यवान सौन्दर्य की सृष्टि करता है। वस्तु के इन दोनों पक्षों को सौन्दर्यशाली होने के लिए अनेक तत्त्वों की सहायता लेनी पड़ती है। इन सभी तत्त्वों को आनुपातिक मात्रा में अपने उचित स्थान पर रहना पड़ता है। काव्य के भिन्न-भिन्न प्रकार के रूपों के अनुसार इन तत्त्वों का स्वरूप भी घटता बढ़ता रहता है। देश, काल, व्यक्ति के साथ इन तत्त्वों के महत्त्वमापन का मानदण्ड बदलता रहता है। काव्य के बाह्य पक्ष के तत्त्व—छन्द, अलंकार, गुण, रीति, वृत्ति, मंगलाचरण, सर्गसंख्या, घटना, पात्र, वस्तु-वर्णन, आदि काव्य के विभिन्न रूपों के अनुसार बदलते रहते हैं।

काव्य के सभी रूप—महाकाव्य, प्रगीतकाव्य, नाटक, कहानी, उपन्यास, निबन्ध आदि देश, युग तथा व्यक्ति के साथ अपना स्वरूप परिवर्तित करते रहते हैं। उसी प्रकार काव्य के अन्तरंग पक्ष के तत्त्व—राष्ट्रीयता, जातीयता, मानवता, संस्कृति आदि काव्य के विभिन्न रूपों के साथ ही नहीं वरन् भिन्न भिन्न देशों, युगों तथा व्यक्तियों के साथ भी अपना स्वरूप एवं परिमाण बदलते रहते हैं। अरस्तू के काव्य-शास्त्र के नियमों का पालन होमर से लेकर आज तक के किसी कवि ने नहीं किया। महाकाव्य के लक्षणों का पूर्णतया पालन वाल्मीकि से लेकर आजतक किसी भी महाकवि में पूर्णतया नहीं मिलता। महाकाव्य के लक्षणकार भी उसका लक्षण बताने में कभी एक मत नहीं रहे। प्रगीत काव्य का स्वरूप संस्कृत, हिन्दी-दोनों साहित्यों में बदलता रहा है। हिन्दी में वीरगाथाकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल, आधुनिककाल—सभी युगों के प्रगीतों में काव्य के दोनों पक्ष अपना रूप बदलते रहे हैं। आज के हिन्दी नाटकों का स्वरूप संस्कृत-नाटकों के स्वरूप से भिन्न प्रकार का है। कहानी, उपन्यास और निबन्धों ने तो अपना स्वरूप पहले से बिल्कुल ही बदल दिया है। इन सब तत्त्वों के महत्त्व का मानदण्ड भी सदा युग एवं व्यक्ति के साथ बदलता रहा है। अलंकार सम्प्रदाय के आचार्यों ने काव्य में अलंकार को सबसे मूल्यवान् तत्व माना, तो रीति के आचार्यों ने रीति को काव्य समीक्षा में सबसे मूल्यवान् तत्त्व ठहराया, आगे चलकर कुन्तक ने वक्रोक्ति के भीतर काव्य के सभी मूल्यों को समाहित करने का प्रयत्न किया तो फिर उसी काल में आनन्दवर्धनाचार्य ने ध्वनि तत्त्व को काव्य समीक्षा का सबसे उपयोगी मानदण्ड घोषित किया। कहने का तात्पर्य यह कि इन सब तत्त्वों के महत्त्व-मापन का मानदण्ड सदा से युग तथा व्यक्ति सापेक्ष्य रहा है, गणिताधिष्ठित नहीं। इसीकारण समीक्षा के मूल्यमापन एवं निर्णय में मतभेद के लिये सदा स्थान रहा है। समीक्षा के मूल्यों का व्यक्ति, समाज, सम्प्रदाय, युग, देश, वातावरण की भिन्नता के साथ सदा बदलते रहना स्वाभाविक है। फिर भी निष्कर्ष रूप में आदर्श दृष्टि से यही कहा जा सकता है कि समीक्षक

को अपनी समीक्षा में निष्पक्ष, तटस्थ, तथा स्वस्थ रहने के लिये वस्तु-निर्मिति के सौन्दर्य-नियामक तत्त्वों से अधिकाधिक योग्य परामर्श लेना चाहिये।

अब हमें वस्तु निर्मिति के सौन्दर्य नियामक तत्त्वों पर विचार करना चाहिए और देखना चाहिए कि समीक्षा के मूल्य निर्धारण में उनका क्या स्थान रहता है। किसी वस्तु या कृति के सौन्दर्य-नियामक तत्त्वों को स्थूल दृष्टि से हम तीन भागों में बाँट सकते हैं—इंद्रियगोचर गुण, बौद्धिक गुण, तथा भावनात्मक गुण। इन्द्रियगोचर गुण भौतिक मूल्य की प्रतिष्ठा करते हैं। किसी वस्तु के रूप, आकार, संयोजना, विस्तार आदि उसके इन्द्रियगोचर गुण हैं। युग, व्यक्ति तथा परिस्थिति के अनुसार इनमें भी परिवर्तन हो सकता है किन्तु इनके अस्तित्व में किसी को सन्देह नहीं। महाकाव्य या प्रगीतकाव्य के रूप, आकार, संयोजना, विस्तार आदि में कर्ता की रुचि तथा युग-प्रवृत्ति के अनुसार क्या देश क्या विदेश-सर्वत्र परिवर्तन होता रहा है। किसी ने महाकाव्य में शास्त्र निश्चित सर्गों से कम सर्ग रखा तो किसी ने अधिक; किसी ने विशद कथा का आश्रय लिया तो किसी ने लघु कथा का; किसी ने पात्रों की संख्या अधिक रखी तो किसी ने कम; किसी ने उसका रूप वस्तु प्रधान बनाया, तो किसी ने भावात्मक। समीक्षा का मूल्य उस समय एकाङ्गी हो जाता है जब समीक्षक केवल इन्द्रियगोचर गुणों को ही कसौटी मानकर किसी वस्तु या कृति की परीक्षा करने लगता है। उपर्युक्त तत्त्वों के पारस्परिक सम्बन्ध से द्वितीय कक्षा के गुण उत्पन्न होते हैं जिनका नाम हम निम्नाङ्कित ढंग से रख सकते हैं—एक रूपता, विविधता, संगति, विरोध, प्रमाणबद्धता, समप्रमाणता, संवादित्व (Communicability) शुद्धता। ये काव्य के स्थायी गुण हैं। मूल्यमापन में इनकी कसौटी अधिक शाश्वत दिखाई देती है। इन गुणों को समझने के लिये बुद्धि से सहायता लेनी पड़ती है अतः ये गुण समीक्षा के भीतर बौद्धिक मूल्य की प्रतिष्ठा

करते हैं। उदाहरणार्थ, यदि प्रबन्ध काव्यों की घटनाओं या पात्रों में पूर्वापर सम्बन्ध नहीं रहा तो काव्य में एकरूपता नष्ट हो जायगी। ऐसी अवस्था में काव्य के लक्ष्य की ओर वृत्त या पात्र अग्रसर नहीं हो सकते। महाकाव्य में छन्द की विविधता का होना आवश्यक है पर उसकी अति काव्य के सौन्दर्य को नष्ट कर देगी, जैसा केशव की 'रामचन्द्रिका' में हुआ है। काव्य के विविध तत्त्वों की परस्परानुकूल योजना से संगति नामक गुण उत्पन्न होता है। कामायनी में घटना नामक तत्त्व अन्य तत्त्वों के परस्परानुकूल नहीं है। अतः इस अभाव से महाकाव्य के सौन्दर्य में कुछ बाधा पड़ी है। महाकाव्य में नायक तथा प्रतिनायक के चरित्र में जितना अधिक विरोध रहेगा उतना ही अधिक चरित्र-चित्रण में उत्कर्ष का समावेश होगा। महाकाव्य, नाटक तथा उपन्यास में प्रमाणबद्धता की बहुत अधिक आवश्यकता है। किसी एक सर्ग, अंक अथवा संवाद की लम्बाई अधिक होने से प्रमाणबद्धता नष्ट हो जाती है। समप्रमाणता के लिये साहित्य के बहिरंग तथा अन्तरंग दोनों पक्षों पर समान ध्यान देने की आवश्यकता है। संगति, प्रमाणबद्धता, और समप्रमाणता के रहने से वस्तुसौन्दर्य में व्यवस्था नामक गुण उत्पन्न होता है। जैसे, अव्यवस्था या अराजकता से राजकीय कार्य में अनिष्ट उत्पन्न होते हैं तदवत् अव्यवस्था से सौन्दर्य क्षेत्र में भी अनेक अनिष्ट उत्पन्न हो जाते हैं; अतः समीक्षक को सौन्दर्य-समीक्षण में व्यवस्था के ऊपर भी विचार करना चाहिये। काव्य में संवादित्व नामक गुण प्रेषणीयता से आता है। प्रेषणीयता उसी कृति में अधिकाधिक रहती है जिसमें भावोद्दीपन या विचारोत्तेजन की अधिक से अधिक शक्ति हो। भावोद्दीपन या विचारोत्तेजन शक्ति का सम्बन्ध भाषा तथा अनुभूति दोनों पक्षों से है। पाठक या श्रोता में काव्य पढ़ने या सुनने से भावोद्दीपन या विचारोत्तेजन तभी सम्भव है जब भाषा इतनी कलापूर्ण हो कि वह कवि की आत्मा को व्यक्त कर सके तथा पाठकों एवं श्रोताओं को तृप्त कर सके। कवि में जब तक ऐसी भाषा-शक्ति नहीं आती तब तक वह अपनी अनुभूति को

दूसरों तक प्रेषित नहीं कर सकता। अब प्रश्न यह उठता है कि भाषा की वह कौन सी विशिष्ट शक्ति है जिससे काव्य में प्रेषणीयता आती है। भाषा की मुख्यत: चार शक्तियाँ हैं जिनसे काव्य में प्रेषणीयता आती है—अर्थ शक्ति, शब्द शक्ति, लय शक्ति तथा ध्वनि शक्ति। इस प्रकार प्रेषणीयता का संबंध काव्य के अन्तरंग तथा बहिरंग दोनों पक्षों से है। अन्तरंग पक्ष के भीतर सार्थक अनुभूति आती है तथा बहिरंग के भीतर कलात्मक भाषा। इसलिये किसी कृति का मूल्य निरूपित करते समय उसकी अनुभूति की सार्थकता तथा भाषा की कलात्मकता—दोनों पक्षों पर सम्यक विचार होना आवश्यक है।

किसी कृति में शुद्धता नामक गुण का समावेश तभी होता है जब वह भाव तथा भाषा दोनों पक्षों से निर्दोष हो। शुद्धता की मात्रा पर ही काव्य का प्रभाव निर्भर करता है। अभिनय में रंच-मात्र त्रुटि होने से अन्य तत्त्वों का प्रभाव भी जाता रहता है। कोई पात्र नाटक में बाह्य रूप-रंग से अनुकरण करने में समर्थ हो किन्तु भावात्मक अनुकरण में यदि वह असफल हो जाय तो नाटक का प्रभाव नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार काव्य में भी भाव दोष या भाषा-दोष किसी के भी आने से उसका मूल्य कम हो जाता है। कबीर की रचना में भाव अच्छे हैं पर भाषा सम्बन्धी दोष अधिक हैं इसलिये उसका मूल्य अपेक्षाकृत कम हो गया है; इसके विरुद्ध केशव की रचना में भाषा सम्बन्धी गुण बहुत से हैं किन्तु इसके साथही उसमें भाव-दोष बहुत से आ गये हैं। परिणामत: केशव की रचनाओं का साहित्यिक मूल्य कम हो गया है।

सौन्दर्य की तृतीय कक्षा के गुणों के अन्तर्गत स्वार्थनिरपेक्षता, सूचकता, नवनवोन्मेषशालीनता, गूढ़रम्यता, सादगी, संयम, भव्योदात्तता, औचित्य आदि का समावेश हो सकता है। इन गुणों के समन्वय से आदर्श सौन्दर्य की सृष्टि होती है। समीक्षा का आदर्श मूल्य इन सभी गुणों के पहचानने में है। अत: सौन्दर्य के उपर्युक्त गुणों का संक्षिप्त विवेचन यहाँ अप्रासंगिक न होगा—

हम पहले कह चुके हैं कि समीक्षा के मूल्य-–निर्धारण में उपयोगिता

का बहुत महत्त्व है। बाह्य दृष्टि से कुछ लोगों को स्वार्थ-निरपेक्षता तथा उपयोगिता में विरोध प्रतीत हो सकता है इसलिये इसकी विस्तृत व्याख्या यहाँ अपेक्षित है। स्वार्थ-निरपेक्षता का अर्थ है भौतिकस्वार्थ या संकुचित व्यवहारवादी स्वार्थ से निरपेक्षता; निरपेक्ष उपयोग-शून्यता नहीं। इसका निर्णय लोग दो दृष्टियों से करते दिखाई पड़ते हैं—व्यक्तिगत दृष्टि से तथा वस्तुगत दृष्टि से। अतः दोनों दृष्टियों से विचार करना आवश्यक है। किसी वस्तु को जब हम देखते हैं तब उससे हमें आनन्द प्राप्त होता है, लेकिन वह आनन्द सदा किसी वैयक्तिक स्वार्थ से सम्पृक्त नहीं रहता। उस वस्तु को तुरत अपनाने की या काम में लाने की ही इच्छा नहीं होती; उससे श्रोत्र या चक्षु की संतृप्ति हो सकती है; किन्तु उस वस्तु पर अपना अधिकार हो या उससे हमारा यश या सामाजिक पद बढ़े; ऐसी कल्पना हमारे मन में तुरत नहीं आती। यदि कोई इच्छा होती है तो इतनी ही कि हम उसके सानिध्य में रहें या उस वस्तु के विषय में अधिक से अधिक ज्ञान प्राप्त हो। यदि इसमें कोई सुख या स्वार्थ है तो वह मानसिक कोटि का, भौतिक या व्यावहारिक कोटि का नहीं। इसी को शुद्ध सौन्दर्य-आस्वादन कहते हैं। सीता, राम-लक्ष्मण बन को जा रहे हैं; उनके सुन्दर रूप पर मुग्ध होकर ग्रामवधुएँ उन्हें ठहरकर देखने लगती हैं। उनके सौन्दर्य-दर्शन से उन्हें इतना आनन्द मिलता है कि वे घर द्वार की सुधि भूलकर बहुत देर तक उन सबको देखती रह जाती हैं। उन्हें देखने से ही सन्तोष नहीं होता, उनके विषय में कुछ जानना भी चाहती हैं। परिचय से ही उन्हें तृप्ति नहीं होती उनके सान्निध्य में भी वे अधिकाधिक काल तक रहना चाहती हैं; इसके लिये संसार, उन्हें कुलटा या नीच, चाहे जो कहे सब सहने को तैयार हैं :—

"धरि धीर कहैं, चलु देखिय जाइ, जहाँ, सजनी, रजनी रहिहैं।
कहिहै जग पोच, न सोच कछू, फल लोचन आपन तौं लहिहैं॥
सुख पाइहैं कान सुने बतियाँ, कल आपुस मैं कछु पै कहिहैं।
तुलसी, अति प्रेम लगीं पलकैं, पुलकीं लखि राम हिये महिहैं॥"

उपर्युक्त सौन्दर्य आस्वादन का मूल्य ग्रामबधुएँ इसलिये नहीं कर रही हैं कि उससे उनका कोई स्वार्थ हल हो रहा है या कोई भौतिक कार्य सिद्ध हो रहा है वरन् इसके विरुद्ध हानि ही होने की आशंका अधिक है; पर मानसिक सुख के लिये ये भौतिक सुख की तिलाञ्जलि देने को तैयार हैं। उपर्युक्त विवेचन का तात्पर्य यह कि मानसिक सुख समीक्षा-मूल्य-निर्धारण का एक बहुत बड़ा तत्त्व है परन्तु दुःख की बात है कि आर्थिक मूल्यों की सीमा में आबद्ध आज के मार्क्सवादी समीक्षक भौतिक सुख को ही सर्व समझ कर मानसिक सुख की उपेक्षा कर रहे हैं। स्वार्थ-निरपेक्षता का विवेचन व्यक्ति-दृष्टि से भी किया जा सकता है और वह है भौतिक-उपयोग शून्यता। ताजमहल के दर्शन से कोई उपयोग तो नहीं निकलता पर उसको बराबर देखने की इच्छा क्यों होती है? प्रकृति के किसी रमणीय स्थल के दर्शन से कोई भौतिक कार्य तो नहीं सिद्ध होता पर वहाँ बार बार जाने की इच्छा क्यों रहती है? किसी सुन्दर सरिता के किनारे कोकिल-कूजित मंजरियों से लदा एक रसाल वृक्ष लहरा रहा है; वह इसलिये सुन्दर नहीं दीखता कि उसका कोई भौतिक उपयोग है। तात्पर्य यह कि भौतिक उपयोगिता तथा सौन्दर्य का कोई कार्य कारण सम्बन्ध नहीं है। कोई वस्तु सुन्दर होने के साथ उपयोगी भी हो सकती है लेकिन हम ऐसा नहीं कह सकते कि कोई वस्तु सुन्दर है इसलिये उसे उपयोगी होनी ही चाहिए या वह उपयोगी है इसलिये सुन्दर कही जानी चाहिए। यदि ऐसा होता तो मम्मट 'व्यवहारविदे' 'शिवेतरक्षतये' कहने के बाद, 'सद्यःपरनिर्वृतये' न कहते; अर्थात काव्य के मूल्य-निर्धारण की कसौटी उसके किसी भी प्रयोजन की पूर्ति में मानी जा सकती है। यदि किसी रचना में भौतिक-व्यवहार ज्ञान कराने की शक्ति न हो किन्तु वह सद्यःपरनिर्वृति या मानसिक आनन्द की उत्पत्ति में समर्थ हो तो उसे मूल्यवान कहना चाहिए। भारतीय साहित्य का सारा सिद्धान्त स्वार्थनिरपेक्षता की ही भित्ति पर खड़ा है। रसानुभूति में व्यक्तित्व का परिहार या हृदय की मुक्तावस्था, स्वार्थनिरपेक्षता ही तो है। काव्यानन्द का अर्थ व्यक्तिगत सुखभोग नहीं वरन् हृदय

की व्यक्तिबद्ध दशा से मुक्त होना है। कविता मनुष्य को उसके संकुचित अहं की सीमा से ऊपर उठा कर सामाजिक अनुभूति के उस विशद क्षेत्र में ले जाती है जहाँ वह निज के हानि, लाभ दुःख-सुख आदि को भूलकर अपनी सत्ता को समाज-सत्ता में लय कर देता है। इस दृष्टि से साहित्य के मूल्य मापन की कसौटी में स्वार्थनिरपेक्षता के महत्त्व का अर्थ है लोक सत्ता या मनुष्यता की रक्षा का महत्त्व; अर्थात् जो साहित्य मनुष्यता की रक्षा में जितना अधिक समर्थ हो वह उतना ही अधिक मूल्यवान ठहराया जाय।

सूचकता नामक तत्त्व का हमारे यहाँ ध्वनि सम्प्रदाय के अन्तर्गत काफी विचार हुआ है और वहाँ इस तत्त्व को इतना अधिक मूल्य मिला है कि ध्वनि प्रधान काव्य सर्वोत्तम माना गया। सूचकता नामक तत्त्व काव्य में प्रभावोत्पादकता की वृद्धि करता है, जो काव्य का लक्ष्य है। काव्यलक्ष्य की पूर्ति में सहायक होने के कारण समीक्षा में इसका मूल्य होना ही चाहिए।

नवनवोन्मेषशालीनता का तत्त्व सूचकता की मात्रा पर निर्भर करता है। जिस काव्य में जितनी अधिक सूचकता होगी उसमें उतनी अधिक नवनवोन्मेषशालीनता रहेगी। नवनवोन्मेषशाली कृति सब युगों में टिक सकती है। लोग प्रत्येक युग में उससे समयानुकूल अर्थ निकाल लेते है। वास्तविक मूल्य की कसौटी पर ऐसी कृतियाँ ठहर सकती हैं। हम पहले कह चुके हैं कि वास्तविक मूल्य की कसौटी समय है अर्थात् जो कृति अधिकाधिक काल तक जनता में समादृित हो सके वह सबसे मूल्यवान है। नवोन्मेषशाली कृति केवल अधिक समय तक समादृित ही नहीं रहेगी वरन् अधिक से अधिक लोगों के द्वारा प्रशंसित भी होगी। ऐसी कृतियों के लिखने में वे ही कवि समर्थ हो सकते हैं जिनमें नवनवोन्मेषशाली प्रज्ञा रहती है।

गूढ़रम्यता का अर्थ संदिग्धता या अस्पष्टता नहीं हैं, वरन् प्रकाशाप्रकाश की अवस्था हैं। बुद्धि-प्रक्रिया से सौन्दर्य-दर्शन स्पष्ट और

असंदिग्ध कोटिका होता है परन्तु हृदय या भावना की प्रक्रिया से किया हुआ सौन्दर्य-दर्शन प्रकाशाप्रकाश कोटिका ही होगा। प्रसिद्ध कवि गेटे का भी यही कहना है—"सौन्दर्य न तो निरा प्रकाश है और न निरा अन्धकार; उसमें प्रकाश तथा अंधकार दोनों का मेल है"। आशा दूर से गूढ़ रहने पर मनोहर लगती है; निकट आजाने पर उसकी मनोहरता जाती रहती है। बरसात के दिनों में पहाड़ दूर से देखने पर बहुत सुन्दर लगता है किन्तु निकट से देखने पर उतना सुन्दर नहीं प्रतीत होता। साहित्य-क्षेत्र में भी गूढ़-ध्वनि-काव्य सर्वश्रेष्ठ माना गया है। जो काव्य पाठकों को कुछ कल्पना करने के लिये सौन्दर्य सामग्री नहीं देता अर्थात् सभी तत्त्वों या परिणामों को खोल कर कह देता है वह उतना सुन्दर या प्रभावशाली नहीं होता जितना कि गूढ़ रम्य-काव्य। नाटक, कहानी, उपन्यास, काव्य सब में सब कुछ खोलकर कह देने की पद्धति अरुचिकर मानी गई है। 'प्रसाद' की कहानियाँ कला की दृष्टि से प्रेमचन्द की कहानियों से इसीलिये श्रेष्ठ हैं कि उनमें गूढ़रम्यता का तत्त्व वर्तमान है। आधुनिक महाकाव्यों में 'कामायनी' की श्रेष्ठता का एक कारण उसकी गूढ़रम्यता भी है। इसीलिये किसी कृति या वस्तु के सौन्दर्य-निर्धारण में गूढ़रम्यता के तत्त्व का विचार होना चाहिये।

संयम का अर्थ है सौन्दर्य-शास्त्र के नियमों तथा सिद्धान्तों का उचित प्रयोग। कर्ता को सौन्दर्य-निर्माण के लिये स्वतन्त्रता का अधिकार दिया गया है पर उसका दुरुपयोग स्वच्छन्दता के रूप में होने लगता है। इसलिये कर्ता को सौन्दर्य-निर्माण में स्वतंत्रता का उपयोग करते हुए संयम से काम लेना चाहिये। जैसे, महाकाव्य के नियम प्रत्येक युग में घटते बढ़ते रहे हैं पर सिद्धान्त नहीं। मानव-जीवन की पूर्णता का चित्र उपस्थित करना महाकाव्य का एक सिद्धान्त है जिसमें परिवर्तन नहीं होता। सर्ग-संख्या, पात्रों की संख्या, वस्तुविस्तार, उसमें नाटक की संधियों का प्रवेश, वर्ण्य-विषयों की विविधता आदि महाकाव्य के नियम हैं; जिनमें परिवर्तन होता रहता है। सिद्धान्त तत्त्वों के आधार पर निर्मित होते हैं और नियम व्यवहार के आधारपर। अतः किसी

काव्य में इन परिवर्तनशील नियमों का उल्लंघन देखकर उसका मूल्य घटाना नहीं चाहिए यदि उसमें सिद्धान्तों का उचित पालन हुआ है तो। काव्य में सदा बक्रता तथा गूढ़ता ही आवश्यक नहीं है उसमें भव्यतम सादगी भी वांछनीय है। सादगी का अर्थ है अलंकार रहित वाणी, सादी घटना, सरल चरित्र; इससे काव्य में विविधता आती है, पाठकों के मस्तिष्क को विराम मिलता है। रामचरित मानस में:—

"आगे चले बहुरि रघुराई। ऋष्यमूक पर्वत नियराई॥"

जैसी सीधी चौपाइयाँ भी पाठकों को बहुत रसात्मक जान पड़ती हैं। अजातशत्रु में गौतम तथा मल्लिका का चरित्र सरल होते हुए भी गूढ़ पात्रों के चरित्रों से किसी प्रकार भी कम महत्त्वपूर्ण या कम आकर्षक नहीं है।

कला के भावनात्मक गुणों में भव्यता का बहुत बड़ा स्थान है। कभी लोग सुन्दरता और भव्यता को एक ही वस्तु समझ लेते हैं; इसलिए इनका अन्तर स्पष्ट करना अवश्यक है। सुन्दर वस्तु का आकार छोटा होता है, उसमें कोमलता अधिक रहती है। भव्य का आकार विशाल होता है, उसमें प्रचण्डता और ठोसपन अधिक रहता है। सुन्दर वस्तुओं में इन्द्रियगोचर गुण अधिक होते हैं, भव्य में बौद्धिक तथा भावनात्मक। सुन्दर के दर्शन से मन का भार हलका होता है; हृदय स्वस्थ हो जाता है, किन्तु भव्य के दर्शन से मन में गंभीरता आती है; विचार, कल्पना तथा भाव को उत्तेजना मिलती है। सुन्दर पदार्थ से सान्तता का आभास मिलता है तो भव्य से अनन्तता का। इस दृष्टि से प्रगीत काव्य में सुन्दरता वांछनीय है तो महाकाव्य में भव्यता। अत: महाकाव्य का मूल्य निर्धारित करते समय उसके कथानक, संवाद, चरित्र-चित्रण, भाव-व्यंजना, भाषाशैली-सब में भव्यता का विचार करना आवश्यक है।

काव्य का सबसे व्यापक, उपादेय तथा महनीय तत्व औचित्य है। औचित्य का अर्थ है काव्य के वहिरङ्ग तथा अन्तरङ्ग तत्वों में पारस्परिक अनुरूपता तथा समानुपातिकता। 'क्षेमेन्द्र' की दृष्टि में औचित्य ही सौन्दर्य का मूल कारण है। काव्य के सभी तत्व—शब्द,

अर्थ, छन्द, लय, रीति, वृत्ति, गुण, रस आदि औचित्य के ही सन्निवेश से सुन्दर होते हैं। काव्य में जीवन-दर्शन या नीति का समावेश भी औचित्य रक्षा से ही होता है। काव्य के भीतर अलंकार, रीति, वृत्ति, गुण, छन्द, तथा रस की पारस्परिक अनुबन्धता औचित्य की ही भीत्ति पर प्रतिष्ठित है। रससिद्ध काव्य का प्राण औचित्य ही है। काव्य में चित्तविस्फारक चमत्कार औचित्य द्वारा ही उद्भूत होता है। औचित्यपूर्ण वार्ता, लोकसिद्ध वृत्त तथा लोकप्रसिद्ध पात्र नाटक के प्रयोगार्ह तत्व माने गये हैं। नाटक के अभिनय में किसी भी प्रकार का औचित्य-भंग उसके प्रभाव को नष्ट कर देता है। रस-भंग या भावाभास का कारण अनौचित्य ही है। कला सहृदयों का अनुरंजन तभी तक कर सकती है जब तक वह औचित्य से पराङ्मुख नहीं होती। रस-ध्वनि समन्वित काव्य औचित्य वर्जित होने पर आनन्दोल्लास की सृष्टि नहीं कर सकता। कोई काव्य अलंकारों से कितना भी अलंकृत क्यों न हो किन्तु यदि उसमें औचित्य का अभाव है तो उसकी सुन्दरता जाती रहती है। 'केशव' की 'रामचन्द्रिका' अलंकारों से लदी होने पर भी औचित्य के अभाव में उतनी सुन्दर नहीं हो सकी जितने अलंकार रहित औचित्यपूर्ण काव्य सुन्दर हुए। भावों के अनुकूल उचित छन्दों तथा पदों की योजना न होने पर भाव व्यंजना उतनी प्रभावशाली नहीं होती जितनी कि भाव के अनुकूल छन्दों तथा पदों के साथ रहने से होती है। 'जायसी' का युद्ध-वर्णन भावानुकूल छन्दों तथा पदों की योजना के अभाव में खिल नहीं सका। 'कामायनी' में भावों तथा विचारों के अनुकूल कथा में विराटता न होने के कारण महाकाव्य की भव्यता में कमी आ गई। भाषा, दृश्य, संगीत, स्वगत कथन आदि तत्वों में औचित्य का निर्वाह न होने के कारण 'प्रसाद' के नाटकों में अभिनेयता की कमी हो गई। उपर्युक्त विवेचन का तात्पर्य यह कि काव्य-सौन्दर्य की सृष्टि में औचित्य सबसे व्यापक यथा महनीय तत्व है। इस लिये काव्य-समीक्षण में औचित्य का बहुत बड़ा महत्व है। इस पर विचार किये बिना काव्य का ठीक मूल्य-निर्धारण नहीं हो सकता।

उपसंहार रूप में यह कहा जा सकता है कि किसी वस्तु या कृति को मूल्यवान बनाने में उसके इन्द्रियगोचर, बौद्धिक तथा भावनात्मक गुणों के सभी तत्त्वों का सम्यक् योग है। अतएव किसी कृति या वस्तु के मूल्यमापन के समय उपर्युक्त तीनों कक्षाओं के सभी गुणों का विचार करना आवश्यक है।

सामान्य जीवन में समीक्षा शक्ति की आवश्यकता तथा महत्त्व

हमारे देश के लिए यह पुनर्निर्माण का युग है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पुनर्निर्माण की अनेक योजनायें बन रही हैं। उन पर अनेक प्रकार के विचार विमर्श हो रहे हैं, उनको कार्यान्वित करने के लिए योजना-कमीशन भी संघटित किये जा रहे हैं, किन्तु खेद की बात है कि उन पर व्यावहारिक दृष्टि से विचार कम हो रहा है। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि इस अव्यावहारिकता का कारण क्या है? इसका सीधा उत्तर यही है कि अधिकांश विचारक अथवा कमीशन-संचालक अपने-अपने क्षेत्रों में मूल जड़ को न पकड़ कर पल्लवग्राही बन रहे हैं। इस पल्लवग्राहिता का मूल कारण खोजने पर यही जान पड़ता है कि कि उन विचारकों अथवा रचनात्मक कार्यकर्ताओं में से अधिकांश व्यक्ति अपने अपने विभाग अथवा स्थान के लिए अनुपयुक्त हैं। वे अपने देश की परिस्थिति, प्रकृति, आवश्यकता, आदर्श, संभावना आदि से अपरिचित हैं; उनकी योग्यता, प्रकृति अथवा स्वभाव, उस क्षेत्र अथवा स्थान के लिए जिस पर वे आसीन हैं, अनुपयुक्त है। वे उस स्थान, पद अथवा क्षेत्र में तत्सम्बन्धी किसी विशिष्ट शक्ति, योग्यता, आदर्श योजना रखने के कारण नहीं पहुँचे हैं वरन् अपने किसी निजी सम्बन्ध, परिचय, पहुँच, सुविधा, अवसर, दलबन्दी, गुटबन्दी आदि के कारण पहुँचे हैं। इसका परिणाम यह हो रहा है कि जहाँ उनसे आशा थी कि वे अपने अपने क्षेत्र में स्वेच्छा से राष्ट्र निर्माण तथा विकास के लिए सुझाव पेश करेंगे; नवीन वातावरण का निर्माण करेंगे; उस क्षेत्र की कठिनाइयों, दोषों, कमियों, समस्याओं पर सहृदयता से विचार करेंगे तथा उनको दूर करने के लिए व्यावहारिक साधन तथा उपाय बतायेंगे,

वहाँ रचनात्मक कार्य की बात तो दूर रही जनता की आवाज़ भी अनसुनी की जा रही है, उसकी सामान्य आवश्यकताओं, माँगों तथा सुझावों का अहम-तृप्ति की वेदी पर बलिदान हो रहा है। स्वतंत्र होने के पहले हम यह स्वप्न देख रहे थे कि जब हम आज़ाद होंगे; जब हम अपने भाग्य बिधाता बनेंगे; जब देश-निर्माण का अवसर हम अपने हाथों में पायेंगे, तब हम फिर एक बार अपने देश में रामराज्य स्थापित करेंगे; इसे फिर सोने की चिड़िया बनायेंगे; विश्व से उसे जगद्गुरु की पदवी दिलायेंगे, किन्तु उस स्वर्णिम अवसर के हाथ आने पर हम उसके मूल्य को पहचानने में असमर्थ हो रहे हैं; हम उसकी क़ीमत चुकाने में निकम्मापन दिखा रहे हैं; राष्ट्र की सर्वाङ्गीण उन्नति के स्थान पर हम अपने अहम की रंगरेलियों को ही उपास्य बनाने में संलग्न हैं; हम अपने को जीवन के सच्चे समीक्षक राष्ट्रपिता गांधी के अनुयायी घोषित कर अहर्निशि छल-छद्म, काले बाज़ार, हिंसा, शोषण आदि में मग्न हो रहे हैं। रामराज्य क़ायम करने का व्रत लेकर देश की गरीबी, भूखमरी, नग्नता, अज्ञान, शोषण आदि को भी मिटाने में असमर्थ हो रहे हैं; देश की शासन विधि एवं पद्धति को सिक्यूलर (धर्म-निरपेक्ष) घोषित करके भी जातीयता, साम्प्रदायिकता, प्रान्तीयता, संकुचित धार्मिकता आदि को पनपने के अवसर, साधन, वातावरण आदि नष्ट करने में सचाई नहीं बरत रहे हैं, गान्धीजी के साथ वर्ग-विहीन समाज स्थापित करने का शपथ लेकर भी प्रत्येक क्षेत्र में नाना प्रकार के वर्ग, भेद, अन्तर स्थापित किये जा रहे हैं; अमीरी और गरीबी पहले सेभी अधिक बढ़ रही है, पूँजीपति पहले से भी अधिक धनी बनते जा रहे हैं, ग़रीब पहले से भी अधिक ग़रीब होते जा रहे हैं। हम, राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त कर लेने पर भी, सच्ची स्वतंत्रता की साध्यभूमि मानसिक स्वतंत्रता से वंचित किये जा रहे हैं। जब तक स्वतंत्रता के लक्ष्य—स्वतंत्र चिन्तन, स्वतंत्र विचारणा, स्वतंत्र निर्णय, स्वतंत्र कार्यपद्धति आदि के विकास एवं प्रस्तार के साधन तथा पथ सर्व-सामान्य को सुलभ नहीं किये जाते तब तक हमारी जनतंत्रात्मक

शासन-प्रणाली केवल काग़जों पर शासन विधान बनाने से सफल नहीं हो सकती। जब तक भारत के प्रत्येक व्यक्ति में किसी वस्तु या व्यक्ति के विषय में स्वतंत्रसम्मति या स्वतंत्र निर्णय देने की शक्ति उत्पन्न नहीं होती तब तक हमारे देश में हर तरह के चुनाव झूठे प्रलोभनों, मिथ्या आकर्षणों, भयंकर आतंकों, अवास्तविक प्रचारों से लड़े जायँगे और तब तक सभी प्रकार के चुनावों में वे ही व्यक्ति सफल होंगे जो उपर्युक्त साधनों में सबसे अधिक सम्पन्न एवं समर्थ होंगे। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि ऐसे अनधिकारी व्यक्ति शासन-सम्बन्धी किसी प्रकार की सत्ता या शक्ति प्राप्त करने पर उसका दुरुपयोग करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं करेंगे। जनता में जब तक समीक्षा शक्ति नहीं जगती तब तक उसमें किसी वस्तु को देखने, समझने, सोचने, अनुभव करने की स्वतंत्र शक्ति उत्पन्न नहीं हो सकती और तब तक उसका मत-दान, स्वतंत्र-निर्णय-शक्ति के अभाव में अधिकारी व्यक्ति को नहीं मिल सकता, वरन् वह अनधिकारी व्यक्ति द्वारा मिथ्या प्रलोभनों, आतङ्कों तथा प्रचारों के बल पर खरीदा जायगा।

समीक्षा-शक्ति के अभाव में विश्व के सभी देशों के अधिकांश राजनीतिज्ञों का विश्वास मानव जीवन की उदात्त वृत्तियों से उठ गया है। उनकी पार्थिव-क्षुधा, भौतिक-एषणा एवं अहमहमिका की भूख व्याकुल होकर आध्यात्मिक क्षुधा की उपेक्षा कर रही है। वे अपने लेखों, व्याख्यानों, संस्थाओं, संघटनों, परिषदों आदि में मानवता के महान आदर्शों—साम्य, स्वातंत्र्य, भ्रातृत्व, विश्व-शान्ति, विश्वसुख, मानव संस्कृति, मानव धर्म आदि की डींग हाँकते हुए दिखाई पड़ते हैं, किन्तु वह सब अपने बड़प्पन के प्रदर्शन के लिए अथवा अपने ऊँचे आदर्शों के शाब्दिक इन्द्रजाल से दूसरे राष्ट्रों को विभ्रम में डालने के लिए। उन्हें यह स्मरण रखना चाहिए कि वे अपने खोखले आदर्शों के शाब्दिक इन्द्रजाल को बिछा कर अपने राष्ट्र को थोड़ी देर तक भले ही ठग लें तथा विश्व के अन्य राष्ट्रों के समक्ष महान बनने का मिथ्या दम्भ कुछ काल तक भले ही भर लें किन्तु यदि उनमें समीक्षा शक्ति पूर्ण रूपेण

नहीं जगी तथा तदनुकूल आचरण करने की शक्ति नहीं आई तो वे अपने को तथा अपने राष्ट्र को कुछ काल पश्चात् पतन की ऐसी गहरी खाईं में गिरा देंगे जहाँ से उस राष्ट्र को कई शताब्दियों तक उठना असम्भव नहीं तो दुष्कर अवश्य हो जायगा।

आज राजनीति ने जीवन के सभी क्षेत्रों—शिक्षा, साहित्य, व्यापार, अर्थ, धर्म, अध्यात्म आदि को आच्छादित कर लिया है। समीक्षा शक्ति के अभाव में राजनीति का वातावरण दूषित हो गया है; उसका कुप्रभाव जीवन के उपर्युक्त सभी क्षेत्रों पर दिखाई पड़ रहा है। विश्व के अधिकांश राजनीतिज्ञ अनुदात्त भावनाओं से प्रेरित होकर उस क्षेत्र में पहुँचे हैं; अत: अहं-संतृप्ति में संलग्न होना उनके लिए स्वाभाविक है; यदि वे विश्व-जीवन को असत् धागे में झूलता हुआ मान बैठे हैं तो कोई आश्चर्य करने की बात नहीं; यदि वे अपनी संकुचित राष्ट्रीय अथवा वैयक्तिक वासना की संतृप्ति में रत हैं तो विस्मय करने की कोई आवश्यकता नहीं; यदि वे स्वतंत्रता और एकता का अर्थ अपने अपने लक्ष्यों की पूर्ति लेते हैं तो कोई आशातीत वस्तु नहीं; यदि वे शान्ति का अर्थ अपने मन की अभीप्सित बातों की पूर्ति लेते हैं तो कोई दु:ख करने की चीज़ नहीं; यदि वे मानवता या मानवहित की बातें जिह्वा तक ही रखते हैं तो कोई असंगति पूर्ण बात नहीं; क्योंकि जनता ने उन्हें अपनी समीक्षा शक्ति के बल पर नहीं चुना, और जो चुने गये वे उस क्षेत्र के लिए उपयुक्त समीक्षा-शक्ति रखने के कारण नहीं वरन् किसी अन्य सुविधा, अवसर अथवा वासना पूर्ति की इच्छा के कारण।

आज इस अनादि अनन्त जीवन पर विज्ञान, धर्म, नीति, आचार-व्यवहार, भौतिक, आध्यात्मिक आदि अनेक दृष्टिकोणों से प्रकाश डाला जा रहा है; सर्वत्र ऊहापोह, तर्क-वितर्क, आविष्कार, अनुसन्धान द्वारा एक नवीन युग के निर्माण का नारा लगाया जा रहा है, किन्तु सम्यक-समीक्षा-शक्ति के अभाव में जीवन के प्रश्नों, समस्याओं, कठिनाइयों के ऊपर एकाङ्गी दृष्टि से प्रकाश डालने के कारण अनेक

अतिवादों का जन्म हो रहा है और वे अतिवाद, समीक्षा शक्ति के अभाव में जीवन-सिद्धान्त या दर्शन बनकर मानवता के ऊपर नाना प्रकार के आवरण डाल रहे हैं। समीक्षा के अभाव में सत्य, तर्क-करों का छुई मुई बन रहा है, वह बुद्धि के क्रीड़ा पञ्जर का शृंङ्खलाबद्ध शुकबन गया है। आज अधिकांश मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक, शिक्षाशास्त्री, धर्म सुधारक अपने किसी पूर्वग्रह से गृहीत हो अपने पूर्वनिश्चित या पूर्व गृहीत सिद्धान्तों या मतों के प्रतिपादन तथा पुष्टि में अपनी बुद्धि का जादू नाना प्रकार से दिखला रहे हैं। वैज्ञानिक, समीक्षा शक्ति के अभाव में भौतिक ऐश्वर्य पर मुग्ध हो ऐन्द्रिक सुखों को सर्व समझ कर, भौतिक शक्तियों को ही हस्तगत करने में संलग्न हैं। वे दूरदर्शिता के अभाव में भूतशक्तियों को ही मानव कष्टों तथा असफलताओं का कारण समझ कर उनकी विजय में अपना सारा बुद्धि-वैभव दिखा रहे हैं। जीवन की आत्मिक शक्ति एवं आन्तरिक महत्ता को समझने का प्रयत्न किये बिना ही, उससे उदासीन होकर मानव जीवन के बाह्य अंगों, भौतिक क्षेत्रों एवं पार्थिव विभागों को ही संगठित करते हुए मानव के लिए एक नवीन कारा निर्मित कर रहे हैं। समीक्षा शक्ति के अभाव में हमारी शिक्षण-संस्थायें उपाधियों एवं डिग्रियों की हाट बन रही हैं; शिक्षाधिकारी समीक्षा के अभाव में शिक्षा के किसी एक ध्येय—नागरिक दक्षता या सामाजिक निपुणता, अथवा जीविकोपार्जनक्षमता को शिक्षा का सर्व सत्य समझ रहे हैं। इसी के अभाव में पिता बालक को केवल अपनी वैयक्तिक सम्पत्ति समझ उसके व्यक्तित्व के विकास की उपेक्षा कर उसे अपनी जीविकार्जन का एक मशीन बना रहा है; अध्यापक विद्यार्थियों में क्रियाशून्य ज्ञान की पम्पिङ्ग कर रहा है, शिक्षा के यांत्रिक साँचे में उसे ढालने का भगीरथ प्रयत्न कर रहा है, परीक्षा की फैक्टरी से मास प्रोडक्शन करना अपना ध्येय समझ रहा है। बालक समीक्षा-शक्ति के विकास के अभाव में शिक्षा का उद्देश्य—अपनी विविध शक्तियों—शारीरिक, मानसिक, नैतिक, आध्यात्मिक आदि का विकास न समझ कर तोते की रामधुन बना रहा है। राष्ट्रीय सरकारें भी इस शक्ति के अभाव में

शिक्षा का प्रबन्ध शासन-सौकर्य की दृष्टि से ही अधिक कर रही हैं, बालक की विशिष्ट वधायक-शक्ति अथवा उसके व्यक्तित्व-विकास की दृष्टि से कम। समीक्षा-शक्ति के विकास के अभाव में साहित्य का अध्ययन वाग्जाल है, तो समीक्षा-शास्त्र का अध्यापन प्राचीन समीक्षकों की उक्तियों की उद्धरणी मात्र; इतिहास का अध्ययन गड़े मुर्दों का उखाड़ना है, तो भूगोल का शिक्षण कुछ महाद्वीपों, देशों, स्थानों, नगरों, आदि की जानकारी मात्र; अर्थशास्त्र की शिक्षा अर्थ के उत्पादन, उपभोग, विनिमय तथा विभाजन का लेखा जोखा मात्र है, तो राजनीति का अध्ययन शासक तथा शासित के विभिन्न प्रकार के सम्बन्ध-सूत्रों का शाब्दिक ज्ञान। इसीलिए शिक्षार्थी में समीक्षा—शक्ति का विकास करना सत्-शिक्षा का सार माना गया है और बालक में समीक्षात्मक प्रवृत्ति उत्पन्न करना शिक्षक का प्रथम कर्तव्य। बालक में समीक्षा-शक्ति के विकास की सम्भावना को अस्वीकार करने का अर्थ है शिक्षा के अस्तित्व को अस्वीकार करना।

साम्प्रदायिक धर्म-प्रेमी समीक्षा शक्ति के अभाव में धर्म के विषय में एकाङ्गीदृष्टिकोण रखने के कारण, धर्म, समाज या जाति की रीति, नीति, रूढ़ि-परम्परा, मान्यता, मूल्य आदि पर देश, काल, तथा परिस्थिति की दृष्टि से कार्य-कारण-संबंध-ज्ञान द्वारा उसकी उपयोगिता-अनुपयोगिता, आवश्यकता-अनावश्यकता पर सोचने में असमर्थ हो रहे हैं; और इस वैज्ञानिक युग में भी वे अन्ध-विश्वासों, निर्मूल प्रथाओं, निरर्थक रीति-नीतियों, जर्जरित रूढ़ियों तथा प्राणहीन परम्पराओं के बंधन से मुक्त नहीं हुए हैं। वे धर्म के वाह्य रूपों, कृत्यों, विधिविधानों की अन्ध-उपासना में लीन हैं। समीक्षा शक्ति के अभाव में उनमें आज तक स्वतंत्र विचार की शुद्ध बुद्धि तथा स्वस्थ भावनायें उत्पन्न न हो सकीं। इसी लिये वे 'मूढ़ः परप्रत्ययनेय बुद्धिः' के भागी होते हुए भी लकीर के फकीर बनने में गौरव तथा गर्व का अनुभव कर रहे हैं; मिथ्या धर्म तथा जाति के नाम पर देश का गला घोंट रहे हैं; कितने निरीह प्राणियों की आयेदिनों नृशंसता पूर्ण हत्या कर रहे हैं; कितने महात्माओं को

बन्दूक तथा तलवार के घाट उतार चुके हैं और अब भी उतारने में संकोच नहीं कर रहे हैं।

अध्यात्मवादी समीक्षा शक्ति के अभाव में मनोजगत के रहस्यों से दूर हो, असीम जीवन-शक्ति के अनन्त स्पर्शों से भरी विश्वचेतना की साकार-रूप-परिणति की चेष्टाओं तथा प्रयासों से उदासीन हो आत्मा-परमात्मा, स्वर्ग-नरक, मुक्ति-पुनर्जन्म, पाप-पुण्य आदि अनेक छाया-सत्यों को सर्व समझते हुए दुर्गम-वास्तविकताओं को देखने में असमर्थ तथा असफल हो रहे हैं। मानव का आध्यात्मिक गौरव उसके स्वतंत्र व्यक्तित्व, मौलिक रचनात्मक शक्ति एवं स्वतंत्र चिन्तन के ऊपर निर्भर है। वह गतानुगतिक या परप्रत्ययनेय होने पर मूढ़ की संज्ञा को प्राप्त हो जाता है। यदि स्वतंत्र व्यक्तित्व का विकास, मौलिक रचनात्मक शक्ति का प्रादुर्भाव तथा उत्कर्ष एवं स्वतंत्र चिन्तन का प्रसार न हो तो सृष्टि में 'सत्यं' 'शिवं, 'सुन्दरम्' का अस्तित्व तथा विकास नष्ट हो जायगा; दर्शन, संस्कृति, साहित्य, कला आदि का विकास अवरुद्ध हो जायगा और जगत असत्य, अशिव, तथा असुन्दर पदार्थों से परिपूर्ण होकर जीवन को नारकीय बना देगा। समीक्षा के अभाव में किसी भी प्रकार की चिन्तन शक्ति नहीं आसकती; और उसके अभाव में मनुष्य अपने सभी अभ्यासों तथा कार्यों कोसहज प्रवृत्तियों (instincts) द्वारा संचालित करेगा। समीक्षा शक्ति को विकसित किये बिना व्यक्ति अपनी मौलिक सर्जनात्मक शक्ति तथा उसके मूल्य एवं महत्ता को समझ ही नहीं सकता; तब भला उसका विकास कैसे करेगा।

समीक्षा में जीवन को सर्वाङ्गीण दृष्टि से समझ कर चिरन्तन सत्यों को पहचानने तथा समझने का तटस्थ प्रयत्न रहता है। इस प्रकार समीक्षा जीवन में तटस्थ भावना, अनासक्त दृष्टि, निष्पक्ष बुद्धि तथा निर्लिप्तता को बढ़ाती है। समीक्षा तथा तटस्थ वृत्ति में अन्योन्याश्रय संबंध है। यदि जीवन में समीक्षा जन्य तटस्थ वृत्ति आजाय तो दैनिक जीवन के राग-द्वेष, लाभ-हानि, यश-अपयश आदि में विशेष आसक्ति

नहीं होगी; फलतः अहमहमिका जन्य सुख तथा दुःख से नष्ट होनेवाली जीवन-शक्ति का अपव्यय नहीं होगा। जीवन में जो लोग वैमनस्य, घृणा, द्वेष, आसक्ति आदि हृदय की अनुदात्त वृत्तियों में फँसे रहते हैं उनमें समीक्षा शक्ति का अभाव ही समझिये। अतः यदि मानव को सर्जनात्मक वृत्तियों का विकास करना है, यदि संसार में दुख का अभाव अभीष्ट है, यदि व्यक्ति के जीवन में पूर्णता साध्य है तो समीक्षा शक्ति का विकास जीवन की सभी दिशाओं, क्षेत्रों तथा संस्थाओं में आवश्यक है।

मानव को अपूर्णता से पूर्णता की ओर लेजाने वाली प्रवृत्ति में, नर से नारायण बनने की शील-साधना में, मानव जीवन में 'सत्यं, शिवं, सुन्दरं' की सतत् खोज के चिर प्रयासों में, समाज के चिरन्तन आदर्शों, मूल्यों एवं सिद्धान्तों के निर्माण में, व्यष्टि तथा समष्टि के संयम-नियम तथा संस्कारों में, भौतिक तथा आध्यात्मिक अनुसन्धानों के परिशीलन में समीक्षा शक्ति के ही कारण मनुष्य को सफलता मिलती जा रही है। यदि मनुष्य को समीक्षा-शक्ति न मिली होती तो वह भी आज अन्य जंगली जानवरों की ही स्थिति में रहता। वह सत्-असत्, उचित-अनुचित, शुभ-अशुभ, नीति-अनीति, यथार्थ-अयथार्थ, धर्म-अधर्म के विवेचन तथा निर्णय में समर्थ न हुआ होता। वह शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक उत्कर्षों की दौड़ में यहाँ तक न पहुँचा होता। वह ललित तथा उपयोगी कलाओं के आविष्कार तथा संस्कार में सफल न हुआ होता। वह अपनी भाषा तथा साहित्य की उन्नति में यहाँ तक न पहुँचा होता। वह भी कहीं किसी जंगल में अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिये अभ्यास तथा मनोवेग के बल पर आहार, भय, तथा मैथुन की ही चेष्टाओं में सीमित रहा होता। निष्कर्ष यह कि मनुष्य को वन्य अवस्था से आधुनिक शिष्ट तथा संस्कृत अवस्था में लाने का श्रेय उसकी समीक्षा शक्ति को ही है।

विज्ञान ने यह बात सिद्ध कर दी है कि हम अपनी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा जो थोड़ा बहुत ज्ञान प्राप्त करते हैं वह दोष रहित तभी हो सकता है जब

हममें समीक्षण शक्ति हो। एक ही दशा या परिस्थिति में भी विभिन्न समीक्षण शक्ति वाले व्यक्ति विभिन्न प्रकार का ज्ञान उपार्जन करते हैं। संसार में सभी प्रकार के अविश्वासों, बलात्कारों, मिथ्याचारों, दम्भों, अशान्तियों, व्यक्तिगत झगड़ों, गृहयुद्धों, विश्वयुद्धों, दुखों, बीमारियों आदि का मूल कारण समीक्षा शक्ति का अभाव है।

जिस व्यक्ति, जाति या समाज में जितनी ही अधिक मात्रा में समीक्षा शक्ति रहेगी वह जीवन की पूर्णता को उतनी ही दूर तक देखने में समर्थ होगा, वह उतनी ही अधिक मात्रा में जीवन में स्वास्थ्य, सौन्दर्य तथा मंगल लाने में समर्थ होगा। हिन्दू समाज में जब उच्च कोटि की समीक्षा शक्ति वर्तमान थी तब वह विश्व में उत्तम कोटि के साहित्य तथा दर्शन की रचना में समर्थ हुआ। ज्यों-ज्यों उसमें समीक्षा शक्ति का लोप होता गया त्यों त्यों उसका दर्शन, साहित्य तथा जीवन-स्तर गिरता गया। तात्पर्य यह कि किसी व्यक्ति, जाति या समाज का पतन-उत्थान, अपूर्णता-पूर्णता, असफलता-सफलता समीक्षा-शक्ति की ही न्यूनाधिक मात्रा पर निर्भर है।

मानव का वर्तमान जीवन बहुत ही जटिल हो गया है। वह पग पग पर प्राण-नाशक यातनाओं से भरा है। यदि कोई व्यक्ति पर्याप्त समीक्षा-दृष्टि नहीं रखता तो उसके अस्तित्व अथवा सत्ता में पग पग पर शंका बनी रहेगी। ऐसे भयानक खतरों के समय में कभी-कभी दूसरों से सम्मति लेने का अवसर मिलता है, कभी नहीं। यदि सम्मति लेने का अवसर भी रहा तो समीक्षण शक्ति के अभाव में यह पहचानना कठिन हो जाता है कि किसकी सम्मति ग्राह्य है, किसकी अग्राह्य; किसकी मन्त्रणा शुभ भावना से प्रेरित है और किसकी अशुभ भावना से। आत्मविश्लेषण, आत्मनिरीक्षण तथा आत्मनिर्णय की शक्ति समीक्षा के अभाव में कभी नहीं आ सकती।

समीक्षा-शक्ति से जीवन में दूरदर्शिता बढ़ती है। इसके अभाव में कोई व्यक्ति भविष्य की परिस्थितियों, समस्याओं तथा कठिनाइयों का अनुमान नहीं कर सकता और उनके अनुमान के अभाव

में अपने भविष्य के प्रश्नों का समाधान नहीं ढूँढ़ सकता। जिसमें जितनी अधिक समीक्षा शक्ति रहती है वह उतना ही अधिक भविष्य का चित्र समझने में समर्थ होता है और वह उतनाही अधिक भविष्य की सम्भावित अशुभ घटनाओं तथा विपत्तियों के लिये सतर्क तथा सजग हो जाता है। इस प्रकार समीक्षा शक्ति द्वारा जीवन में सतर्कता, सजगता तथा तत्परता बढ़ती है तथा आगामी दुखों से निवृत्ति तथा भावी सुखों की समृद्धि सम्भावित होती है। समीक्षा शक्ति द्वारा हम भविष्य की कल्पना करने में समर्थ होते हैं और फिर उस कल्पना के ही आधार पर भविष्य की योजनाएँ बनाते हैं। इस प्रकार समीक्षा शक्ति के विकास से कल्पना शक्ति, निर्णय शक्ति तथा योजना शक्ति—तीनों का विकास होता है।

समीक्षा शक्ति ही व्यक्ति को किसी राष्ट्र या समाज के नायक बनने की क्षमता प्रदान करती है क्योंकि नायक वही व्यक्ति हो सकता है जो अतीत, वर्तमान तथा भविष्य तीनों को अधिक से अधिक यथार्थ रूप में समझने की शक्ति रखता है। इस प्रकार समीक्षा शक्ति और नेतृत्व शक्ति का एक दूसरे से घनिष्ट संबंध है। समाज में नेतृत्व का जन्म तभी होता है जब किसी विशिष्ट व्यक्ति के विशेष गुणों का घात प्रतिघात इस प्रकार हो कि समाज की विचारधारा तथा कार्यदिशा सामूहिक रूप में उस एक व्यक्ति द्वारा परिवर्तित या परिचालित होती दिखाई दे। किसी भी समाज का नेता अपने विशिष्ट व्यक्तित्व की प्राप्ति अपने उन्हीं व्यावहारिक आचारों तथा गुणों से प्राप्त करता है जिनके द्वारा वह समाज के अन्य व्यक्तियों से पूर्ण तादात्म्य स्थापित करने में सफल होता है। समाज में उसका तादात्म्य दो प्रकार के व्यक्तियों से होता है; एक तो वे जो समाज की दृष्टि में उससे बड़े हैं; दूसरे वे लोग जो उससे व्यक्तित्व में निम्न स्तर के हैं। जिस नेता में जितनी अधिक तादात्म्य शक्ति होगी वह उतना ही अधिक अपने से ऊँचे एवं अनुकरणीय व्यक्तियों से तादात्म्य स्थापित कर उनके विशिष्ट गुणों को ग्रहण करने में समर्थ होगा अर्थात् उनके अनुगमन में उतना ही अधिक वह सफल होगा। दूसरी ओर

तादात्म्य शक्ति के बल पर ही वह अपने अनुयायियों की आवश्यकता, कठिनाई तथा आशा को समझने में समर्थ होगा। फलतः एक ओर तो वह अपने से योग्यतर व्यक्तियों का अनुकरण कर अपने व्यक्तित्व को ऊँचा बनायेगा और दूसरी ओर अपने अनुयायियों को कठिनाई से बाहर निकाल कर उनका विश्वासपात्र बनेगा; उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन तथा मार्ग बतला कर उनका उपकारक सिद्ध होगा और उनकी आशा के अनुकूल अपना चरित्र बना कर उनकी उपासना का पात्र बनेगा। यह तादात्म्य शक्ति किसी व्यक्ति में उसकी समीक्षा शक्ति की न्यूनाधिक मात्रा के अनुसार ही न्यूनाधिक होती रहती है। यहाँ समीक्षा शक्ति का संबंध ज्ञान, भावना तथा इच्छा—तीनों शक्तियों के समन्वय से है, क्योंकि केवल ज्ञान होने से ही कोई व्यक्ति अपने से श्रेष्ठ व्यक्ति का अनुकरण नहीं कर सकता। अनुकरण के लिये प्रेरणा देने वाली, भावना शक्ति है; और प्रेरणा को कार्यान्वित करने वाली है इच्छा शक्ति। अतः यदि शिक्षा संस्थाओं को राष्ट्र के लिये योग्य नेताओं की सृष्टि अभीष्ट है, तो उन्हें शिक्षा का ध्येय, विद्यार्थियों के भीतर समीक्षा शक्ति का अधिकाधिक विकास करना बनाना चाहिए।

जिसके हृदय में परप्रतीति की जितनी अधिक मात्रा होगी वह उतना ही अधिक समीक्षा के सामीप्य को प्राप्त कर सकेगा। सभी धर्मों, दर्शनों, साहित्यों तथा सभी प्रकार की सामाजिकता, नागरिकता, एवं राष्ट्रीयता का सार तत्व पर-प्रतीति ही है। परप्रतीति अहमहमिका को त्यागे बिना नहीं आ सकती और परप्रतीति आये बिना हम दूसरों की अनुभूतियों का अनुभावन नहीं कर सकते। दूसरों की अनुभूतियों का अनुभावन किये बिना हम किसी वस्तु, समाज या वृत्ति को यथार्थ रूप में समझ नहीं सकते। समाज के सभी कष्टों, विषमताओं तथा शोषणों का मूल कारण समाज के व्यक्तियों में परप्रतीति का अभाव है। यदि हमें समाज के कष्टों, विषमताओं तथा शोषणों को मिटाना है तो सबसे पहले उस समाज के व्यक्तियों में परप्रतीति की भावना को विकसित करना होगा। पर प्रतीति की भावना व्यक्ति में तभी विकसित होगी जब वह

समीक्षण शक्ति द्वारा यह समझने में समर्थ होगा कि मनुष्य अकेले ही अपने सभी सुखों का सम्पादन नहीं कर सकता। परप्रतीति के अभाव के ही कारण समाज में पूँजीवाद, सामन्तवाद, नाजीवाद आदि का जन्म होता है तथा व्यक्ति के हृदय में काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ आदि कुप्रवृत्तियों का प्रवेश होता है। अतः यदि समाज से पूँजीवाद, सामन्तवाद, नाजीवाद आदि शोषणकारी प्रवृत्तियों को दूर करना है तथा व्यक्ति के मन से काम, क्रोध, मद्मोह, लोभ आदि कुप्रवृत्तियों को दूर करने का प्रयत्न अभीष्ट है तो अहमहमिका वृत्तिका दमन आवश्यक है किन्तु इस कुवृत्ति का दमन समीक्षा शक्ति के अभाव में कभी सम्भव ही नहीं, क्योंकि समीक्षा शक्ति के आये बिना कोई अहमहमिका वृत्ति के दुष्परिणामों को समझ ही नहीं सकता, उसका दमन करना तो दूर रहा।

उपर्युक्त विवेचन का तात्पर्य यह कि समीक्षा शक्ति मनुष्य की कल्पना, अनुभूति तथा चिन्तन को विराट, व्यापक तथा महान करती है; जीवन के पोषक तत्वों को प्रत्येक स्थान से ग्रहण करने में समर्थ बनाती है; व्यक्ति की रुचि-अरुचि, इच्छा-अनिच्छा, आदर्श आदि का परिचालन ठीक दिशा में कराती है; दृष्टिकोण में विशदता लाती है, आनन्द को प्रकाशित करती है, सहिष्णुता को बढ़ाती है, व्यक्तित्व को धनी बनाती है, अन्धविश्वास, अन्धश्रद्धा तथा अन्धानुकरण को कम करती है। समीक्षा शक्ति के द्वारा ही प्रज्ञा शक्ति प्राप्ति होती है जिससे किसी वस्तु का आन्तरिक महत्त्व, प्रयोजन तथा सन्देश ठीक प्रकार से समझ में आने लगता है। समीक्षा शक्ति से हीन व्यक्ति किसी वस्तु को देखते हुए भी उसे ठीक तरह से देख नहीं सकता, किसी व्याख्यान को सुनते हुए भी उसे ठीक तरह से समझ नहीं सकता, किसी नाटक को देखते हुए भी उसका ठीक प्रकार से आस्वादन नहीं कर पाता, किसी कविता को पढ़ते या सुनते हुए उसका यथोचित मूल्यांकन नहीं कर पाता, समाज में रहते हुए भी अपनी या उसकी कमियों तथा आवश्यकताओं को ठीक तरह से समझ नहीं सकता, अनेक प्रकार के अवसरों को पाकर भी उन्हें पहचानने में समर्थ नहीं हो सकता। जीवन

में प्रत्येक दिन, प्रत्येक क्षण, प्रत्येक घटना, प्रत्येक व्यक्ति एक नवीन संकेत तथा सन्देश लेकर आते हैं किन्तु इसे वे ही लोग पहचान सकते हैं जिनमें समीक्षा-शक्ति का विकास हुआ है। अन्त में सारांश रूप में यह कहा जा सकता है कि मानव जीवन में अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष की प्राप्ति; दैहिक, भौतिक तापों का शमन; लोकैषणा, वित्तैषणा तथा दारैषणा की यथोचित संतृप्ति, भौतिक तथा अध्यात्मिक सुख एवं साफल्य की प्राप्ति समीक्षा शक्ति के ऊपर ही निर्भर है; किन्तु दुख के साथ कहना पड़ता है कि अभी हमारी शिक्षा का उद्देश्य समीक्षा शक्ति के विकास से बहुत दूर है; जिन कक्षाओं में समीक्षा का अध्यापन स्वतंत्र विषय के रूप में कराया जाता है वहाँ भी उसका जीवन से संबंध-सूत्र विच्छिन्न रहता है। उसका अध्ययन विद्यार्थी इस रूप में करते हैं कि वे अधिकांशतः "शास्त्राणि अधीत्य भवन्ति मूर्खाः" को ही चरितार्थ करते हैं; क्रियावान पण्डित विरले ही दिखाई पड़ते हैं।

———

साहित्य में समीक्षा की आवश्यकता

सिद्धान्त तथा व्यवहार, आदर्श एवं अभ्यास, दर्शन तथा आचार की दृष्टि से समीक्षा के दो भेद माने जाते हैं—सैद्धान्तिक समीक्षा तथा व्यावहारिक समीक्षा। साहित्य में समीक्षा की आवश्यकता को व्यवस्थित ढंग से समझने के लिये सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक समीक्षा की आवश्यकताओं पर अलग अलग विचार करना चाहिए। साहित्य का सम्बन्ध कवि, पाठक, समीक्षक एवं संस्कृति से होने के कारण समीक्षा का सम्बन्ध उनसे अपने आप हो जाता है; अतः यहाँ पर कवि, पाठक, समीक्षक एवं संस्कृति के लिये समीक्षा की आवश्यकताओं पर अलग अलग विचार करना आवश्यक है। उपर्युक्त क्रम के अनुसार सबसे पहले कवि के लिये सैद्धान्तिक समीक्षा की आवश्यकता पर विचार करना चाहिए। इस विषय में प्राचीन तथा नवीन मतों के सम्बन्ध में विचार करने के साथ साथ स्वतन्त्र मत भी आवश्यकतनुसार दिया जायगा। भारतीय साहित्य में सैद्धान्तिक समीक्षा का सबसे प्राचीन नाम क्रियाकल्प* ही कवि के लिए सैद्धान्तिक समीक्षा की आवश्यकता एवं उपयोगिता को भलीभाँति स्पष्ट कर रहा है। भारतवर्ष में अति प्राचीन काल से कवि-धर्म के सिद्धान्तों, आदर्शों, तत्त्वों, मार्गों, पद्धतियों विधानों एवं प्रक्रियाओं को समझाने के लिए सैद्धान्तिक समीक्षा की रचना होती आई है। संस्कृत साहित्य शास्त्र में भरत, भामह, वामन, मम्मट, क्षेमेन्द्र, राजशेखर, हेमचन्द्र, विश्वनाथ, पं० राज जगन्नाथ आदि ने तथा हिन्दी में केशवदास, भिखारीदास, पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, पं० रामचन्द्र शुक्ल आदि ने कवि के व्यक्तित्व निर्माण में सैद्धान्तिक समीक्षा का अध्ययन आवश्यक बतलाया है। भारतीय आचार्यों ने कवि के व्यक्तित्व

---

* क्रियाकल्प इति काव्यकरणविधिः, काव्यलकार इत्यर्थः।
त्रितयमपि (अभिधान, छन्दस् और अलंकार) काव्यक्रियाङ्ग,
परकाव्यावबोधार्थं च। (जयमंगल)

निर्माण के लिए मुख्यतः तीन तत्त्वों का उल्लेख किया है—प्रतिभा[१], व्युत्पत्ति तथा अभ्यास। सैद्धान्तिक समीक्षा अथवा साहित्यविद्या का समावेश व्युत्पत्ति[२] के भीतर किया जाता है। कवि के व्यक्तित्व निर्माण में प्रतिभा को मूल कारण माननेवाले आचार्य भी काव्य-हेतुओं का वर्णन करते समय शास्त्र[३], साहित्यविद्या[४], विद्वत्कथा[५], बहुश्रुतता[६], काव्योपदेश,[७] गुरु उपदेश आदि का उल्लेख करके सैद्धान्तिक समीक्षा के अध्ययन की आवश्यकता सिद्ध कर गये हैं। राजशेखर, क्षेमेन्द्र आदि ने तो प्रतिभा के अभावमें भी कविशिक्षा-उपदेश आदि द्वारा कवि बनना संभव बतलाकर कवि के लिए सैद्धान्तिक समीक्षा की आवश्यकता बहुत ही व्यापक रूप में प्रतिपादित की है। राजशेखर की दृष्टि में कवि-शक्ति तीन प्रकार की होती है—सहजा, उत्पाद्या तथा औपदेशिकी। कहने की अवश्यकता नहीं कि उत्पाद्या तथा औपदेशिकी शक्तियों के अर्जन में सैद्धान्तिक समीक्षा के अध्ययन, श्रवण आदि का बहुत बड़ा स्थान रहता है।

१—काव्यानुशासन (हेमचन्द्र)

२—लोकशास्त्रकाव्येषु निपुणता व्युत्पत्तिः। (हेमचन्द्र)

३—शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्। काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे। (मम्मट)

४—लोकोविद्याप्रकीर्णञ्च काव्याङ्गानि। (वामन)

५—स्वास्थ्यं प्रतिभाऽभ्यासो भक्तिर्विद्वत्कथा बहुश्रुतता।
स्मृतिदार्ढ्यमनिर्वेदश्च मातरोऽष्टौ कवित्वस्य। (काव्य मीमांसा राजशेखर)

६—सक्ति कवित्त बनाइबे की जिहिं जन्म-नक्षत्र में दीनी बिधातैं।
काव्य की रीति सिखी सुकबीन सों देखी सुनी बहु लोक की बातैं।
दासजू जामें इकत्र ये तीनि रहैं कविता बनै रोचक तातैं॥
(भिखारी दास)

७—कविकंठाभरण—प्रथम कक्षा। (मधुसूदनी टीका)

८—साऽपि त्रिविधा सहजाऽऽहार्यौपदेशिकी च। (काव्यमीमांसा)

काव्यमीमांसा में कवित्त—उत्पत्ति की बारह १२ [1] मातायें निर्धारित की गई हैं जिनमें दो—विद्वत्कथा तथा बहुश्रुतता के नाम से अभिहित हैं। इन दोनों का सम्बन्ध सैद्धान्तिक समीक्षा से है। क्षेमेन्द्र ने कविकंठाभरण [2] में अकवि के कवि बनने की शिक्षा, साधन आदि का विस्तार से वर्णन किया है। वामन [3] की दृष्टि में भी कला-तत्त्वों का सम्यक् ज्ञान किये बिना कोई कवि सुन्दर कलाकृति का निर्माण सम्यक् ढंग से नहीं कर सकता। दण्डी कला के तत्त्व, स्वरूप, प्रक्रिया, प्रयोजन, शैली, भेद, गुण, दोष आदि से परिचित हुए बिना कविकर्म में लीन होने वाले कवि को अन्धा [4] कहते हैं। उनकी सम्मति में ऐसे कवि, सौन्दर्य के विभिन्न रूपों एवं भेदों की सर्जना अपनी कलाकृति में नहीं कर सकते। जो कवि साहित्य शास्त्र या सैद्धान्तिक समीक्षा का अध्ययन किये बिना ही काव्य-रचना में प्रविष्ट होगा उसकी रचना में कुकवित्त्व रहेगा या वह ग्राम कविता का रूप धारण कर लेगी अथवा वह नाना प्रकार के दोषों से दूषित हो जायगी। कुकवित्त्व से कविता में स्थायित्व [5] या अमरता का प्रवेश नहीं हो सकता। इस कुकवित्त्व से बचने के लिये साहित्य के आचार्यों ने कवि को एक ही दवा [6] बतलाई है—वह है साहित्य-शास्त्र या सैद्धान्तिक समीक्षा का सम्यक् अध्ययन। प्राचीन काल में मुद्रण कला के अभाव में सैद्धान्तिक समीक्षा सम्बन्धी ग्रन्थों के सुलभ न होने पर कवियों के लिए काव्योपदेश, बहुश्रुतता, विद्वत्कथा

१—काव्यमीमांसा पृष्ठ—१५६

२—(कविकंठाभरण) प्रथमकक्षा

३—नहि कलातत्त्वानुपलब्धौ कलावस्तु सम्यक् निबद्धुं शक्यमिति। (वामन)

४—किमन्धस्याधिकारोऽस्ति रूपभेदोपलब्धिषु (दण्डी)

५—कुकवित्वं पुनस्साक्षान्मृतिमाहुर्मनीषिणः। (काव्यालंकार) भामह

६—कटुकौषधवच्छास्त्रमविद्या व्याधिनाशनम्।
आल्हाद्यमृतवत्काव्यमविवेकगदापहम्॥ (काव्यमीमांसा)।

आवश्यक ही नहीं अनिवार्य मानी गई थी। इसीलिए संस्कृत तथा हिन्दी के पुराने कवियों के विषय में गुरुओं से उपदेश या शिक्षा लेने की कथा प्रचलित है। उर्दू के पुराने शायर भी अपने उस्तादों से इस्लाह लिये बिना मजलिस में अपनी शायरी नहीं सुनाते थे। अंग्रेजी साहित्य में भी कवि के लिए साहित्य शास्त्र या सैद्धान्तिक समीक्षा का अध्ययन आवश्यक माना गया है। प्रसिद्ध समीक्षक कालरिज की दृष्टि में[१] कोई व्यक्ति गंभीर तथा महान दार्शनिक हुए बिना कवि नहीं हो सकता। यहाँ दार्शनिक का अर्थ केवल जीवन दर्शन के ज्ञाता से ही नहीं वरन् साहित्य-दर्शन के ज्ञाता से भी है और उसकी दृष्टि में साहित्य-दार्शनिक बनने के लिए कवि को सैद्धान्तिक समीक्षा का अध्ययन करना आवश्यक है। उसने अपने इस विचार को आगे चलकर बहुत स्पष्ट कर दिया है। कालरिज की सम्मति में[२] कवि वही है जिसने प्रथम शान्ति से अध्ययन करके, गंभीरता से चिन्तन करके, सूक्ष्मता से समझ करके उपार्जित ज्ञान को अपने दैनिक जीवन के व्यवहार, अभ्यास, भावना एवं विचार की सामग्री बना लिया है। कालरिज के इस कथन से यह विदित होता है कि पश्चिमी देशों की कवि-विषयक अति प्रचलित उक्ति "कवि[३] जन्म से पैदा होते है, बनाये नहीं जाते' सर्वांश रूप में सत्य नहीं है। प्रसिद्ध कवि शेली की दृष्टि में[४] कवि केवल संगीतात्मक भाषा के रचयिता ही नहीं होते वरन् वे जीवन क व्यावहारिक नियमों के निर्माता, सभ्य समाज के स्थापनकर्ता तथा जीवन

---

१ *No man was ever yet a great poet, without being at the same time a profound Philosopher.* —Coleridge

२ *"The poet" he said' was one who had first studied patiently, meditated deeply, understood minutely, till the knowledge becomes habitual and intuitive wedded itself to his habitual feeling*

Coleridge

३ *Poets are born not made*

४ *Poets are not only authors of language and music but they are the institutors of laws and founders of civil society and inventors of the art of life and the teachers who draw in to a certain propinquity with the Beautiful and the True.* —Shelley

की कला के आविष्कर्ता होते हैं और वे एक प्रकार के शिक्षक होते हैं जो 'सत्यं' 'सुन्दरं' की सन्निधि प्राप्त करने में समर्थ होते हैं। सैद्धान्तिक समीक्षा के ज्ञान के अभाव में कवि सभ्य समाज, जीवन के नियम, कला, 'सत्यं' 'सुन्दरं' आदि का ज्ञान ही नहीं प्राप्त कर सकता; उनमें नवीन आविष्कार कैसे करेगा। यही कारण है कि साहित्य-दर्शन से अपरिचित कवि अपनी रचनाओं में अपनी रुचि, इच्छा, वासना, वृत्ति, आदर्श, जीवन-धारणा आदि का वर्णन करते हुए जीवन की कला की विरूपता का ध्यान नहीं रख सकते; जीवन के नियमों की अवहेलना पर दृष्टिपात नहीं कर सकते; अपनी उत्कट भावनाओं की अभिव्यक्ति के प्रवाह में सामाजिकता के हनन पर कभी विचार नहीं कर सकते तथा अपनी पूर्वग्रह ग्रहीत प्रवेगपूर्ण वेदनाओं की बाढ़ के चित्रण में 'सत्यं' 'शिवं' 'सुन्दरं' की हत्या की सुधि नहीं ले सकते।

जो कवि की सृष्टि को सर्वथा स्वतन्त्र, मौलिक एवं आत्यन्तिक दृष्टि से नवीन मानते हैं; और इसी आधार पर उसके लिए किसी प्रकार के अध्ययन, ज्ञान आदि की आवश्यकता नहीं समझते; उन्हें विश्व-कवि रवीन्द्र-नाथ टैगोर के निम्नाङ्कित कथन पर ध्यान से विचार करना चाहिए :—

The beauty of poem is bound by strict laws, yet it transcends them. The laws are its wings. They do not keep it weighed down They carry it to freedom. Its form is in law but spirit is in beauty. Law is a first step towards freedom and beauty. (किसी कविता का सौन्दर्य दृढ़ नियमों से निर्मित होता है, तब भी वह उनसे परे रहता है। काव्य के नियम, सौन्दर्य के पंख हैं जो उसे भारावनत नहीं करते वरन् स्वतन्त्रता की ओर ले जाते हैं। काव्य-सौन्दर्य का बाह्यरूप नियमों में प्रतिष्ठित है किन्तु उसकी आत्मा सौन्दर्य में बसती है। काव्य-नियम, सौन्दर्य तथा स्वतन्त्रता की ओर ले जाने वाले प्राथमिक चरण हैं।) उपर्युक्त उद्धरण से यह स्पष्ट हो गया कि कवि अपनी रचना का मौलिक सौन्दर्य भी नियमों की सहायता के बिना निर्मित नहीं कर सकता और काव्य-नियमों के अभिज्ञान के लिये साहित्यशास्त्र या सैद्धान्तिक समीक्षा

का अध्ययन या श्रवण आवश्यक है। मेरे इस कथन का यह भी तात्पर्य नहीं कि सैद्धान्तिक समीक्षा पढ़ने से ही कोई अच्छा कवि हो जायगा अथवा किसी भी प्रकार से साहित्य शास्त्र का अध्ययन करने से वह महान कवि बन जायगा। मेरा तात्पर्य यहाँ इतना ही है कि सैद्धान्तिक समीक्षा का वैज्ञानिक अध्ययन कवि के जीवन का अंग बनने पर उसकी कला-कृति को सुन्दर तथा महनीय बना सकता है। रीतिकालीन कवियों का साहित्य-शास्त्र या सैद्धान्तिक समीक्षा सम्बन्धी अध्ययन वैज्ञानिक नहीं था, केवल अन्धानुकरण या अहंतृप्ति के रूप में था, आचार्यत्व की उपाधि धारण करने के लिये था; काव्य के शरीर तथा आत्मा को यथातथ्य रूप में पहचानने के लिये नहीं। इसका परिणाम यह हुआ कि उस काल में समीक्षा और साहित्य दोनों का स्वरूप संकीर्ण तथा विकृत हो गया। रीतिकालीन सैद्धान्तिक आलोचना से न तो हम साहित्य समझ सकते हैं और न जीवन ही। रीतिकालीन आचार्य संस्कृत-साहित्य-शास्त्रियों के कन्धों पर खड़े होकर हमें संस्कृत साहित्य-शास्त्र की भी चिन्तन राशि नहीं दिखा सके। अनुवाद करने पर भी उनका ध्यान साहित्य के स्थूल रूपों की ही ओर गया, उसके सूक्ष्म तत्त्वों पर वे दृष्टिपात नहीं कर सके। सैद्धान्तिक समीक्षा के वैज्ञानिक अध्ययन के अभाव में कविता, जीवन से विच्छिन्न होकर विलासियों के मनोविनोद का साधन बन गई। कवियों की मनोवृत्तियाँ संकीर्ण हो गईं, उनकी रुचियाँ विकृत हो गईं। इसीलिये कवि रूप में उनसे जीवन में उतारने लायक साहित्य का न तो सृजन हुआ और न आचार्य रूप में उनसे ऐसे साहित्य-सर्जना की प्रेरणा ही मिली। आधुनिक युग में नई रंगत के कवियों ने किसी भी प्रकार की प्राचीनता तथा सिद्धान्त आदि से अरुचि रखने के कारण प्राचीन साहित्य-शास्त्र या सैद्धान्तिक समीक्षा के अध्ययन आदि को हेय समझ अपनी नवीनता तथा स्वच्छन्दता की झोंक में शेली, बायरन; कीट्स, वर्ड्सवर्थ आदि विदेशी कवियों की भावनाओं को ही नहीं वरन् शब्दावलियों को भी हिन्दी मे उतारने का प्रयत्न किया; नवीनता के प्रवाह में आकर भारतवर्ष के विषयों, समस्याओं, आदि

को छोड़ कर विदेशी जीवन के वादों, समस्याओं आदि को अपनाने का स्वाँग किया। वे भारतीय काव्य-पद्धतियों को छोड़कर विदेशी काव्य-पद्धतियों तथा साहित्य-ढाँचों को अपनाने की नकल करने लगे। नवीनता की रुचि यहाँ तक बढ़ी कि कवि लोग छन्द का बन्धन तोड़-कर केवल नाद के आधार पर छोटी बड़ी पंक्तियों का प्रयोग करने लगे, मनमानी पदावली में अपना राग अलापने लगे, तुकान्त रचना से विराग दिखाने लगे। विदेशी वादों की नकल इतनी बढ़ी कि हिन्दी साहित्य में छायावाद, रहस्यवाद, दुःखवाद, निराशावाद, पलायनवाद, मार्क्स-वाद, फ्रायडवाद, कलावाद, प्रगतिवाद आदि वादों की बाढ़ आ गयी। प्रगीत काव्य की अनेक कृतियों में कवियों के प्रेमियों या प्रेमिकाओं का संयोग, वियोग, पूर्वराग, स्वप्न आदि का वर्णन; बीच में कहीं कहीं दो एक स्थानों पर अनन्त, असीम आदि शब्दों से युक्त होने पर रहस्य-वाद या छायावाद के नाम से घोषित होने लगा। कुछ कवि सिर पर वेदना का भार लेकर, कुछ निराशा के भीतर साँस लेते हुए, कुछ दुःख के संसार में अपनी बस्ती बसाते हुए, कुछ आँसुओं के नद में स्नान करते हुए तथा कुछ क्षितिज के उस पार जाते हुए दिखाई पड़े तथा कुछ पंछियों का बाना धारण कर काल्पनिक लोक में बिहार करने लगे। कुछ कवि देश की पराधीनता, अन्याय, अत्याचार, गरीबी, हिंसा आदि के कारण रोषाविष्ट होकर अपने असंस्कृत क्रोध को इतना बढ़ाये कि वे समाज, देश, संसार सबको भस्म करने की ईश्वर से प्रार्थना करने लगे, सबको प्रलय करने का आह्वान करने लगे। गद्य पद्य दोनों की रचनाओं पर विदेशी साहित्य के व्यक्तिवैचित्र्य का प्रभाव पड़ा। जैसे जैसे राजनीतिज्ञों ने विदेशों के मनोवैज्ञानिक, सामाजिक या राज-नीतिक वादों; सिद्धान्तों आदि का प्रयोग या आरोप इस देश पर किया वैसे वैसे यहाँ के कवियों तथा साहित्यकारों ने भी बिना छान बीन किये ही उनका आरोप या प्रयोग हमारे साहित्य पर किया। अँगरेजी भाषा के अनुकरण के आधार पर लाक्षणिक प्रयोग तथा गूढ़ प्रतीकों की संख्या इतनी अधिक बढ़ी कि कविता में अर्थ-परम्परा का ठीक ठीक

पता लगाना कठिन हो गया। यदि इन कवियों ने सैद्धान्तिक समीक्षा के वैज्ञानिक अध्ययन द्वारा साहित्य के स्वस्थ स्वरूप का अनुशीलन किया होता तो कदाचित् उनसे साहित्य-सर्जना में उपर्युक्त प्रकार की भूलें न हुई होतीं।

जिस प्रकार स्वस्थ जीवन-निर्माण के लिये स्वस्थ जीवन-दर्शन का अभिज्ञान आवश्यक है उसी प्रकार स्वस्थ साहित्य सर्जना के लिये स्वस्थ साहित्य-दर्शन का चिन्तन। यद्यपि यह बात ठीक है कि पहले इस सृष्टि पर जीवन बना होगा तब उसके आधार पर जीवन-दर्शन; उसी प्रकार साहित्य या काव्य पहले बना, तब उसके आधार पर साहित्य-दर्शन; अर्थात् जिस प्रकार जीवन-दर्शन का विकास जीवन के आधार पर हुआ उसी प्रकार साहित्य-दर्शन काविकास भी लक्ष्य ग्रन्थों तथा जीवन-विकास केआधार पर हुआ; किन्तु उपर्युक्त कथन से मेरा यह भी तात्पर्य नहीं है कि जीवन-दर्शन सदा जीवन के पीछे पीछे चलता है या केवल जीवन के साथ; नहीं; यदि जीवन दर्शन को मार्ग विलोकन की दृष्टि देना अभिप्रेत है तो उसे जीवन का आधार लेते हुए उससे आगे भी चलना पड़ेगा। ठीक उसी प्रकार साहित्यदर्शन या साहित्यशास्त्र को मार्ग विलोकन की दृष्टि देने के लिये साहित्य का आधार लेते हुए भी उससे आगे चलना होगा। उसे प्रस्तुत तथा भावी साहित्यकारों के लिये मार्ग ही नहीं तैयार करना पड़ेगा वरन् उनका गन्तव्य भी बताना पड़ेगा। इसीलिये साहित्य-दर्शन के सिद्धान्त, आदर्श, ध्येय आदि इतने व्यापक होने चाहिए कि जो अधिक से अधिक मात्रा में सार्वभौम तथा सार्वकालिक सिद्ध हो सकें। सामाजिक जीवन की गति विधि में परिवर्तन उपस्थित होने पर सर्जनात्मक साहित्य की गति विधि तथा पद्धति में कुछ परिवर्तन उपस्थित होता है और तदनुसार काव्य-शास्त्र के नियमों, उपनियमों में भी कुछ परिवर्तन, परिवर्द्धन होता है किन्तु साहित्य के कतिपय मूल सिद्धान्त, जीवन के मूल सिद्धान्तों की तरह स्थिर रहते हैं। काव्य-सौन्दर्य की इन्द्रियगोचर कक्षा के गुण—आकार, रूपरेखा, संयोजना, विस्तार आदि कर्ता की रुचि तथा युग—परिस्थितियों के

अनुकूल बदलते रहते हैं। इसमें स्वतंत्रता एवं मौलिकता दिखाने का अधिकार कवि को है किन्तु इस अधिकार-प्रयोग की उचित दिशा के जानने में सैद्धांतिक समीक्षा उसकी सहायता करती है। काव्य सौन्दर्य की द्वितीय कक्षा के गुण अर्थात् बौद्धिक गुण—एक-रूपता, विविधता, संगति, विरोध, प्रमाणबद्धता समप्रमाणता, संवादित्व, शुद्धता; तथा भावात्मक कक्षा के गुण—स्वार्थनिरपेक्षता, सूचकता, गूढ़रम्यता, नव-नवोन्मेषशालीनता, संयम, सादगी, भव्योदात्तता, औचित्य आदि स्थिर रहते हैं। इनकी सम्यक् प्रयोग-विधि का ज्ञान शास्त्रानुशीलन किये बिना ठीक ठीक नहीं हो सकता। यहाँ पर स्मरण रखने की बात यह है कि कवि की अन्य शक्तियों के अभाव में साहित्य शास्त्र या सैद्धान्तिक समीक्षा के अध्ययन मात्र से ही कोई महान कवि नहीं बन सकता। हाँ, कवि सम्बन्धी अन्य शक्तियों के रहने पर सैद्धान्तिक समीक्षा का अध्ययन उसे काव्य सम्बन्धी दोषों से बचा सकता है, विषय की सूक्ष्मता एवं शुद्धता की उपलब्धि में समर्थ बना सकता है, काव्य-कौशल एवं निपुणता के प्रयोग की उचित पद्धति, रीति एवं शैली बता सकता है। कुछ आचार्य नामधारी कवियों के शास्त्रीय पांडित्य-प्रदर्शन की भद्दी रीतियों एवं भूलों को देखकर जो साहित्य-शास्त्र के अध्ययन को काव्य-रचना में अनुपयोगी कहकर उससे विरत हो रहे हैं, वे बुध नहीं कहे जा सकते।

अंग्रेजी साहित्य के प्रसिद्ध समीक्षक आर्नोल्ड ने कवि के लिए समीक्षक या समीक्षा की आवश्यकता तथा उपादेयता पर विचार करते हुए समीक्षक को[1] कवि के मन तथा आत्मा का निर्माता बतलाया है। उसकी दृष्टि में कवि तथा लेखक की बौद्धिक[2] सामग्री सामाजिक या साहित्यिक समीक्षक के द्वारा समाज में तैयार की जाती है। प्रभावशाली[3]

---

1. *Critic shapes the mind and soul of the poet* —Arnold.

2 *The intellectual material of the poet is made ready for him by the professional critic.* Arnold.

3 *The powerful critic plays his part in fertilizing the soil and in watering the young plant.* *Essays in Criticism*—Arnold

समीक्षक कवि या लेखक की विचार-भूमि को उपजाऊ बनाता है, प्रारम्भिक नवयुवक कवियों की प्रतिभा को सुसंस्कृत करता है, उनके भाव क्षेत्र को विस्तृत तथा परिष्कृत करता है। समीक्षक या समीक्षा की आवश्यकता तथा उपयोगिता पर विचार करते हुए एक स्थान पर उन्होंने इसे और अधिक प्रभावशाली भाषा में स्पष्ट कर दिया है। उसे[१] उन्हीं के शब्दों में देखिए:—कारयित्री शक्ति विचार या भाव तत्त्वों से कार्य करती है। प्रत्येक विषय के भव्यतम विचार या भाव जिनको उस युग का साहित्य स्पर्श करता है; उस युग के समीक्षकों द्वारा प्रदान किये जाते हैं। भावी युग के शेक्सपीयर तथा वर्डसवर्थ का मानसिक भोजन तथा पोषक सामग्री समीक्षक तैयार करता है तथा समाज में उनका प्रचार करता है। इस प्रकार समीक्षक समाज में ऐसा वातावरण[२] तैयार करता है जिससे कृतिकार को काव्य-रचना की प्रेरणा मिल सके। इसमें सन्देह नहीं कि आर्नोल्ड की उपर्युक्त उक्तियाँ बहुत ही काव्यात्मक तथा अतिरञ्जित हैं पर उनसे इतना तथ्य तो अवश्य ही निकलता है कि सैद्धान्तिक समीक्षा का अध्ययन कवियों के लिए बहुत उपयोगी है।

अब साहित्य शास्त्रियों की उक्तियों पर विचार करने के पश्चात् इस विषय में मानस-शास्त्रियों के मतों पर भी विचार करना आवश्यक है। आधुनिक मनोविज्ञान शास्त्र[३] किसी भी प्रकार के व्यक्तित्व-निर्माण के लिए तीन तत्त्वों को आवश्यक मानता है—आनुवंशिकशक्ति, वाता-

---

1 *The elements with which the creative power works are ideas—the best ideas on every matter which literature touches, current at the time; who provides these elements, these nourishing ideas, food for Shakespeare and Wordsworth of the future? Arnold replied "The critic." It is he who discovers the ideas and it is he who propogates them.*

2 *Critic prepares the social atmosphere which will stimulate the artist*
—Arnold

३ *There are three factors which count much in the development of the personality of every individual, namely, Heredity, Environment and Will power.*
—Nunn.

वरण तथा इच्छा शक्ति। कवि के व्यक्तित्व-निर्माण में क्रियाशील तत्त्वों को भी हम इन्हीं उपर्युक्त तीन तत्त्वों के भीतर समाहित पाते हैं; अर्थात् प्रतिभा का समावेश आनुवंशिक शक्ति के भीतर, व्युत्पत्ति का वातावरण के भीतर तथा इच्छाशक्ति का अभ्यास के भीतर किया जा सकता है। प्रत्येक[१] व्यक्ति अपने गर्भस्थित काल के प्रथम क्षण से ही अपने माता पिता के जीवाणुओं द्वारा विश्व की इच्छाओं, कार्यों, घटनाओं, स्थितियों आदि के प्रति एक विशिष्ट प्रकार के अभिज्ञान, अनुभूति प्रवृत्ति एवं प्रतिक्रिया ग्रहण करने की जन्म-जात शक्ति अथवा स्वाभाविक प्रकृति लेकर उत्पन्न होता है। यह शक्ति भिन्न भिन्न व्यक्तियों में भिन्न भिन्न प्रकार की होती है। इसी विशिष्ट आनुवंशिक शक्ति[२] के कारण वह व्यक्ति किसी विशिष्ट विषय से विशेष प्रकार की रुचि रखता है; किसी विशेष परिस्थिति में विशिष्ट प्रतिक्रिया प्रगट करता है, किसी विशिष्ट व्यक्ति या स्थिति से विशिष्ट कोटि का प्रभाव ग्रहण करता है। यह आनुवंशिक[३] शक्ति व्यक्ति की उन संभावनाओं, विकास-परिधियों तथा दिशाओं को निश्चित करती है जो आगे चलकर उचित वातावरण द्वारा प्राप्त की जाती हैं। यदि[४] इस विशिष्ट आनुवंशिक शक्ति को उचित वातावरण नहीं मिला तो वह प्रसुप्त हो जाती है अथवा उसका विकास बहुत निम्नकोटि का होता है। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक हेलवेटस (Helvetius)

---

1. *Every human being at the moment of conception receives an inherited legacy of a certain natural disposition—a native endowment of capacities for knowledge, feeling and tendencies towards volitions and actions which varies with each individual.*

—Mc· Dougall

2. *The hereditory constitution gives the capacity to react in a particular way to any given circumstances,* —Mc. Dougall.

3. *Heredity sets the limits to the possibilities which shall be realized by the environment* —Woodworth

4 *The inherent abilities of child remain dormant due to the back of opportunities for development.* —Bagley·

और कैन्डोल (Candolle) भी कई देशों के कई परिवारों के व्यक्तियों के व्यक्तित्वों के अध्ययन के पश्चात् इसी परिणाम पर पहुँचे हैं कि बच्चे के व्यक्तित्व-विकास में आनुवंशिक शक्ति का स्थान बहुत ही गौण है तथा वातावरण का बहुत ही मुख्य। प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री लॉक, रूसो तथा हर्बार्ट भी व्यक्तित्व के निर्माण में वातावरण के तत्त्व को सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बताते हैं। आज का प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक युङ्ग दावे के साथ यह कहते हुए सुनाई पड़ता है कि मुझे सामान्य मानसिक स्तर का कोई भी स्वस्थ बच्चा दीजिए, आप की जो इच्छा हो वह मैं उसे उचित वातावरण द्वारा बना सकता हूँ। मानस-शास्त्रियों के उपर्युक्त मतों में मनोविज्ञान की प्रक्रिया द्वारा यह परिणाम निकाला गया है कि बच्चे के व्यक्तित्व-विकास में वातावरण का स्थान बहुत ही महत्त्वपूर्ण है; इसके अभाव में आनुवंशिक तथा अभ्यास—दोनों शक्तियाँ निष्क्रिय सिद्ध हो जाती हैं। मनोवैज्ञानिक, वातावरण के ज्ञान को दो वर्गों में विभाजित करते हैं—प्रयत्नप्राप्त ज्ञान तथा अप्रयत्नप्राप्त ज्ञान। सैद्धान्तिक समीक्षा अथवा शास्त्रानुशीलन का सम्बन्ध प्रयत्न-प्राप्त-ज्ञान से है।

जिस प्रकार किसी भी प्रकार के व्यवसाय में निष्णात होने के लिए शिक्षण Training) की आवश्यकता है तद्वत् कवि-कार्य में निष्णात होने के लिए भी शिक्षण की आवश्यकता है। अब कवियों के शिक्षण के लिए प्राचीनकाल के समान गुरु नहीं रहे जिनके आचार्यत्व में कविगण काव्य-रचना का अभ्यास करके अपने गुणों दोषों तथा विशेषताओं को जान सकें। ऐसी अवस्था में उन्हें अपने कर्तव्यों, दायित्वों, गुणों, दोषों आदि से परिचित होने के लिए एक मात्र उपाय बचा है सैद्धान्तिक-समीक्षा तथा साहित्य-शास्त्र का अनुशीलन। अभी हाल की बात है कि स्वर्गीय आचार्य पं० महावीर प्रसाद जी द्विवेदी ने कई व्यक्तियों को संस्कार के द्वारा कवि* बनाने का सौभाग्य प्राप्त कराया था।

* ऐसे कवियों को काव्यविद्यास्नात कवि कहते हैं।

काव्यमीमांसा—राजशेखर

प्राचीन काल में कवि लोग या तो दरबार में रहते थे या युद्धक्षेत्र में; कभी कभी जनता के रंगमंच पर भी अपने तानपूरे या खजरी पर गाते हुए दिखाई पड़ते थे। किन्तु आज का कवि आवागमन की वर्तमान सुविधाओं के कारण जनता के पास तुरत पहुँच जाता है और अपनी कविताओं द्वारा जनता के मस्तिष्क को प्रभावित भी करता है। अतः आज के कवियों को पहले से भी अधिक शिक्षण की आवश्यकता है। यह शिक्षा कवियों को अपने आप लेनी चाहिए। इस कार्य में सैद्धान्तिक समीक्षा सम्बन्धी पुस्तकों का अध्ययन उनकी परम सहायता कर सकता है।

कवियों को स्वतन्त्रता का अधिकार (poetic license) तो सदा से ही प्राप्त है और उसका प्रयोग भी वे सदा से करते आये हैं, किन्तु वर्तमान स्वच्छन्दतावाद के युग में वह अतिरेकता की सीमा को पहुँच गया है। काव्य के स्वरूप, वर्ण्य, काव्यपद्धति, भाषा, छन्द आदि का मनमाना प्रयोग हो रहा है। कविगण प्रायः नवीनता–प्रदर्शन के 'झोंक में, काव्य-स्वतन्त्रता के अधिकार के प्रयोग की उन्मद चेष्टा में काव्य-सौन्दर्य सृष्टि के औचित्य, उपयोगिता आदि की उपेक्षा करते हुए दिखाई पड़ते हैं। ऐसी अवस्था में कवियों में आत्मानुशासन की महान आवश्यकता है; और यह पर-समीक्षण की अपेक्षाकृत आत्म-समीक्षण द्वारा अधिक आ सकता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि आत्म-समीक्षण की शक्ति प्राप्त करने के लिए कवियों को सैद्धान्तिक समीक्षा सम्बन्धी ग्रन्थों का अध्ययन बहुत उपयोगी सिद्ध होगा।

आज के विज्ञान प्रधान बुद्धिवादी युग में चिन्तनहीन, वास्तविकता-शून्य, छिछलीकोटि की साहित्यिक कृतियों की अधिकता को देखकर अधिकांश लोग साहित्य को वाग्जाल, शब्दविलास, पागलों का प्रलाप, विकृत मन का उद्‌गार, कल्पना की क्रीड़ा, उत्कट भावुकता का आगार, संसार की वास्तविकता से दूर हटानेवाला, दिल बहलाने या मनोरंजन करने का साधन मान बैठे हैं। यदि साहित्य को इन उपर्युक्त अभि-योगों से मुक्त करना अभिप्रेत है तो साहित्यकारों को मानवता की दुर्गति

से बचाने का संकल्प करना होगा, अशेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करना होगा, साहित्य को जीवन-निर्माण करने का साधन बनाना होगा, जीवन में उतारने लायक दर्शन को अंकित करना होगा, सामाजिक, राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं तथा प्रश्नों का स्वस्थ समाधान उपस्थित करना होगा, विश्व के रोग, शोक, दैन्यदुख, शोषण, अन्याय, अत्याचार आदि को मिटाने का पथ बताना होगा, समाज में सड़ी गली रीतियों, रूढ़ियों, परम्पराओं के विरुद्ध क्रान्ति का नारा लगाना होगा, व्यक्ति को समाज में सफल, आनन्दपूर्ण, प्रभविष्णु, एवं कलात्मक जीवन जीने की कला सिखाना होगा। उपर्युक्त कोटि का साहित्य केवल प्रतिभा के बल से साहित्यकार नहीं रच सकता। प्रतिभा के कारण कवि में असाधारण कोटि की द्रवणशीलता है जिससे वह किसी प्रकार की वेदना, पीड़ा, अत्याचार, शोषण; अन्याय को देखकर संवेदन की अलौकिक चोट खाकर क्रन्दन करने लगता है, किन्तु वह अपने क्रन्दन को सर्जनाशील बनाकर लोक-हृदय तक कैसे पहुँचावे, इसका पथ सैद्धान्तिक समीक्षा से ही समुचित रूप में ज्ञात होगा; 'दैवी शक्ति' के कारण उसमें भावुकता की उत्कट, तीव्र तथा मार्मिक शक्ति वर्तमान है जिससे वह संसार-सागर की रूप तरङ्गों को देखकर उत्कट भावनाओं से आपूर्ण हो जाता है, भावावेश में कुछ गा जाता है; किन्तु वे भावनायें 'सत्य' 'शिवं' 'सुन्दर' की दृष्टि अपनाये बिना खोखली या अन्धी रहती हैं; कवि उन्हें जीवन-सौन्दर्य की दृष्टि से किस प्रकार समन्वित करे, काव्य के किस स्वरूप में निबद्ध करे आदि बातों का सम्यक् ज्ञान शास्त्रानुशीलन से ही संभव है। प्रतिभा के कारण कवि की प्रवृत्ति अधिक कल्पनाशील होती है किन्तु वह कल्पना के उपयोग को जाने बिना उसे काव्य में प्रायः ऊहात्मक, विलक्षण या तमाशा खड़ा करने वाली बना देता है। कल्पना के सर्जनात्मक उपयोग का वैज्ञानिक ज्ञान साहित्य दर्शन से ही उपलब्ध हो सकता है। माना कि कवित्व शक्ति अभिनव पदार्थों के स्फुरण की हेतु है, पदार्थों के लोकोत्तर वर्णन-शक्ति की मूलकारण है, वर्णन में नवनवोन्मेषता की जननी है, किन्तु पदार्थों

का निश्चय ज्ञान, वर्ण्य विषयों में अभिनिवेश, लोकवृत्त का परिचय, कलाकृति के स्वरूप तथा माध्यम का सम्यक् ज्ञान साहित्य शास्त्र के अनुशीलन से ही प्राप्त हो सकता है। शक्ति के कारण कवि की राग-वृत्ति सामान्य जनों की अपेक्षा कृत अधिक तीव्र तथा मार्मिक कोटि की होती है किन्तु वह अपना रागात्मक सम्बन्ध किससे और कैसे स्थापित करे, यह सैद्धान्तिक समीक्षा के अध्ययन से ही सीख सकता है। अपने राग का उचित आलम्बन न जानने के कारण ही कवि संकुचित प्रेम में फँस जाते हैं, उनकी कविता उनके विकृतपूर्ण प्रेम की माध्यम बन जाती है; उनकी साहित्य चेतना संकीर्ण हो जाती है; उनके साहित्य में संकुचित राष्ट्रीयता, संकीर्ण संस्कृति, साम्प्रदायिक धर्म, विकृत मानवता आदि के चित्र अंकित हो जाते हैं। प्रतिभा के कारण कवि की ग्राहक या धारणा शक्ति असाधारण कोटि की होती है जिससे वह किसी प्रसंग से उठी हुई भावना, कल्पना; विचार आदि में सामान्य जनों की अपेक्षाकृत अधिक देर तक रम सकता है; अपनी पैनी दृष्टि के कारण उसमें सूक्ष्मता, नवीनता तथा मार्मिकता की खोज भी कर लेता है; किन्तु इन सबको सुव्यवस्थित तथा सन्तुलित करने की शक्ति वह अपने सैद्धान्तिक समीक्षा सम्बन्धी अध्ययन तथा चिन्तन से ही प्राप्त करता है। सामान्य जनों की अपेक्षाकृत उसकी अनुभूतिशक्ति बहुत तीव्र, मार्मिक तथा सूक्ष्म कोटि की होती है, किन्तु वह प्राय: वैयक्तिक (Suljectwe) होती है उसे सामाजिक तथा त्रिकालवर्तिनी कैसे बनाये तथा किस अभिव्यक्ति प्रणाली को अपना कर लोक सामान्य के हृदय तक पहुँचने योग्य बनाये—आदि बातों का ज्ञान सौद्धान्तिक समीक्षा सम्बन्धी अध्ययन से ही संभव है। काव्य में हृदय और बुद्धि पक्ष का सामञ्जस्य होना चाहिए। जिस काव्य में यह सामञ्जस्य नहीं होता उसका मूल्य गिर जाता है। इधर योरप की नक़ल पर वर्तमान हिन्दी साहित्य की अनेक शाखाओं में बुद्धि पक्ष का विरोध हो रहा है परिणामत: वे जीवन सम्बन्धी दृष्टियों को देने में असमथ हो रही हैं; उदाहरणार्थ, कुछ प्रगीत काव्य, कुछ अंग्रेजी निबन्धों के अनुकरण के

आधार पर लिखे हुए निबन्ध, कुछ प्रभाववादी आलोचनायें, कुछ गद्यगीत आदि। कवि को शक्ति के रूप में हृदय पक्ष मिला है, किन्तु उसका समुचित विकास, बुद्धिपक्ष की प्राप्ति तथा दोनों पक्षों के सामञ्जस्य की यथोचित विधि बहुत अंशों में सैद्धान्तिक समीक्षा सम्बन्धी ग्रन्थों के अध्ययन, मनन तथा चिन्तन से ही उसे प्राप्त होती है।

व्यावहारिक समीक्षक की आवश्यकता कवि के लिए उसी प्रकार की है जिस प्रकार डाक्टर की आवश्यकता सामान्य व्यक्ति के लिए है। बाह्य दृष्टि से स्वस्थ प्रतीत होने पर भी सबको अपने शारीरिक रोगों का पता नहीं लग सकता, तद्वत् कवि को भी अपने मानसिक रोगों, दुर्बलताओं, दोषों आदि का पता व्यावहारिक समीक्षा के बिना नहीं चल सकता। सैद्धान्तिक समीक्षा अथवा शास्त्रानुशीलन से कवि काव्य के सामान्य गुणों, दोषों आदि से परिचित हो सकता है किन्तु वह अपने निजी दोषों, मानसिक रोगों, धार्मिक या राष्ट्रीय संकीर्णताओं, साहित्यिक अभावों आदि का सम्यक् ज्ञान किसी योग्य तथा निष्पक्ष समीक्षक का सान्निध्य प्राप्त किये बिना नहीं कर सकता। व्यावहारिक समीक्षा कवि के दोषों, अभावों, अपूर्णताओं, मानसिक रोगों का ही उल्लेख करके अपना कार्य समाप्त नहीं करती वरन् इनके दूरीकरण का सुझाव, उपाय तथा साधन भी प्रस्तुत करती है। इस प्रकार कवि व्यावहारिक समीक्षा का सदुपयोग करने से अपने मानसिक रोगों से मुक्ति पा सकता है, दोषों को भविष्य में दूर कर सकता है, अपूर्णता से पूर्णता की ओर बढ़ सकता है। व्यावहारिक समीक्षा कवियों के गुणों, विशेषताओं, मौलिकताओं, उद्भावनाओं आदि का उल्लेख, विवेचन, शंसन आदि करके उनका उत्साह बढ़ाती है, उनके उत्तम विचारों, भावों, सन्देशों आदि का प्रचार करती है, उनकी कीर्ति को सुदूर देशों तथा युगों तक फैलाती हुई, उनके अस्तित्व का महत्त्व सबको समझाती है। रससिद्ध कवीश्वरों की यश रूपी काया को जरा-मरण से मुक्त करने का श्रेय व्यावहारिक समीक्षा को भी है।

प्राचीन काल में कवियों का आदर बड़े बड़े राजा, महाराजा, धनी-मानी लोग करते थे, उनके दरबार में उन्हें उच्च स्थान मिलता था, इनकी सरस स्निग्ध वाणी का सभी करतल ध्वनि से सम्मान करते थे; युद्धक्षेत्र में भी ये महत्त्व पूर्ण स्थान प्राप्त करते थे; इनकी ओजपूर्ण वाणी से वीरों के हृदय में वीरता का स्रोत उमड़ पड़ता था; एक एक छन्द पर उन्हें गाँव उपहार रूप में मिलते थे, किन्तु आज इस बुद्धिवादी बहुधन्धी युग तथा गणतंत्रात्मक शासन-काल में कवियों के सम्मान करनेवाले, उनकी वाणी अथवा विचारों के मूल्याङ्कन करनेवाले विरले ही सहृदय दिखाई पड़ते हैं; ऐसी परिस्थिति में किसी कृति के सम्बन्ध में विद्वान् समीक्षक की प्रशंसात्मक सम्मतियाँ तथा आदरपूर्ण विचार कृतिकार के ऊपर सन्तोष की वर्षा कर देते हैं, उसके हृदय में आत्मविश्वास की लहर उत्पन्न कर देते हैं। जिस प्रकार पराग के मूल्य[1] की मार्मिकता को भ्रमर के सिवाय और कोई नहीं जान सकता उसी प्रकार कवियों के विचारों, भावों तथा अनुभूतियों का मूल्याङ्कन समीक्षक के सिवाय और कोई नहीं कर सकता। व्यावहारिक समीक्षक अन्धकार में पड़े कवियों को प्रकाश में लाता है; उनकी दुरतिगम्य वाणी को भाष्य द्वारा सुगम बनाता है; उनकी मरणोन्मुख यशःकाया को पुनर्जीवन प्रदान करता है। जायसी को प्रकाश में लाने का श्रेय आचार्य शुक्ल को है, अन्यथा हिन्दी पाठकों में वे इतने प्रचलित न हो पाते। कठिन काव्य के प्रेत केशव की गूढ़ रचनाओं को सुगम करने का श्रेय लाला भगवानदीन को है अन्यथा हिन्दी जनता में वे इतने प्रसरित न होते। जीवित कवि या लेखक व्यावहारिक समीक्षा के रूप में समीक्षकों से उचित संवादित्व (response) पाकर अधिकाधिक रचना करने के लिए प्रेरणा पाता है;

१—तत्त्वं किमपि काव्यानां जानाति विरलो भुवि।
मार्मिकः को मरन्दानामन्तरेण मधुव्रतम्।

योग्य समीक्षक की उचित[१] मंत्रणा पाकर अनेक सफल तथा स्थायी कृतियों की रचना में समर्थ होता है।

भारतीय साहित्यशास्त्र में पाठक के लिए काव्यशास्त्र का चिन्तन बहुत प्राचीन काल से आवश्यक माना गया है। कुन्तक की दृष्टि में वक्रोक्ति, काव्य-बन्ध आदि काव्य के मर्म[२] जानने वाले व्यक्तियों के हृदय में ही आह्लाद उत्पन्न करते हैं। अभिनवगुप्त[३] भी सहृदय के लिए काव्यशास्त्र का अनुशीलन आवश्यक मानते हैं। अंग्रेजी समीक्षक भी[४] समीक्षा शक्ति के अभाव में किसी कृति का पूर्ण आस्वादन असम्भव समझते हैं। आधुनिक युग की परिस्थितियों तथा साहित्यिक प्रवृत्तियों को देखते हुए यह कहना पड़ता है कि पाठकों में समीक्षात्मक चेतना का होना परम आवश्यक है। विरोधी भावना, तथा विचारधारा का साहित्य पत्र, पत्रिका, पुस्तक रेडियो आदि के द्वारा पाठकों के पास पहुँचता रहता है। यदि पाठक में समीक्षात्मक चेतना नहीं है तो वह किंकर्तव्यविमूढ़ हो जायगा तथा किसी भी प्रकार के साहित्य के प्रभाव को ग्रहण करने में असमर्थ सिद्ध होगा। आलोचनात्मक दृष्टि से शून्य होने पर पाठक साहित्य को या तो मुग्ध होकर पढ़ते हैं या धार्मिक दृष्टि से अथवा ऐतिहासिक ग्रंथ के रूप में या अपनी अतृप्त वासनाओं की संतृप्ति के रूप में। मुग्ध होकर पढ़ने से पाठक भाव-

---

१—साकेत की रचना गुप्त जी ने द्विवेदी जी की मंत्रणा से की थी।

२—यस्यातिशयः कोऽपि विच्छित्त्या प्रतिपाद्यते
वर्णनीयस्य धर्मस्य तद्विदाह्लाददायिनाम्। व० जी० पृ० १६५

३—'येषांकाव्यानुशीलनाभ्यासवशाद्विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते हृदयसंवादभाजः सहृदयाः। लोचन पृ० ११

४—*It is impossible to taste the full flavour of a book unless the critical faculty is brought in to full play either voluntarily or involuntarity.* *Reader and the critic*—Holbrook and Jackosn

क्षुब्धता अथवा भावतीव्रता के कारण अपने बौद्धिक संयम को खो बैठते हैं। परिणामतः वे काव्य की वास्तविकता, मूल्य, सन्देश, रमणीयता, महनीयता आदि से दूर पड़ जाते हैं। धार्मिक दृष्टि से साहित्य ग्रन्थों के पारायण करनेवाले पाठक उस कृति की प्रत्येक उक्ति को वेदवाक्य मान बैठते हैं; उसकी सभी घटनाओं, पात्रों, संवादों, कार्यव्यापारों, परिस्थितियों को सत्य समझते हैं। वे अर्थवाद तथा—सिद्धान्तवाद का निराकरण नहीं कर सकते; कृति के अन्तर्गत प्रतिष्ठित काल्पनिकता तथा वास्तविकता को अलग नहीं कर सकते; साहित्य के ग्राह्य तथा अग्राह्य तत्त्वों को समझ नहीं सकते; उस कृति से युग के अनुकूल सन्देश नहीं ग्रहण कर सकते। उनकी रुचि, दृष्टि, भावना रूढ़िवादी कोटि की हो जाती है; उनमें अन्धश्रद्धा का प्राबल्य हो जाता है। साहित्यिक कृतियों को ऐतिहासिक ग्रंथ के रूप में देखने वाले पाठक वस्तुतः साहित्य या इतिहास किसी के भी वास्तविक रूप, रहस्य, तत्त्व, सम्बन्ध, उद्देश्य आदि को नहीं जानते। ऐसे पाठक न तो साहित्य का ही आनन्द ले सकते हैं और न साहित्यिक कृतियों के अंतर्गत प्रतिष्ठित ऐतिहासिक तथ्य को ग्रहण ही कर सकते हैं। अपनी अतृप्त वासनाओं की संतृप्ति की दृष्टि से साहित्य को पढ़ने वाले पाठक प्रायः वैयक्तिक रुचि के होते हैं। उनमें सामाजिक रुचि का सम्प्रवेश हुए बिना उनके द्वारा साहित्य का रसास्वादन ठीक प्रकार से नहीं हो सकता। रुचि सामाजिक बनाने के लिए शास्त्रानुशीलन आवश्यक है। साहित्य-व्याख्या के सिद्धान्तों को जाने बिना कोई पाठक साहित्य का सान्निध्य ही नहीं प्राप्त कर सकता उसका आस्वादन या मूल्याङ्कन करना तो दूर रहा। साहित्य के आवरण को समझ ही नहीं सकता, उसे खोल कर उसकी आत्मा में प्रवेश करना तो दूर रहा। सैद्धान्तिक समीक्षा बताती है कि पाठक कवि के साथ कैसे तादात्म्य करे, उसकी परिस्थिति में कैसे रमे, उसकी अनुभूति-स्थली में कैसे प्रवेश करे, उसकी भावना, विचार, मनोवेग के साथ कैसे एक हो जाय; उसके जीवन-दर्शन में कैसे अभिनिवेश करे, उसके जीवन-

मूल्यों को कैसे और कितना सम्मान दे। सैद्धान्तिक समीक्षा का अध्ययन पाठकों को काव्य-अवबोधन की विधि में निष्णात करता है। उनकी साहित्यिक रुचि को स्वस्थ, सन्तुलित तथा अनुशासित कर सकता है; चेतना को प्रशस्त करता है; साहित्य से जीवन के पोषक तत्त्वों को ग्रहण करने की क्षमता उत्पन्न करता है; सत्साहित्य से रुचि तथा कुकवित्व से अरुचि करना सिखाता है; सत्यं, शिवं सुन्दरं के प्रति अनुराग उत्पन्न करता है; साहित्य से सांसारिक व्यवहार में निपुणता प्राप्त करने की विधि बताता है तथा वर्णनीय तन्मयीभवन योग्यता को बढ़ाता है।

आजकल बरसाती घास की तरह साहित्य बढ़ रहा है; उसके विज्ञापन का ढंग भी दिन प्रतिदिन मनमोहक होता जा रहा है और पाठक बहुधन्धी होता जा रहा है। उसके पास न तो सभी साहित्यिक ग्रन्थों के आद्योपान्त पढ़ने का समय है और न सत्-असत् ग्रन्थों के निर्णय की शक्ति। ऐसी अवस्था में उसके लिए मार्ग-प्रदर्शन की आवश्यकता है कि वह किस प्रकार के ग्रन्थों को पढ़े; किन कृतियों का कुछ अंश पढ़े और किनको पूरा। इस कार्य में उसे व्यावहारिक समीक्षा पर्याप्त सहायता दे सकती है। व्यावहारिक समीक्षा किसी कृति या कवि के अवबोधन सम्बन्धी कठिनाई को दूर करती है; उसके पढ़ने का क्रम बताती है; उसके बौद्धिक आस्वादन का पथ दिखाती है; उसके सुन्दरतम स्थलों तथा मार्मिक सन्देशों की ओर संकेत करती है तथा साहित्य के इतिहास में उसका स्थान तथा महत्त्व समझाती है। इस प्रकार वह अच्छे ग्रन्थों के पढ़ने की प्रेरणा उत्पन्न करती हुई पाठकों के विचारों तथा तर्कों का शोधन करती है।

समीक्षक का समीक्षा से सबसे प्रत्यक्ष और निकट सम्बन्ध है। उसका कार्य साहित्य सिद्धान्तों का विवेचन तथा प्रयोग करना है; अतः वह समीक्षा-शास्त्र से अभिज्ञ हुए बिना सैद्धान्तिक या व्यावहारिक किसी भी प्रकार की समीक्षा में कृतकार्य नहीं हो सकता। समीक्षा के बहिरंग पक्ष के विभिन्न तत्त्व-अलंकार, रीति, वृत्ति, गुण, छन्द, भाषा आदि का ज्ञान शास्त्रानुशीलन के बिना संभव नहीं। साहित्य शास्त्र का

अध्ययन किए बिना समीक्षा के आत्म-तत्त्व—रस के भीतर अभिनिवेश नहीं हो सकता तथा साहित्य सौन्दर्य के भौतिक, बौद्धिक, भावात्मक गुणों का अभिज्ञान नहीं हो सकता। साहित्य-समीक्षा का पथ सौन्दर्य शास्त्र के क्षेत्र से निर्मित होता है; अतः उस क्षेत्र का पूर्ण परिज्ञान किये बिना कोई समीक्षा का क्षेत्र निर्मित नहीं कर सकता। समीक्षक की सहृदयता का अर्थ है सौन्दर्य तत्त्वों का अभिज्ञान, जिसके अभाव में वह किसी कृति या वस्तु में बसे हुए सौन्दर्य का दर्शन नहीं कर सकता। साहित्य के विभिन्न स्वरूपों—उपन्यास, नाटक, कहानी, निबन्ध, प्रगीत काव्य, महाकाव्य आदि के प्राचीन लक्षण, युग के अनुसार विकसित स्वरूप, नवीन लक्षण, बहिरंग तत्त्व, अन्तरंग पक्ष आदि के ज्ञान के लिए साहित्य-शास्त्र का अध्ययन आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। हिन्दी में गंभीर सैद्धान्तिक समीक्षा का अभाव है। समय की गति तथा पाश्चात्य प्रभाव के कारण साहित्य की रूपरेखा में परिवर्तन हुआ है; उसके स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों तत्त्वों में नवीनता आ गई है; साहित्य की कुछ नवीन शाखाओं का प्रादुर्भाव हुआ है, काव्य में अनेक नूतन तत्त्वों, नवीन उपकरणों, अभिनव पद्धतियों, नई शक्तियों, नये अलंकारों का जन्म हुआ है जीवन पक्ष में भी पर्याप्त। परिवर्तन उपस्थित हुए हैं। इन परिवर्तनों को देखते हुए यह निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि संस्कृत के लक्षण ग्रन्थों से हमारी आवश्यकता पूर्ण नहीं हो सकती। अब हिन्दी साहित्य में स्वतंत्र लक्षण-ग्रन्थों की आवश्यकता है। किन्तु यहाँ ध्यान रखने की बात यह है कि हिन्दी-साहित्य की विभिन्न शाखाओं का विकास, हमारी साहित्यिक परम्परा की प्रगति की दिशा में ही होगा और उसकी सीमायें कला के सामान्य सौन्दर्य की परिधि के भीतर ही होंगी, बिल्कुल स्वतंत्र नहीं। काव्य के इन अभिनव स्वरूपों, नूतन पद्धतियों, नवीन शाखाओं के लक्षण-निरूपण में वही समीक्षक कृतकार्य हो सकता है जिसका समीक्षा सम्बन्धी अध्ययन बहुत विस्तृत, व्यापक तथा विशद होगा। साहित्य तथा समीक्षा दोनों को रूढ़ियों के शोषण तथा अत्याचारों से बचाने के लिए

समय समय पर लक्षण ग्रन्थों में परिवर्तन की आवश्यकता है। लक्षण ग्रन्थों की अभिनवता तथा परिवर्तन को वैज्ञानिक बनाने के लिए सैद्धान्तिक समीक्षा का गंभीर तथा वैज्ञानिक अध्ययन आवश्यक है। समीक्षा का जब वैज्ञानिक अध्ययन नहीं होता तब सैद्धान्तिक समीक्षा बहिरंग-तत्त्व निरूपण (Formal criticism) अनुकरण, अनुवाद, रूढ़ि उपासना आदि का रूप धारण कर लेती है; व्यावहारिक समीक्षा प्रभाववादी या रूढ़िवादी हो जाती है अथवा किसी राजनीतिक, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक वाद के दलदल में फँस जाती है। समीक्षक की दृष्टि खोलने के लिए; उसके नैतिक, सामाजिक, साहित्यिक, चारित्रिक आदर्शों को बताने के लिए; उसे साहित्यिक, सांस्कृतिक कर्तव्यों से परिचित कराने के लिए; उसके; पाठक, कवि, साहित्य सम्बन्धी दायित्वों की पहचान कराने के लिए; उसके विभिन्न उपार्जित गुण—जिज्ञासा, बौद्धिकता, तार्किकता उदारता, निर्व्यसनता, निष्पक्षपात आदि का प्रत्यभिज्ञान कराने के लिए; कवि के आचार्य, मंत्री, मित्र, स्वामी, शिष्य आदि सम्बन्धों के निर्वाह के लिए; समीक्षा की प्रक्रिया, प्रयोजन, भेद आदि को समझने के लिए साहित्य में समीक्षा की महान आवश्यकता है।

किसी देश की संस्कृति सहस्रों वर्षों के समीक्षण से बनती है। समीक्षण शक्ति में दोष उत्पन्न होने पर संस्कृति का पतन आरम्भ हो जाता है, उसके बाह्य स्वरूप की उपासना होने लगती है। लोग उसकी व्याख्या मनमाने ढंग से करके उसे अनुपयुक्त सिद्ध करने लगते हैं; उस संस्कृति के सिद्धान्तों, आदर्शों, मूल्यों से लोगों का विश्वास हट जाता है। किसी देश की संस्कृति का उद्देश्य जीवन की धारणाओं, मूल्यों, स्वरूपों, आदर्शों को दिन प्रतिदिन परिमार्जित करके उदात्त बनाना है। समीक्षा की सहायता से वह इस कार्य में सफल होती है। इसलिए आर्नोल्ड समीक्षा का व्यापक धर्म संस्कृति का उत्थान मानता है; इसी दृष्टि से वह समीक्षा का सम्बन्ध जीवन के सभी स्वरूपों से निरूपित करता है। समीक्षा-शक्ति में किसी प्रकार की कमी या दोष आने पर जीवन के विविध स्वरूप, मूल्य, आदर्श आदि विकृत होकर

साहित्य में प्रतिबिम्बित होते हैं। किसी देश के साहित्य में उस देश की सभ्यता तथा संस्कृति का प्रतिबिम्ब रहता है। सभ्यता तथा संस्कृति का प्रतिबिम्ब साहित्य में तभी शुद्ध, स्वस्थ तथा सन्तुलित रूप में उतरेगा जब साहित्यकारों की समीक्षा-शक्ति शुद्ध, स्वस्थ तथा सन्तुलित रहेगी। साहित्यकारों की समीक्षा-दृष्टि में विकृति या संकीर्णता आने पर साहित्यान्तर्गत प्रतिष्ठित संस्कृति का चित्र भी विकृत या संकीर्ण हो जाता है; अतः साहित्यान्तर्गत प्रतिष्ठित संस्कृति के स्वरूप को शुद्ध, स्वस्थ तथा सन्तुलित बनाये रखने के लिए समीक्षा की परम आवश्यकता है। जीवन के वे मानदण्ड तथा मूल्य जो आज हमारी संस्कृति की कसौटी बने हुए हैं; शताब्दियों की समीक्षा-साधना के परिणाम हैं। जीवन के विकास-पथ पर चलते हुए समीक्षकों द्वारा जीवन सम्बन्धी बहुत से मूल्य तथा मानदण्ड बने, पर वे आज समाज में जीवित नहीं हैं। वे समाज की परिवर्तनशील धारा में अगतिगामी होने के कारण बह गये। साहित्य सदा जीवन के शक्तिदायक, प्रगतिगामी स्वरूपों, मूल्यों, आदर्शों एवं धारणाओं को लेकर चलता है। साहित्यकारों को इनसे परिचय कराने का कार्य सैद्धान्तिक समीक्षा का है।

संस्कृति के संक्रांति काल में जीवन के मूल्यों, मान्यताओं, व्यवस्थाओं, आदर्शों, सिद्धान्तों आदि में संक्रमण हुआ करता है। ऐसे समय में सामान्य साहित्यकार, कवि, पाठक आदि भ्रम में पड़ जाते हैं। जो भ्रम में नहीं पड़ते उनमें से कुछ जीवन की प्रगति तथा अगति का विना विचार किए ही रूढ़ियों की उपासना अथवा परम्परा की अन्धभक्ति में संस्कृति की रक्षा का दम्भ भरने लगते हैं और कुछ अपने देश की परिस्थिति, प्रकृति एवं प्रवृत्ति पर बिना ध्यान दिये ही पर संस्कृति के अन्धानुकरण में प्रगति का दावा करने लगते हैं। इस प्रकार के भ्रम, दम्भ, संदेहजाल आदि को मिटाने के लिए वैज्ञानिक सैद्धान्तिक समीक्षा की आवश्यकता पड़ती है जो अपने देश की तत्कालीन परिस्थिति, प्रवृत्ति, प्रकृति, प्रश्न, अभाव आदि के

अनुसार दोनों संस्कृतियों के बाधक तथा साधक तत्त्वों को परिणाम सहित तार्किक तथा बौद्धिक व्याख्या के रूप में स्पष्ट कर दें जिससे सभी पाठक, साहित्यकार, कवि समीक्षक जान सकें कि जीवन का अमुक पक्ष, मूल्य, मान्यता, आदि ग्राह्य है तथा अमुक अग्राह्य। कभी कभी जब पूर्वग्रह से गृहीत कोई व्यक्ति अथवा समाज जीवन के अगतिगामी सिद्धान्तों को अतीत की दुहाई देकर प्राचीन संस्कृति तथा धर्म के नाम पर फैलाना चाहता है, युग के प्रगतिशील विचारों का खण्डन द्वारा तर्कजाल में आच्छादित करना चाहता है तब सैद्धान्तिक समीक्षा को मिशन के रूप में आने की आवश्यकता पड़ती है। ऐसे समय में इसका मुख्य कार्य रहता है युग के उत्तमोत्तम विचारों, आदर्शों का प्रचार करके समाज की गतिविधि को प्रगति की ओर उन्मुख करना। यदि विश्वयुद्धों के नर-संहार से वसुन्धरा की रक्षा करना अभीष्ट है, यदि मानव जाति को विनाशकारी प्रवृत्तियों से बचाना अभिवांछित है तो हमें गंभीर साहित्य को संरक्षक के रूप में अपनाना पड़ेगा तथा मानव विकास की प्रगति को स्वस्थ तथा सन्तुलित बुद्धि वाले समीक्षकों के पथ-प्रदर्शन में रखना पड़ेगा। मानव प्रकृति तथा चेतना में आमूल परिवर्तन हुए किए विकास-पथ की दिशा का बदलना असम्भव है और मानव प्रकृति तथा चेतना का नव परिवर्तन समीक्षा के सांस्कृतिक कार्य बिना कठिन।

समीक्षक

जैसे सौन्दर्य निर्माण करनेवालों का एक वर्ग है जिसे कलाकार कहते हैं, उसी प्रकार साहित्य-सौन्दर्य के तत्त्वों की व्याख्या करनेवालों, कृति के सौन्दर्य में मग्न होनेवालों, उसके रस ग्रहण करनेवालों, उसके वैशिष्ट्य तथा महत्त्व प्रकाशित करनेवालों, कृति या कृतिकार के स्थान ठहरानेवालों का भी एक[1] वर्ग है जिसे समीक्षक, आलोचक या सहृदय कहते हैं। समीक्षा की सम्यक् मीमांसा करने के लिये समीक्षक शब्द के विभिन्न अर्थ तथा व्यक्ति रूप में उसके स्वभाव, गुण, ज्ञान, चारित्रिक तथा व्यावसायिक विशेषता, दायित्त्व, कार्य, आदर्श, व्यक्तित्त्व, समस्या आदि पर विचार करना आवश्यक है।

व्यापक अर्थ में समीक्षक शब्द का प्रयोग ऐसे सांस्कृतिक व्यक्ति के लिए होता है जो किसी विषय, वार्ता, समस्या, प्रश्न पर सर्वाङ्गीण दृष्टि से विचार कर सके। इस दृष्टि से समीक्षक के भीतर दार्शनिक, सुधारक इतिहासकार, शिक्षा-शास्त्री, भाषा-शास्त्री, राजनीतिज्ञ, समाजशास्त्री, साहित्यशास्त्री आदि सभी प्रकार के चिन्तक आ जाते हैं। समीक्षक शब्द की व्युत्पत्ति भी यही बात बताती है कि जो व्यक्ति किसी विषय, वस्तु या वार्ता को सम्यक् प्रकार से या चारों ओर से अथवा सभी दृष्टियों से देख सके वही समीक्षक है। उच्छिन्न अर्थ में समीक्षक शब्द का प्रयोग किसी वस्तु के गुण-दोष-विवेचन करनेवालों के लिए, साहित्यिक विषयों पर वाद-विवाद करनेवालों के लिए, किसी भी विषय पर जनता की सम्मति प्रकट करनेवालों के लिए, लेखकों या कवियों के वैशिष्ट्य प्रदर्शन

---

1 *Critics belong to a class of his own—That there is a separate order of beings whose professed function is to criticise*—William

करनेवालों के लिए, उनकी कृति अथवा शैली पर निर्णय[1] देने वालों के लिए, किसी भी विषय में अनुसन्धान करने वालों के लिए होता है। एक अँग्रेजी लेखक की सम्मति में समीक्षक शब्द का प्रयोग साधारण अर्थ में छ: प्रकार के लेखकों के लिए किया जाता है (The name Critic is commonly used to six classes of writers :—

(१) Those who busy themselves in descriminating between authors and in judging of their styles. (जो लेखकों का वैशिष्ट्य-निरूपण तथा मूल्याङ्कन करते हैं।)

(२) Those who clear up obscure points in History (जो इतिहास के अन्धकार में पड़े अथवा विवादास्पद अंशों को स्पष्ट करते हैं।)

(३) Those who collate and edit ancient manuscripts. (जो प्राचीन हस्तलिपियों का परीक्षण संशोधन तथा सम्पादन करते हैं।

(४) Those who write Historical and philological Treatise. (जो ऐतिहासिक तथा भाषा-विज्ञान सम्बन्धी प्रबन्ध लिखते हैं)

(५) Those who prepare bibiliography and catalogue. (जो पुस्तकों की अनुक्रमणिका तथा नामावली तैयार करते हैं) ।

(६) Those who write commentaries on ancient authors.

(जो प्राचीन लेखकों पर टीका लिखते हैं।)

The Critic by—*Mellet*

---

1. *To the ordinary man of today "Critic" seems to mean one who delivers judgement in print*

The Englsh Critic by—N. L Clay.

संकुचित अर्थ में समीक्षक शब्द का प्रयोग कभी कभी लोग दोष-द्रष्टा के लिए कर देते हैं किन्तु समीक्षक का[1] कार्य केवल दोष निकालना या निन्दा करना ही नहीं बताया गया है। साहित्यकार के दायित्त्व से अपरिचित कुछ उदार-चेता व्यक्ति या प्रचारक[2], समीक्षक शब्द का व्यवहार केवल किसी वस्तु, व्यक्ति, कृति या दृश्य के सत्पक्ष प्रकाशित करनेवालों के लिए ही करते हैं। किसी वस्तु या कृति के न्यायाधीश या निर्णायक अर्थ में समीक्षक शब्द का प्रयोग संकुचित दृष्टिकोण को व्यक्त करता है। समीक्षक के लिए टीकाकार या भाष्य-कार शब्द का प्रयोग उसके संकुचित स्वरूप को ही उपस्थित करता है।

भारतीय साहित्य शास्त्र में समीक्षक के लिये रसिक, भावक, टीका-कार, भाष्यकार, आलोचक, मीमांसक, सहृदय आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। एक प्रौढ़ा स्त्री-कविविज्जका ने चमत्कारी ढंग से रसिक की व्याख्या की है:—

> कवेरभिप्रायम् शब्द गोचरं स्फुरन्तमार्द्रेषु पदेषु केवलम्
> वदद्भिरङ्गैः स्फुटरोमविक्रियैर्जनस्य तूष्णीं भवतोऽयमञ्जलिः

कवि के व्यञ्जित अभिप्राय को समझकर जो शब्दों के द्वारा अपने हृदयोल्लास की सूचना नहीं देते प्रत्युत जिनके रोमाञ्चित अङ्ग, हृदय की आनन्द-लहर को चुपके बतला देते हैं वे ही सच्चे रसिक हैं। राजशेखर ने समीक्षक के लिए भावक शब्द का प्रयोग किया है। इसका अर्थ उनके निम्नाङ्कित श्लोक से स्पष्ट हो जायगा।

> स्वामी[3] मित्रं च मंत्री च शिष्यश्चाचार्य एव च।
> कवेर्भवति हि चित्रं किंहि तद्यन्न भावकः॥

---

१ *Critic ought never to censure* —Tain & Moulton

२ *The name critic is applied to a man who sees only the good points of what he is criticizing.* —Scott & Galley

३—काव्य मीमांसा।

(भावक, कवि की अपूर्णता, दोष, अभाव आदि बताने के कारण उसका स्वामी; उसके गुण, वैशिष्ट्य आदि कहने से मित्र; उसको मंगलकारी सुझाव, सम्मति, मन्त्र आदि देने के कारण उसका मंत्री; उसकी रचना से जिज्ञासा तथा रुचि रखने के कारण उसका शिष्य तथा उसके गुण-अवगुण बताने के कारण आचार्य है।

आचार्य अभिनव गुप्त ने सहृदय शब्द का प्रयोग बड़े व्यापक अर्थ में किया है :—

येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद् विशदीभूते मनोमुकुरे
वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते हृदयसंवादभाजः सहृदयाः।

काव्य-अध्ययन के सतत अभ्यास से जिनका मन काफी विशद हो गया है; जो वर्णनीय वस्तु के साथ तन्मय होने की योग्यता रखते हैं; जिनके हृदय में प्रत्येक रस या विषय के साथ संवेदित होने की क्षमता है, वे ही सहृदय हैं। साहित्यदर्पणकार की दृष्टि में सहृदय अलौकिक सत्य का ज्ञाता होता है :—

तस्मादलौकिकः सत्यं वेद्यः सहृदयैरयम्।
प्रमाणं चर्वणैवात्र स्वाभिन्ने विदुषां मतम्॥ साहित्य दर्पण ३-२६

आजकल मराठी भाषा में समीक्षक के लिए टीकाकार शब्द का प्रयोग होता है किन्तु प्राचीन काल में संस्कृत साहित्य में इसका प्रयोग सीमित अर्थ में मिलता है। यथासंभव-प्राप्त-अर्थ की व्याख्या करने-वाले को टीकाकार कहते हैं :—

'यथासम्भवम् अर्थस्य टीकनं टीका'

प्राचीन संस्कृत साहित्य में भाष्यकार शब्द का प्रयोग अन्य विद्वानों के सूत्रों की गुण-दोष संयुक्त व्याख्या करनेवालों तथा उस पर अपना मत भी प्रकाशित करने वालों के लिए हुआ है :—

सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र पदैः सूत्रानुसारिभिः।
स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः।

आलोचक शब्द का प्रयोग संस्कृत साहित्य में पाठकों की आँख खोलने वाले के अथ में हुआ है। मीमांसक शब्द का प्रयोग व्याख्याकार के अर्थ में हुआ है। अंग्रेजी भाषा में समीक्षक के लिए क्रिटिक (Critic) शब्द का प्रयोग हुआ है। जिसका अर्थ है—स्पष्ट रूप से देखने वाला अर्थात् साहित्यगत सभी प्रकार के सौन्दर्यों को जो भली भाँति देख सके।

एक अँग्रेजी विद्वान की दृष्टि में समीक्षक[१] वह व्यक्ति है जो काव्यानन्द की विधियों में निष्णात् है। जनता को अग्राह्य तत्त्वों से सावधान करने के लिए तथा कलाकार को त्याज्य तत्त्वों से दूर रखने की दृष्टि से वह पर्याप्त मात्रा में खण्डनात्मक समीक्षा करता है, किन्तु उसकी समीक्षा का उद्देश्य सदा सर्जनात्मक होता है; चाहे वह जनता का (पाठक का) काव्य से रमणीय संबंध स्थापित करे; चाहे उसे काव्य से आनंद प्राप्त करने की विधियों को बताये, चाहे उसे काव्य में विचार-शील या दर्शनीय तत्त्वों को समझाये; चाहे उसे व्युत्पन्न या सुसंस्कृत पाठक होने का पथ दिखाये।

डाक्टर जॉनसन की दृष्टि में समीक्षक होने के लिए एक विशिष्ट प्रकार की प्रकृति[२] की आवश्यकता है। पोप भी इस बात से सहमत है कि सच्चे साहित्य-समीक्षक या निर्णायक जन्म से ही उत्पन्न[३] होते हैं अर्थात्

---

१ *"A Critic is a man who is expert in the ways of pleasure. He may do a good deal of negative criticism with the purpose of helping the artist or warning the public. But his greatest service is constructive in helping the public to get in to pleasurable relation with the objects of high capacity of enjoyment and showing them how to become descriminating for themselves.*

—Bases of criticism in Arts

२. *Nature and learning had qualified them for judges* —Johnson.

३. *Both must alike from Heaven derive their light. Those born to judge as well as those to write.* —Pope

उनका स्वभाव एक विशेष प्रकार का होता है जिसे वे प्रकृति-प्रदत्त रूप में प्राप्त करते हैं* भारतीय विद्वान भी इस बात से सहमत हैं समीक्षा को उसके व्यापक अथवा शास्त्रीय—किसी भी अर्थ में एक प्रकार से किसी वस्तु का साङ्गोपाङ्ग ज्ञान ही कह सकते हैं। इस प्रकार यदि समीक्षा एक प्रकार का ज्ञान है तो समीक्षक एक प्रकार का ज्ञानी। समीक्षक वही हो सकता है जो ज्ञानोपासक हो। अब प्रश्न यह उठता है कि किस प्रकार की मनोवृत्ति वाला व्यक्ति ज्ञानोपासक हो सकता है? जिज्ञासा प्रधान एवं विस्तृत रुचि वाला व्यक्ति ही ज्ञानी हो सकता है। यदि कोई बालक बचपन में जिज्ञासा-प्रधान वृत्ति का दिखाई दे; सब वस्तुओं को जानने का अपनी ओर से प्रयत्न करे, प्रश्न पूछे; और आगे चलकर पर प्राप्त-ज्ञान तथा पर सिद्ध-सम्मतियों एवं सिद्धान्तों को तब तक स्वीकार न करे जब तक कि स्वयं तर्क करके उसकी यथार्थता से संतुष्ट न हो जाय; तो समझ लीजिये कि यदि ऐसे व्यक्ति को भविष्य में समीक्षक बनने योग्य उचित वातावरण, (शिक्षा, निरीक्षण, अध्ययन) मिला और समीक्षक बनने की उसकी इच्छा रही तो वह एक सफल समीक्षक बन सकता है। उपर्युक्त विवेचन से समीक्षक की प्रकृति संबंधी दो और बातें स्पष्ट हो गईं। पहली यह कि उसमें बौद्धिक तत्त्व अधिक रहता है और दूसरी यह कि उसका मस्तिष्क तार्किक रहता है। जिस व्यक्ति के स्वभाव में हृदय-तत्त्व की प्रधीनता होगी वह उचित वातावरण तथा इच्छा शक्ति का संयोग पाकर कवि हो सकता है। जिसकी प्रकृति में बुद्धि-तत्त्व की प्रधानता होगी वह अपने अनुकूल वातावरण तथा अपनी तद्वत् इच्छा शक्ति का संयोग पाकर भविष्य में समीक्षक हो सकता है। कवि और समीक्षक को स्वभाव से अलग करने वाले ये ही दो मुख्य तत्त्व हैं। जिस व्यक्ति की प्रकृति में बुद्धि-तत्त्व की प्रधानता रहेगी, उससे मनोवेगों के प्रवाह में बहने की तथा किसी पूर्वग्रह में फँसने की सम्भावना कम रहेगी।

* अपरो (भावको) भावयित्री प्रतिभायुक्तः।

(काव्यमीमांसा) राजशेखर

अतः भविष्य में उससे वैज्ञानिक समीक्षक बनने की आशा की जा सकती है। समीक्षा का सम्बन्ध प्रधानतः विचारों से है। अतः बुद्धि-प्रधान व्यक्ति ही समीक्षक बनने के अनुकूल पड़ता है। हृदय-प्रधान व्यक्तियों को भी समीक्षक बनने से कोई रोक नहीं सकता; पर जब जब वे समीक्षा के क्षेत्र में हठात् कदम रखेंगे तब तब समीक्षा पर नाना प्रकार के अनर्थ एवं अत्याचार होंगे; कभी वह काव्यात्मक होगी, तो कभी प्रभाववादी; कभी वह व्यक्तिगत प्रतिशोध, राग एवं दोष से भरी रहेगी तो कभी समीक्षक के पूर्वग्रह से सनी। वैज्ञानिक समीक्षा विवेचनात्मक होती है; उसमें किसी वस्तु, कृति या कवि के गुणों, तत्त्वों, विशेषताओं, अवगुणों, दोषों, कमियों की विवेचना अथवा व्याख्या की जाती है। बुद्धिप्रधान व्यक्ति विश्लेषण प्रधान वृत्ति का होता है। इस प्रकार समीक्षा की विवेचनात्मक प्रवृत्ति भी यही बताती है कि विश्लेषण वृत्ति वाला बुद्धिप्रधान व्यक्ति ही समीक्षक होने के अधिक अनुकूल है।

समीक्षा में किसी एक मत का स्थापन अथवा खण्डन होता है। किसी मत का स्थापन अथवा खण्डन तर्क के अभाव में सिद्ध नहीं हो सकता। किसी मत के किसी भी पक्ष के विश्लेषण अथवा व्याख्या में तर्क का सहारा लिए बिना कोई समीक्षक आगे बढ़ नहीं सकता। किसी पक्ष के स्थापन अथवा खण्डन में पूर्वापर सम्बन्ध-निर्वाह की महान आवश्यकता है। पूर्वापर सम्बन्ध-निर्वाह तर्क पद्धति के अभाव में असम्भव है। अतः समीक्षा में सफलता पाने के लिए समीक्षक में तर्क शक्ति का होना आवश्यक है।[१] जिस व्यक्ति में तार्किक शक्ति पहले से होगी वही आगे चलकर उसका विकास कर सकता है और किसी भी विषय की वैज्ञानिक समीक्षा में समर्थ हो सकता है। तर्कशक्ति के अभाव में उसका रसास्वादन या तो

---

1. *Critic is supposed to have more logical mind to wild a more consistent pen*

—Osbert Sitwell

मौन कोटि का होगा अथवा काव्यात्मक या अपनी समीक्षा में वह बे सिर पैर की बातें कहेगा जिसमें न तो पूर्वापर संबंध रहेगा और न किसी मत का स्थापन। तर्क के अभाव में यदि किसी मत के स्थापन अथवा विवेचन का प्रयत्न कभी उसने किया भी तो वह लोगों को विश्वसनीय नहीं हो सकता।

समीक्षक बनने की सम्भावना रखने वाले व्यक्तियों की प्रारम्भिक स्वाभाविक पहचान उनकी सहृदयता है। यही सहृदयता आलोचक में कवि के प्रति सहानुभूति रखने की समझ लाती है।[१] इसी के कारण प्रतिकूल परिस्थितियों में भी वह अपनी बौद्धिक ईमानदारी अक्षुण्ण रखने में सफल होता है। यही शक्ति काव्य, लोक एवं शास्त्र के अनुशीलन से विकसित होकर समीक्षक में वर्णनीयतन्मयीभवन-योग्यता लाती है। किसी कृति या कवि का यथार्थ साङ्गोपाङ्ग ज्ञान उसके साथ एकतान अथवा एकात्म हुए विना प्राप्त नहीं हो सकता। किसी कृति अथवा कवि के साथ एकतानता अथवा एकात्मकता सहृदयता के अभाव में सम्भव ही नहीं। यदि बाह्य रूप में कभी वह दिखाई भी दे तो उसे ढोंग अथवा पाखण्ड समझिये अथवा किसी स्वार्थ-साधन का प्रयत्न। सहृदयता के अभाव में कोई आलोचक कर्ता के साथ सहानुभूति स्थापित नहीं कर सकता। सहानुभूति स्थापन के अभाव में वह कर्त्ता अथवा उसकी कृति के उद्देश्य से तादात्म्य नहीं रख सकता और तादात्म्य के अभाव में उसका ज्ञान भी प्राप्त नहीं कर सकता; उसका गुण, दोष, उपयोगिता, अनुपयोगिता आदि परखना तो दूर रहा।

गुण ग्राहक वृत्ति वाले व्यक्ति से ही आगे चलकर समीक्षक बनने की सम्भावना हो सकती है क्योंकि गुणग्राहकता की वृत्ति ही व्यक्ति को किसी वस्तु या कृति के समीक्षण की ओर उन्मुख करती है। गुण-

---

१. *Critic endowed with sympathetic understanding will be just and fair even when his instinct impells him to be otherwise.*

The Role of Critic—Somanath Dhara

ग्राहक दृष्टि के कारण ही व्यक्ति वास्तविक समीक्षा में रुचि लेता है। समीक्षा की पूर्वावस्था का नाम गुणग्राहक अवस्था (appreciation) है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से गुणग्राहक-अवस्था का अर्थ है 'सत्यं' 'शिवं' तथा 'सुन्दरं' के प्रति अनुकूल संवेदन। अनुकूल संवेदन होने पर ही समीक्षक किसी वस्तु अथवा कृति में मूल्य निरूपित कर सकता है। किसी कृति के समीक्षण का लक्ष्य है—उसका मूल्य निरूपण। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि गुणग्राहकता के बिना समीक्षण सम्भव नहीं। समीक्षा एक निर्माणात्मक क्रिया है। इसमें कविद्वारा वर्णित जीवन के मूल्यों, आदर्शों, अनुभूतियों का पुनर्निर्माण होता है। कवि ने अपनी साहित्य-रचना के समय जिन भावनाओं का अनुभव किया, जीवन के जिन मूल्यों का निर्माण किया, उन्हें गुणग्रहण के समय हम पुन: निर्मित करते हैं। गुणग्राहकता की शक्ति जितनी अच्छी एवं विशद होगी उतनाही अच्छा एवं विशद पुनर्निर्माण होगा। पुनर्निर्माण, जितना अच्छा होगा उतनी ही अच्छी समीक्षा होगी। गुणग्राहकता के अभाव में समीक्षक कृति के मूल्यों को पकड़ ही नहीं सकता, उनका पुनर्निर्माण कैसे करेगा? जो लोग पहले से गुणग्राहक स्वभाव के नहीं होते वे ही समीक्षा के क्षेत्र में प्रविष्ट होने पर अरोचकी वृत्ति के हो जाते हैं। उनको कोई वस्तु या कृति रुचती ही नहीं; उन्हें कहीं गुण ही नहीं दिखाई पड़ता। उन्हें सभी व्यक्ति तथा वस्तुएँ दोष से ही भरी दिखाई पड़ती हैं। ऐसे ही लोग समीक्षा का अर्थ दोषदर्शन या नोक्ताचीनी लेते हैं। यदि बचपन से किसी में गुणग्राहकता की वृत्ति नहीं रही तो आगे चलकर उसमें हृदय-संवादित्व, वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता आदि गुण नहीं आ सकते जो समीक्षक बनने के लिए आवश्यक ही नहीं वरन् अनिवार्य भी हैं।

गंभीर प्रकृति वाले व्यक्ति में समीक्षक बनने की सम्भावनायें अधिक हैं, क्योंकि समीक्षा, वस्तुत: किसी वस्तु या विषय के ऊपर गंभीर चिन्तन है; उसके मर्म या अन्तर्प्रदेश में पहुँचने की क्रिया है; साहित्य और जीवन सम्बन्धी प्रश्नों, समस्याओं तथा कठिनाइयों को

अधिक से अधिक गहराई तक सोचने की प्रक्रिया है। जिसका स्वभाव गंभीर नहीं है वह किसी वस्तु के ऊपरी निरीक्षण, सामान्य चिन्तन एकाङ्गी विवेचन, एककालीन मूल्याङ्कन, एकदेशीय दृष्टिकोण से संतोष कर लेगा; और उसी सीमित दृष्टिकोण को समीक्षा मान बैठेगा। वह साहित्य तथा जीवन के विषय में प्रशस्त दृष्टिकोण नहीं बना सकता; उसके निरीक्षण तथा चिन्तन में सूक्ष्मदर्शिता नहीं आ सकती; उसके समीक्षा-सिद्धान्त दृढ़ नहीं हो सकते; उसके मूल्यमापन के मानदण्ड में एकरूपता नहीं आ सकती; उसके निर्णय में निष्पक्षता प्रवेश नहीं कर सकती। जो व्यक्ति गंभीर प्रकृत्ति का नहीं होता वही आगे चलकर चिढ़चिढ़े स्वभाव का हो जाता है। छोटी-छोटी त्रुटियों से चिढ़ जाता है; बहुत शीघ्र प्रसन्न तथा बहुत शीघ्र रुष्ट हो जाता है। जिस कवि या व्यक्ति से प्रसन्न हुआ उसे सातवें आसमान पर चढ़ा देगा और जिससे अप्रसन्न हुआ उसे रसातल में पहुँचा देगा। ऐसे ही व्यक्तियों के साहित्य तथा जीवन संबंधी मूल्य, धारणायें तथा आदर्श क्षण क्षण पर बदलते रहते हैं। उनका आस्वादन क्षणिक होता है, उनका विषय प्रतिपादन बहुत हलका होता है। ऐसे ही व्यक्ति बहुत शीघ्र वादों के चक्कर में पड़ जाते हैं; अवसर के अनुकूल अपने को कभी फ्रायडवादी, कभी मार्क्सवादी, कभी रसवादी सिद्ध करते रहते हैं। ऐसे ही समीक्षक साहित्य अथवा समीक्षा को एककालीन राजनीतिक प्रोपोगैण्डा का साधन बना लेते हैं; द्रव्योपार्जन अथवा यशोपलब्धि के लिए साहित्य तथा समीक्षा की हिंसा मनमाने ढंग से करते रहते हैं, ऐसे ही भावकों के मस्तिष्क में शीघ्र विकृति आ जाती है; उनका मानसिक सन्तुलन नष्ट हो जाता है तथा उनका जीवनदर्शन अस्वस्थ।

जो व्यक्ति प्रारम्भ से ही मानव की अच्छाई, भलाई, कल्याण-कामना में विश्वास रखता है, वही आगे चलकर सत्समीक्षक बन सकता है। मानव की अच्छाई एवं भलाई में विश्वास न रखनेवाला व्यक्ति नाना प्रकार के पूर्वग्रहों से शीघ्र ग्रसित हो जाता है। वह समीक्षक के महान चारित्रिक आदर्शों से च्युत हो सकता है; अपनी समीक्षा में बौद्धिक सचाई की

रक्षा नहीं कर सकता (क्योंकि उस पर उसका विश्वास ही नहीं है)। उसकी समीक्षा राष्ट्र-निर्माण, संस्कृति-पूर्णता, लोकोपकार, सत्य-उद्घाटन, साहित्य-विकास, शिवत्त्व या सौन्दर्य-प्रचार आदि की प्रेरणा से परिचालित न होकर संकुचित अहं की संतृप्ति की भावना से सम्पादित होती है। वह अपने संकुचित अहं-तृप्ति के प्रयत्न में पाठकों की आवश्यकताओं की उपेक्षा करने में तनिक भी नहीं हिचकता; लेखक के साथ अन्याय करने में तनिक भी नहीं डरता। वह किसी कृति अथवा कवि का खण्डन तथा मण्डन अपने पाण्डित्य-प्रदर्शन के लिए करता है अथवा किसी राग-द्वेष की तृप्ति के लिए। उसके द्वारा किसी मत का विरोध या प्रतिष्ठापन या तो विद्वत्ता की डींग हाँकने के लिए होता है अथवा किसी दल अथवा वाद में सम्मिलित होने के कारण। ऐसा समीक्षक किसी ग्रन्थ का प्रणयन या तो द्रव्योपार्जन की दृष्टि से करता है अथवा यशोपलब्धि के लिए। किसी विषय अथवा समस्या के पूर्ण ज्ञान के लिए अथवा सत्-असत्-निर्णय के लिए वह किसी कृति की समीक्षा करने के लिए प्रेरित नहीं हो सकता। इस प्रकार के समीक्षक न तो स्वस्थ रचनात्मक समीक्षा में सफल हो सकते हैं और न तटस्थ निर्णय में। जैसे धार्मिक बनने वाला व्यक्ति जब धार्मिकता में विश्वास नहीं करता, मानवता के कल्याण में आस्था नहीं रखता तब धर्म-ध्वजी बनने पर समाज में नाना प्रकार के आडम्बर, पाखण्ड, छल-छद्म, दम्भ आदि की मूर्ति बन जाता है; तद्वत् समीक्षक बनने वाला व्यक्ति मानव-कल्याण में आस्था न रखने पर साहित्य तथा जीवन दोनों क्षेत्रों में नाना प्रकार के दम्भ, अनाचार, अन्याय आदि उत्पन्न कर सकता है।

स्वतन्त्र बुद्धि में समीक्षक के व्यक्तित्व का बीज छिपा है। अतः जिसमें स्वतन्त्र बुद्धि नहीं है वह प्रयत्न करने पर भी समीक्षक का व्यक्तित्व प्राप्त नहीं कर सकता। स्वतन्त्र बुद्धिवाला व्यक्ति गतानुगतिकता अथवा परप्रत्ययनेयता में नहीं पड़ता। किसी रूढ़ि अथवा परम्परा का अन्ध भक्त नहीं होता। प्राचीन होने के कारण न तो किसी वस्तु, प्रणाली, सिद्धान्त, नियम आदि

को सर्वसत्य[1] समझता है और न नवीन होने के कारण किसी को अकरणीय या त्याज्य। वह किसी भी साहित्य अथवा जीवन विषयक धारणा या सिद्धान्त पर बिना[2] जाँच किये विश्वास नहीं करता। जीवन तथा साहित्य दोनों के साथ, वह प्रयोगात्मक दृष्टिकोण रखता है। जो व्यक्ति स्वतन्त्र बुद्धि का नहीं होता, वह झूठे प्रलोभनों, आकर्षणों एवं आतंकों से अपने विचार बदल देता है; साहित्य तथा जीवन के क्षेत्र में प्रसूत विरोधी विचारधाराओं से वह किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है, मिथ्या प्रचारों से उसकी बुद्धि दूषित हो जाती है, वह किसी कवि या कृति के विषय में स्वतन्त्र धारणा नहीं बना पाता; यदि कभी बनाता भी है तो वह किसी बड़े व्यक्ति अथवा दल के खण्डन करने से तुरत बदल देता है। गतानुगतिक बुद्धि रखने से सैद्धान्तिक समीक्षा के क्षेत्र में वह किसी नवीन सत्य, शिवत्व अथवा सौन्दर्य का आविष्कार नहीं कर सकता; केवल पण्डितों का पिछलगा बन सकता है। व्यावहारिक समीक्षा में कवियों अथवा लेखकों की त्रुटियों, दोषों, अभावों को पहचानने में समर्थ नहीं हो सकता; उनका पथ-प्रदर्शक नहीं बन सकता, केवल उनका आस्वादक हो सकता है।

समीक्षक क्रान्ति का अग्रदूत, लेखकों का नेता, कवियों का दार्शनिक, जनता के मस्तिष्क का अभिभावक, संस्कृति का संस्कारक, समाज का सुधारक, तथा नवयुग का संघोषक कहा जाता है। अतः उसको[3]

---

१. पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्षान्यतरद्भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेय बुद्धिः। (कालिदास)

२. *He does not trust ready made opinion without judging or arguing it.* *Reader and Critic*—**Hallbrook and Jackson**

३. *Taste needs honesty and courage to, support it, for we ask that the critic should record his findings without considering current fashion and no matter how eminent the author he is studying should percieve and point out where a work changes from great to good* *The English Critic by*—N. L. Clay.

निर्भीक होने की महान आवश्यकता है। कभी कभी वह विचारों में अकेला पड़ सकता है; सारी दुनिया उसके विरोध में खड़ी हो सकती है; सारी जनता कभी कभी उसे समझने में असमर्थ होकर उसके ऊपर गालियों की वर्षा कर सकती है; जूतों की माला पहना सकती है; उसी के दल वाले कभी कभी उसका अपमान कर सकते हैं; उसी के देश वाले उस पर गोली चला सकते हैं; अपने विचारों के लिए वह फाँसी के तख्ते पर चढ़ाया जा सकता है; जहर का प्याला उसे पिलाया जा सकता है; क्रास के ऊपर भी चढ़ने की बारी आ सकती है—इन उपर्युक्त परिस्थितियों में यदि वह निर्भीक नहीं रहा तो वह अपने विचारों पर दृढ़ नहीं रह सकता; और यदि अपने समीक्षण द्वारा सिद्ध किये हुए ठीक विचारों पर दृढ़ नहीं रहा तो वह समीक्षक कहलाने का अधिकारी नहीं है। निर्भीकता के अभाव में समीक्षक के हृदय में आत्मविश्वास नहीं उत्पन्न हो सकता और आत्मविश्वास की अनुपस्थिति में कटु आलोचना होने पर वह अपने विचारों के पथ पर आगे बढ़ नहीं सकता। भीरु स्वभाव वाले समीक्षक से निष्पक्ष होने की सम्भावना कम रहती है। वह अपने मित्र-शत्रु दोनों से डरता है। फलतः किसी के साथ न्याय करने में असमर्थ हो सकता है। कोई भी समीक्षक अभय हुए बिना सत्व-संशुद्धि प्राप्त नहीं कर सकता और सत्व-संशुद्धि के अभाव में वह साहित्य का ठीक प्रकार से रसास्वादन नहीं कर सकता, क्योंकि ठीक प्रकार का रसास्वादन सत्वोद्रेक की अवस्था में ही सम्भव है। सत्समीक्षक विचार-सुख को भौतिक सुख से श्रेयस्कर समझता है अतएव वह भौतिक सुख के अपहृत होने की आशंका अथवा भय से कभी विचार-सुख को नहीं छोड़ता।

आनुवंशिक तथा अर्जित दोनों प्रकार के स्वभावों का समीक्षक के जीवन में इतना अधिक महत्व है कि उन्हीं के अनुसार उसके व्यक्तित्व की दिशा निश्चित होती है। पहले उसके आनुवंशिक स्वभाव पर विचार करना चाहिए:—अनुवंशतः गम्भीर प्रकृति वाला व्यक्ति समीक्षा क्षेत्र में प्रवेश करने पर सैद्धान्तिक समीक्षा में सफल हो सकता

है। भावुक प्रकृतिवाले व्यक्ति प्राय: वैयक्तिक या प्रभाववादी समीक्षक होते हैं, उद्धत एवं शासक वृत्ति रखने वाले प्राय: निर्णयवादी समीक्षक बन जाते हैं। मौलिकताहीन या परप्रत्ययनेय वृत्तिवाले व्यक्ति प्राय: परम्परावादी समीक्षा लिखते देखे जाते हैं। केवल भावयित्री मनोवृत्ति वाला व्यक्ति, आस्वादक या प्रशंसक हो सकता है। जागरूक एवं विश्लेषण वृत्ति वाला विवेचनात्मक समीक्षा लिखने में अधिक सफल हो सकता है। जन्मत: छिछली मनोवृत्ति एवं चिढ़चिढ़ा स्वभाव वाला प्राय: छिछली एवं विध्वंसात्मक समीक्षा लिखता है। निसर्गत: अरोचकी वृत्ति वाला व्यक्ति निन्दात्मक समीक्षा लिखता है; उसे कोई रचना अच्छी नहीं लगती; उसे सर्वत्र दोष ही दोष दिखाई पड़ता है।

अब समीक्षक के उपार्जित स्वभाव का उसके व्यक्तित्व पर प्रभाव देखना चाहिए। विकृत मस्तिष्क वाला व्यक्ति समीक्षा—क्षेत्र में प्रविष्ट होने पर कभी तटस्थता प्राप्त नहीं कर सकता; उसका निर्णय प्राय: वैयक्तिक होगा। वह जीवन के विकृत मूल्यों में अधिक स्वाद लेगा। मिथ्याभिमानी व्यक्ति समीक्षा में अरोचकी हो जायगा। साहित्य के गुण दोष को पहचानने में असमर्थ होगा। अपनी साहित्यिक महत्त्वा-कांक्षाओं में असफल रहनेवाला व्यक्ति समीक्षा लिखने में प्राय: असहिष्णु मनोवृत्ति का हो जाता है। किसी कृति अथवा कवि का ठीक मूल्य-निर्धारण करने में वह असमर्थ सिद्ध होता है। उसकी समीक्षा प्राय: विध्वंसात्मक होती है। अपने व्यावसायिक, साहित्यिक या राजनीतिक जीवनमें विफल या भग्नाश व्यक्ति समीक्षा-क्षेत्र में प्राय: अन्तश्चेतनावादी समीक्षक हो जायगा। उसकी वैयक्तिक रुचि-अरुचि का उसके निर्णय या मूल्य-निर्धारण में सबसे अधिक हाथ रहेगा। उसकी समीक्षा वैयक्तिक होने के कारण जीवन-सापेक्ष्य कम होगी। वह अपनी समीक्षा में सामाजिक प्रभाव की उपेक्षा करेगा। उसकी समीक्षा-दृष्टि सामाजिक लक्ष्य से दूर हट जायगी। मत्सरी स्वभाव वाला समीक्षा में द्वेष-वश दूसरों के गुण को भी दोष रूप में सिद्ध करने का प्रयत्न करेगा। वहिर्मुखी वृत्ति वाला समीक्षक अपनी समीक्षा में सामाजिक शक्तियों, प्रभावों

एवं प्रतिक्रियाओं का अधिक विचार करेगा किन्तु इसके विरुद्ध अन्तर्मुखी वृत्ति वाला समीक्षक अपनी समीक्षा में सामाजिक तत्त्वों को गौण स्थान देगा। प्रकृति भेद के अनुसार समीक्षकों के अनेक भेद किये जा सकते हैं जैसे—भावनाशील, अन्तर्ज्ञानशील, प्रवृत्तिशील, अन्तर्मुखी, वहिर्मुखी, अरोचकी, मत्सरी, अन्तश्चेतनावादी आदि। यहाँ तक समीक्षक के आनुवंशिक तथा अर्जित स्वभाव एवं उसके प्रभाव पर विचार हुआ; अब उसके उन गुणों पर विचार करना चाहिये जिन्हें वह अपने वातावरण तथा इच्छाशक्ति द्वारा प्राप्त करता है और जो उसे आदर्श समीक्षक बनाने में समर्थ होते हैं। विश्लेषण की सुविधा की दृष्टि से हम इन्हें तीन भागों में बाँट सकते हैं—ज्ञान सम्बन्धी, चरित्र-सम्बन्धी तथा व्यवसाय सम्बन्धी। सबसे पहले उसके ज्ञान सम्बन्धी गुण पर विचार करना चाहिए। भरत मुनि की दृष्टि में समीक्षक का सबसे पहला गुण बुध होना है। बुध का अर्थ यहाँ केवल पुस्तकीय ज्ञान से ही नहीं वरन् अनुभवजन्य ज्ञान से भी है। अभिनव गुप्त ने सहृदयों का लक्षण गिनाते समय सबसे पहला लक्षण व्यासंग अर्थात् अध्ययन रखा है; द्वितीय लक्षण विकसित मन है; तथा तृतीय लक्षण में कवि हृदय से समरस होने की चित्तवृत्ति आती है। यदि ध्यान पूर्वक विचार किया जाय तो पता चलेगा कि द्वितीय लक्षण अर्थात् विकसित मन भी अध्ययन के ऊपर ही निर्भर है; तृतीय लक्षण अर्थात् कवि-हृदय के साथ समरस होने की चित्तवृत्ति अर्थात् राजशेखर के शब्दों में भावयित्री शक्ति प्रकृत प्रदत्त रहती है किन्तु अध्ययन तथा अनुभव के अभाव में वह संकीर्ण हो जाती है अथवा बिल्कुल ही नष्ट हो जाती है, तात्पर्य यह कि समीक्षक का सबसे व्यापक और महत्त्वपूर्ण गुण उसका सर्वांङ्गीण अध्ययन अर्थात् ज्ञान है। यदि समीक्षा किसी वस्तु, व्यक्ति, कृति, कवि का पूर्ण ज्ञान है, तब उसके कर्ता अर्थात् समीक्षक को पूर्ण रूप से ज्ञानी होना ही पड़ेगा। समीक्षक के लिए ज्ञान की आवश्यकता सिद्ध करने के पश्चात् अब प्रश्न यह उठता है कि उसे किन किन विषयों का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। सामान्य रूप से इसका उत्तर साधारण

है अर्थात् सौंदर्य शास्त्र के विशेष ज्ञान के अतिरिक्त साहित्य से सम्बन्ध रखने वाले अन्य सभी अन्तर्योगी विषयों का सामान्य ज्ञान समीक्षक के लिए आवश्यक है। सैद्धान्तिक समीक्षक कलात्मक सौन्दर्य के स्वरूप, तत्त्व, सिद्धान्त[1], नियम[2], साधन, भेद, विधि, प्रक्रिया[3], प्रयोजन, मानदण्ड, दर्शन, इतिहास आदि का विवेचन करता है तथा व्यावहारिक समीक्षक उनकी उपयोगिता, व्यावहारिकता, प्रयोगार्हता आदि पर परीक्षात्मक ढंग से विचार करते हुए कवियों के ऊपर उनका समीचीन प्रयोग करता है। इसलिये समीक्षक को प्राचीन तथा नवीन सौन्दर्य-शास्त्र का साङ्गोपाङ्ग ज्ञान कार्यकारण रूप में अत्यावश्यक है।

समाज और साहित्य का घनिष्ठ संबन्ध है। साहित्यकार समाज के आदर्शों, आवश्यकताओं, समस्याओं, विचारों, भावनाओं, आलम्बनों, उद्दीपनों को साहित्य के भीतर कलात्मक ढंग से प्रतिष्ठित करता है। साहित्यकार के साहित्य-निर्माण का उद्देश्य किसी न किसी रूप में सामाजिक ही रहता है; चाहे वह स्वान्तःसुखाय रचना कर रहा हो चाहे पर-हिताय। कवि अथवा लेखक भी और लोगों की तरह समाज में जन्म लेता है, शिक्षा प्राप्त करता है और अपने मतों को निश्चित तथा आदर्शों को निर्मित करता है। समाज के ही रूपों के आधार पर वह अपने आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव आदि की योजना में समर्थ होता है। सब प्रकार से उसके व्यक्तित्व[4] का

---

१. *Criticism deals with the principles and process of the making of Literature*   *The Process of Literature*

२. *Criticism is an examination of the principles of art.* —Arnold

३. *Judgement of Literature involves aesthetic standard.*
The process of Literature by—Mackenzie

४. *True Individuality of the poet is concrete universality*
—Mackenzie

निर्माण सामाजिक तत्त्वों द्वारा ही होता है। वह ग्रन्थकार की उदारता, संकीर्ण-हृदयता, राष्ट्रीयता, मानवता, संस्कृति-प्रेम, युग-प्रेम आदि का पता समाज शास्त्र के अध्ययन के अभाव में नहीं लगा सकता। जब समाज का साहित्य से इतना घना सम्बन्ध है तब साहित्य की जाँच करने वालों के लिए समाज की उन क्रान्तियों, घटनाओं, विचार-धाराओं, संघटनों, शक्तियों, तत्त्वों, वृत्तियों आदि का ज्ञान प्राप्त करना परम आवश्यक है जो साहित्य तथा साहित्यकार के निर्माण को प्रभावित करती हैं। इनके ज्ञान के अभाव में वह साहित्य तथा साहित्यकार को ठीक प्रकार से समझ ही नहीं सकता उनका मूल्य कैसे आँकेगा। यहाँ ज्ञान का अर्थ केवल अतीत या वर्तमान अथवा भविष्य के विश्लिष्ट सामाजिक ज्ञान से नहीं वरन् तीनों के संश्लिष्ट ज्ञान एवं उनके क्रमिक विकास से है तभी तो वह बता सकेगा कि अतीत के किन-किन तत्त्वों, विचारों, भावों से वर्तमान का निर्माण हुआ है, अतीत का कौन सा अंश अभी वर्तमान में सम्मिलित होने योग्य है और कौन भाग केवल इतिहास की वस्तु रह गया है। समीक्षक जनता की पुकार का प्रतीक कहा जाता है, इस अर्थ में उसे वर्तमान युग का सम्यक् ज्ञान रखना आवश्यक हैं जिससे वह जनता की आवश्यकताओं, अभावों तथा समस्याओं को समझ सके, वर्तमान के ग्राह्य तथा अग्राह्य तत्त्वों तथा युग के कवियों की वर्तमान विचारधाराओं पर ठीक निर्णय दे सके।

समीक्षा व्यापक अर्थ में सामाजिक सुधार की एक शाखा मानी जाती है। इस दृष्टि से समीक्षक अपने युग की सड़ी गली रूढ़ियों, रीतियों, नियमों के हानिकारकस्वरूपों को स्पष्ट करता हुआ उनके स्थान पर नवीन रीतियों, नियमों, विचारों के स्थापन की आवश्यकता को स्पष्ट करता है। इस प्रकार वह युग की पूर्णता के प्रश्न के समाधान में विचार रूप से योग दान करता है। इस दृष्टि से उसे तत्कालीन सामाजिक जीवन की पूर्णता तथा अपूर्णता का ज्ञान रखना परम आवश्यक है। समीक्षक का काम साहित्यगत विचारों तथा भावों के आस्वादन तथा निर्णय का है। जब तक वह उस जीवन को जानेगा नहीं तब तक उस

पर निर्णय कैसे देगा? सांस्कृतिक दृष्टि से समीक्षक संस्कृति का उत्थान-कर्त्ता माना जाता है। यहाँ संस्कृति का अर्थ है सामाजिक जीवन के सभी पक्षों, तत्त्वों, मूल्यों का सम्यक् ज्ञान। समीक्षक का कार्य केवल कवि-वर्णित जीवन का भाष्य करना ही नहीं है वरन् उसकी उपयोगिता, अनुपयोगिता को भी स्पष्ट करना है। तुलनात्मक दृष्टि से उसके विविध स्वरूपों पर प्रकाश डालना है। कवि के मार्ग-प्रदर्शन की दृष्टि से उसके सामाजिक-दर्शन की कमियों तथा दोषों का उल्लेख करना है। कहने की आवश्यकता नहीं कि उपर्युक्त कार्यों के सम्पादन के लिए समीक्षक में वर्तमान और अतीत दोनों का ज्ञान होना आवश्यक है। उपर्युक्त विवेचन से यह भी बात स्पष्ट हो गई कि समीक्षक के लिए सामाजशास्त्र की दृष्टि से इतिहास का अध्ययन करना परमावश्यक है। इतिहास का अध्ययन इतिवृत्तात्मक नहीं वरन् विचारात्मक होना चाहिये। जैसे किसी युद्ध के हाथी, घोड़े, पैदल, सेना आदि के ज्ञान की, समीक्षक के लिए उतनी आवश्यकता नहीं, जितनी उस युद्ध के कारण तथा उसके सामाजिक प्रभाव के ज्ञान की आवश्यकता है। किसी युग के इतिहास का अध्ययन उसके लिए आर्थिक तथा सामाजिक दृष्टि से जितना आवश्यक है उतना वर्णनात्मक दृष्टि से नहीं। इतिहास के सामाजिक अध्ययन के लिए उसे उस युग की सामाजिक परिस्थिति, सामाजिक संगठन, शासन-प्रणाली, राजनीतिक-क्रान्ति, धार्मिक-विचार, आर्थिक ढाँचा, रहन-सहन, शिक्षा, भाषा आदि के ज्ञान की आवश्यकता है। इस तरह के ऐतिहासिक ज्ञान से जो समीक्षक सम्पन्न रहेगा वही ऐतिहासिक समीक्षा में समर्थ हो सकता है।

समीक्षक वर्तमान काल में साहित्य और जीवन दोनों के लिए ऐसे नवीन नियम बनाता है, ऐसी नूतन पद्धति का निर्माण करता है जो भविष्य में भी स्थिर रह सकें। वह वर्तमान को प्रदीप्त कर उसकी प्रगतिकारी स्फुलिङ्गों को पकड़ कर उन्हें भविष्य की ओर फेंकता है जिनसे एक नये युग तथा समाजका निर्माण होता है। इस प्रकार वह भविष्य के अग्रदूत के रूप में वर्तमान की प्रगतिशील शक्तियों

का प्रत्यभिज्ञान रखता है तथा उनके द्वारा वह भविष्य के निर्माण का पथ भी जानता है एवं इसके साथ ही वह आगामी क्रान्तियों के बीज-वपन का ज्ञान भी रखता है। जो समीक्षक अपनी समीक्षा में भविष्य के लिए प्रेरणा या प्रकाश नहीं रखता अथवा जो विचार रूप में आगामी क्रान्तियों का बीज नहीं रखता वह अपने युग में ही समाप्त हो जाता है। सैद्धान्तिक समीक्षा में समीक्षक भाव या विचार की विभिन्न अभिव्यक्ति-प्रणालियों पर प्रकाश डालता है; उनके विभिन्न नियामक तत्वों पर विचार करता है; काव्यानन्द के मनोवैज्ञानिक कारणों का विवेचन करता है। समीक्षा[१] में कवि का मनोविश्लेषण आवश्यक है अन्यथा वह एकाङ्गी हो जाती है। इसलिए समीक्षक कवि के मानसिक विकास की विभिन्न स्थितियों तथा प्रमुख तत्वों की व्याख्या करता है। कवि का मन सामान्य मनुष्यों के मन से किस प्रकार अलग है? वह किस प्रकार काव्य की प्रेरणा ग्रहण करता है? काव्य-सृष्टि में किस प्रकार उसके चेतन, अचेतन तथा अर्द्धचेतन मन की अभिव्यक्ति होती है? किन स्थितियों में वह अपने वैयक्तिक मन से ऊपर उठ कर सामाजिक मन की अभिव्यक्ति करता है[२]? उसके मस्तिष्क की रचना कीन कारणों से किसी विशिष्ट दिशा में विशिष्ट प्रकार की हुई है? आदि प्रश्नों का वह विशद उत्तर देता है। काव्य के विभिन्न नियामक तत्व—कल्पना, भावना, विचार, अनुभूति, मनोवेग, निरीक्षण आदि का सम्बन्ध मनोविज्ञान से है। काव्य के प्राण-तत्व रस तथा उसके विभिन्न अवयवों का संबंध भी मानसिक जगत से ही है। रस, स्थायी भाव के रूप में सहृदय के मन में प्रस्तुत रहता है, वह अनुकूल वातावरण पाकर सहृदय के ही हृदय में उत्पन्न होता है। काव्या-

---

१. *For a scientific critic a capacity for dispassionate psychological analysis is required* —Richards

२. *A critic should tell us how and why poet's mind is of such nature rather than another.*

स्वादन वस्तुतः सहृदय के मन की विभिन्न इच्छाओं की सामाजिक संतृप्ति के अतिरिक्त और कुछ नही है। रसास्वादन के लिए पाठक, श्रोता या समीक्षक का मन किस प्रकार का होना चाहिए—इसका यथार्थ ज्ञान मनोविज्ञान ही कराता है। काव्य का उद्देश्य भी एक प्रकार से मानसिक परिवर्तन ही है :—चाहे वह व्यक्ति का हो, चाहे समाज का। काव्य के उद्देश्य—भाव संशुद्धि, मानसिक उदात्तीकरण, वासना-संतृप्ति, भावोद्रेक आदि सभी में एक प्रकार से मानसिक परिवर्तन ही होता है। इस प्रकार हमने देखा कि सैद्धान्तिक समीक्षा में किस प्रकार पग पग पर मनोविज्ञान सम्बन्धी ज्ञान की परम आवश्यकता है। व्यावहारिक समीक्षा में किसी कृति की समीक्षा का अर्थ है उस कृतिकार की समीक्षा। कृतिकार की समीक्षा का तात्पर्य है उसके मानसिक जगत का साङ्गोपाङ्ग अध्ययन—उसके चेतन, अचेतन, अर्द्धचेतन मन के विभिन्न पक्षों का ज्ञान; उसकी अन्तर्मुखी तथा वहिर्मुखी प्रवृत्तियों का अनुशीलन; उसके मानसिक विकास की विभिन्न स्थितियों, प्रक्रियाओं तथा तत्त्वों का परिचय। कवि के उपर्युक्त मानसिक अध्ययन के लिए उसकी आनुवंशिक परम्परा, संस्कार, जाति, कुल, परिवार, धर्म, शिक्षा, संस्था सम्पर्क, अध्ययन, जीवन-दृष्टिकोण, विभिन्नमानसिक परिवर्तन आदि का अध्ययन करना पड़ता है तथा साथ ही यह भी देखना पड़ता है कि कृतिकार की कृति पर इन सब तत्वों का क्या प्रभाव पड़ा? अर्थात् उसकी कृतियाँ कहाँ तक उसके मानसिक जगत की अभिव्यक्ति हैं? यदि समीक्षक उपर्युक्त प्रकार के मनोवैज्ञानिक अध्ययन में समर्थ नहीं होता तो वह किसी कृतिकार या कृति को ठीक प्रकार से समझ ही नहीं सकता, उसकी अनुभूतियों का विश्लेषण कैसे करेगा? उनका मूल्य कैसे निरूपित करेगा? जब तक समीक्षक कवि के मानसिक आदर्शों को नहीं जानता तब तक वह उसकी किसी कृति के आदर्शों को ठीक प्रकार से नहीं समझ सकता। जब तक कोई समीक्षक किसी कृति या कृतिकार के आदर्शों को नहीं समझता तब तक उसकी असफलता, त्रुटि, या अभाव का ज्ञान नहीं कर सकता। यदि ध्यान से विचार

किया जाय तो पता चलेगा कि साहित्य-सजना, साहित्यास्वादन, साहित्य निर्णय में भी मन की विभिन्न शक्तियाँ काम कर रही हैं। उपर्युक्त विवेचन का तात्पर्य यह है कि आदर्श समीक्षक बनने के लिए मनोविज्ञान का ज्ञान आवश्यक है।

समालोचना में तर्कशक्ति का भी पर्याप्त काम पड़ता है। क्योंकि समीक्षक प्रत्येक[1] वस्तु को कार्य कारण रूप में देखता है। इसके बिना वह किसी मत का स्थापन अथवा खण्डन नहीं कर सकता; अपने सिद्धान्तों अथवा विवेचनों को पाठकों के लिए विश्वसनीय तथा ग्राह्य नहीं बना सकता। इसलिये इस शक्ति का समीक्षक में, अच्छी मात्रा में होना अनिवार्य है। यह शक्ति विशेषतः न्याय-शास्त्र के अध्ययन से बढ़ती है। न्यायशास्त्र इस बात का निश्चय दिलाता है कि अमुक प्रकार की प्रतिज्ञा या पूर्वावयव से अमुक प्रकार का उपसंहार होगा। परिभाषा या लक्षण-कथन की प्रक्रिया क्या है? परिभाषा में किस प्रकार व्याप्ति, अव्याप्ति, अतिव्याप्ति दोष आते हैं? समीक्षा में पूर्वापर संबंध रखना क्यों आवश्यक है? कथन में विरोध कैसे उत्पन्न होता है? विरोधी कथन वाली समीक्षाओं को कोई क्यों नहीं पढ़ना चाहता? आदि बातों का ठीक ज्ञान न्यायशास्त्र के ही अध्ययन से हो सकता है। न्यायशास्त्र के ज्ञान बिना और लोगों का काम भले ही चल जाय, पर समीक्षक का काम तो एक क्षण भी नहीं चल सकता;[2] क्योंकि तर्कशास्त्र के मानदण्ड सदा साहित्य-निर्णय में समाविष्ट रहते हैं। समीक्षक के लिए न्यायशास्त्र का ज्ञान उतना ही आवश्यक है जितना इंजिनियर के लिए यंत्र-विद्या या डाक्टर के लिये शरीर-विज्ञान।

---

1. *Critic wishes to see every thing in its causes* —Lucretius.
2. *Judgement of Literature involves standards which are logical, ethical and aesthetic.* *Process of Literature*—Mackenzie

देश काल से साहित्य का अविच्छिन्न संबंध है क्योंकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्तियों का प्रतिबिम्ब होता है। जनता की चित्तवृत्तियों को बदलने में राजनीति का, बहुत प्रमुख हाथ रहता है। इस प्रकार साहित्य-पट-परिवर्तन में राजनीतिक परिस्थितियाँ, प्रगतियाँ बहुत अधिक काम करती हैं। अतः साहित्य को ठीक ठीक समझने के लिए उसके कारण स्वरूप, राजनीतिक परिस्थितियों को समझना आवश्यक है। राजनीतिक परिस्थितियों को समझने के लिए समीक्षक को राजनीति का सामान्य ज्ञान रखना आवश्यक है। हिन्दी भाषा के चारों कालों का साहित्य राजनीतिक परिस्थितियों के प्रभाव, प्रतिक्रिया अथवा प्रतिबिम्ब रूप में दिखाई पड़ता है। अतः उन युगों के किसी भी कवि अथवा लेखक को समुचित ढंग से समझने के लिए अथवा उस युग के लिए उसका मूल्य निश्चित करने के लिए तत्कालीन राजनीतिक विचारधारा का ज्ञान आवश्यक है। इसी प्रकार अँग्रेजी कविता भी अपने अपने युगों की राजनीतिक विचारधारा की प्रतिक्रिया, प्रभाव या परिणाम स्वरूप में उत्पन्न हुई है। उदाहरणार्थ—फ्रान्स की राज्यक्रान्ति की विचारधारा को समझे बिना वर्ड्सवर्थ, शेली, वाइरन की कविता का ठीक मूल्याङ्कन करना कठिन है। इसी प्रकार आधुनिक राजनीतिक विचारधाराओं को समझे बिना प्रसाद, प्रेमचन्द, पन्त, गुप्त आदि साहित्यकारों की कृतियों पर समुचित निर्णय नहीं दिया जा सकता।

सैद्धान्तिक समीक्षा में साहित्य का दर्शन विवक्षित रहता है। साहित्य[1]-दर्शन में जगत और मानव-जीवन का दर्शन सामान्य रूप से तथा कलाकार रूप में मनुष्य का कर्तव्य, प्रवृत्ति, दायित्व, व्यक्तित्व

---

१ *Philosophy of art is a general philosophy of man and his world with special reference to man's function as an artist and his world aspect of beauty.*

Types of Aesthetic Judgement by—E. M. Bartle.

आदि विशिष्ट रूप से विवेचित रहता है। किसी देश या युग का साहित्य-दर्शन उसके जीवन-दर्शन के अनुसार बदलता रहता है। अतः जीवन-दर्शन के सम्यक ज्ञान के अभाव में, कोई समीक्षक सैद्धान्तिक समीक्षा की रचना में सफल नहीं हो सकता। व्यावहारिक समीक्षा में, समीक्षक कवि के कलातत्त्व अथवा रचना तंत्र पर ही निर्णय नहीं देता, वरन् उसके भावपक्ष, विचार-तत्त्व तथा जीवन-दर्शन पर भी निर्णय देता है; उसकी उपयोगिता एवं अनुपयोगिता पर विचार करता है। सामान्य जीवन-दर्शन के सम्यक् ज्ञान के अभाव में वह इस कार्य में सफल नहीं हो सकता; विशेषतः हिन्दी के निर्गुणवादी, प्रेममार्गी, तथा सगुणवादी कवियों की समीक्षा में तत्सम्बन्धी विशिष्ट दर्शनों के ज्ञान के अभाव में वह उनकी कृतियों को समझ ही नहीं सकता; उनकी दार्शनिक विचारधाराओं पर निर्णय कैसे देगा? उनकी उपयोगिता एवं अनुपयोगिता पर प्रकाश कैसे डालेगा? विशिष्टाद्वैत का सम्यक् ज्ञान किये बिना कोई समीक्षक तुलसी के 'मानस' का ठीक अनुशीलन नहीं कर सकता; सूफी दर्शन के अभाव में जायसी का सम्यक् अध्ययन नहीं हो सकता; आनन्दवाद के अध्ययन के बिना कामायनी का ठीक मूल्याङ्कन नहीं किया जा सकता। आधुनिक साहित्य में जीवन तथा साहित्य सम्बन्धी विभिन्न वाद फैले हुए हैं। उन वादों का दार्शनिक ज्ञान किए बिना कोई समीक्षक उन पर ठीक सम्मति नहीं दे सकता। इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध हुआ कि समीक्षक, दर्शन का अध्ययन किए बिना अपने समीक्षण कार्य में सफल नहीं हो सकता।

काव्य और सदाचार से नित्य सम्बन्ध है; क्योंकि काव्य का वास्तविक महत्त्व औचित्य-रक्षा पर निर्भर है। जहाँ औचित्य खंडित होता है वहाँ काव्य सदोष दिखाई पड़ता है। रसभंग या रसाभास अनौचित्य के कारण उपस्थित हुआ करता है। किसी देश के साहित्य में औचित्य की रक्षा वहाँ के धार्मिक तथा नैतिक नियमों के पालन से होती है। किसी समाज के साहित्य गत औचित्य-ज्ञान के लिए उसके

धार्मिक तथा नैतिक नियमों का परिज्ञान आवश्यक है। औचित्य ज्ञान के बिना कोई व्यक्ति किसी कवि या कृति के निर्णय अथवा मूल्यांकन में समर्थ नहीं हो सकता। इसीलिये साहित्य-समीक्षा के मानदण्डों के भीतर धार्मिक तथा नैतिक मानदण्डों का भी समावेश किया जाता है। उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध हुआ कि धर्म तथा नीति सम्बन्धी ज्ञान के अभाव में समीक्षक साहित्यगत मूल्यों अथवा मानदण्डों का निराकरण ठीक-ठीक नहीं कर सकता;[१] क्योंकि साहित्य के मूल्यों में नैतिक मूल्य समाये हुए हैं। परिणामतः वह काव्य के शिव तथा अशिव पक्ष को बतलाने में एवं काव्यगत दोषों को पहचानने में असमर्थ सिद्ध होगा। तात्पर्य यह कि जीवन सम्बन्धी गुण-दोष विवेचन के लिए तथा समीक्षा के मानदण्डों की रक्षा के लिए समीक्षक को धर्म तथा नीति का सामान्य ज्ञान रखना आवश्यक है।

समीक्षक के लिए केवल यही आवश्यक नहीं कि जिस भाषा में वह समालोचना करने बैठा हो उसमें साधारण रीति से लिख या पढ़ सकता हो; किन्तु उसे उसका पूरा पण्डित होना चाहिए। भाषा की विविध शक्तियों, रीतियों, पद्धतियों, गुणों, दोषों, विशेषताओं आदि का उसे सम्यक् ज्ञान होना चाहिए; शब्दों के विभिन्न रूपों—तत्सम, तद्भव, देशज, संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि से परिचित होना चाहिए। वाक्यों में पदों के सदुपयोग तथा दुरुपयोग का ज्ञान होना चाहिए; अन्यथा वह साहित्य का अर्थ लगाने में ही समर्थ नहीं हो सकता, उसकी विशेषताओं, उपयोगिताओं तथा मूल्यों का उद्घाटन तथा विवेचन कैसे करेगा।

सामान्य व्यक्तियों का ज्ञान पूर्वग्रह गृहीत, अव्यवस्थित, अनिश्चित, अधूरा, अतार्किक, तथा स्थूल कोटि का होता है किन्तु इसके विरुद्ध

---

[१] *The values of Literature, the standard by which it must be criticized are in the last resort moral.* —Murrey

समीक्षक का ज्ञान पूर्वग्रह मुक्त, व्यवस्थित, सुसम्बद्ध, निश्चित, साङ्गोपाङ्ग, तार्किक तथा निर्दोष कोटि का होता है। उक्त सभी विषयों का उक्त प्रकार का ज्ञान किसी एक व्यक्ति में मिलना कठिन है इसीलिये निर्दोष तथा आदर्श समीक्षक शताब्दियों के बाद कभी कभी दिखाई पड़ते हैं; किन्तु इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि सत् समीक्षक बनने के लिए उक्त सभी विषयों का ज्ञान उक्त कोटि का होना आदर्श रूप में अनिवार्य है।

अब समीक्षक के चारित्रिक गुणों पर विचार करना चाहिए। भरत मुनि के अनुसार उसमें चारित्र्य, निर्व्यसन, निष्पक्षपात, रसग्रहणक्षमता आदि गुणों का होना आवश्यक है। साहित्य समझने के लिए समीक्षक को सबसे पहले मनुष्य बनना आवश्यक है। जो मनुष्यत्व नहीं रखता या मनुष्यत्व में विश्वास नहीं करता वह समीक्षक नहीं हो सकता। मनुष्यत्व की रक्षा के लिए समीक्षक का सबसे प्राथमिक आवश्यक गुण उसका मानसिक स्वास्थ्य है, क्योंकि इसके अभाव में वह नाना प्रकार की ईर्ष्या, द्वेष, अहंकार, मिथ्या, दम्भ आदि मानसिक दोषों से युक्त हो जाता है; वह नाना प्रकार के पूर्वग्रहों से ग्रसित हो जाता है। पूर्वग्रहों से ग्रसित होने पर उसका मानसिक जगत संकुचित हो जाता है। मानसिक जगत संकुचित होने पर वह सब प्रकार के कवियों के साथ; सब प्रकार की भावनाओं तथा विचारधाराओं के साथ सहानुभूति या तादात्म्य नहीं स्थापित कर सकता। वह जातीयता, धार्मिकता, साम्प्रदायिकता, राष्ट्रीयता, तथा राजनीतिक-वाद की एकदेशीय दृष्टियों से आपूर्ण होने के कारण अपनी रुचि या विचारधारा से भिन्न कोटि वाले साहित्य या कवियों के साथ न्याय करने में असफल हो जाता है। इसीलिए समीक्षक के लिए विस्तृत मन का होना परमावश्यक बतलाया गया है जिससे वह परिवार, धर्म, मित्र, जाति, सम्प्रदाय, विशिष्ट भाषा-शैली आदि के पूर्वग्रहों से मुक्त होकर सब जातियों, धर्मों, सम्प्रदायों, संस्कृतियों, साहित्यों, भाषाओं तथा वादों के प्रति समान आदर की भावना स्थापित करने में समर्थ हो सके। उपर्युक्त

दोषों से बचने के लिए उसे अपना झुकाव किसी विशिष्ट धर्म, वाद, जाति, सम्प्रदाय, दर्शन, भाषा, कवि, साहित्य, शैली आदि से आसक्ति-पूर्ण नहीं बनाना चाहिए। उसे किसी विषय में ऐसी दृढ़ भावना या धारणा नहीं रखनी चाहिये जिसके ऊपर वह कभी उठ न सके अन्यथा उसकी भावयित्री शक्ति तथा समीक्षात्मक दृष्टि सीमित हो जायगी। जो समीक्षक अपनी किसी दृढ़ भावना या धारणा से तटस्थता प्राप्त नहीं कर सकता वह समीक्षा के सबसे आवश्यक गुण सहृदयता को प्राप्त नहीं कर सकता। सहृदयता या सहानुभूति का यहाँ अर्थ है कवि के उद्देश्य के साथ तादात्म्य स्थापित करने की शक्ति; उसकी भावना से भावित होने की क्षमता; पूरे कवि व्यापार से साधारणीकरण स्थापित करने की सामर्थ्य। जिस समीक्षक के पास सहानुभूति का गुण रहता है उसमें सहिष्णुता, उदारता, सरसता आदि गुण अपने आप आ जाते हैं।

समीक्षक में वर्णनीयतन्मयीभवन योग्यता का होना अत्यन्त आवश्यक है। वर्णनीय विषय के साथ तन्मय होने की शक्ति उसी में आ सकती है जिसकी रुचि विस्तृत हो। समीक्षक का काम मौन आस्वादन से ही नहीं चल सकता। उसे अपने समीक्ष्य-विषय पर सम्मति भी देनी पड़ती है। इसलिये वर्णनीयतन्मयीभवन योग्यता के साथ उसमें हृदयसंवादित्व की भी परम आवश्यकता है। हृदय-संवादित्व उसी में आ सकता है जिसका मन बहुत ही सरस, उदार, सहिष्णु एवं सन्तुलित वृत्ति का होता है। सत्-समीक्षक सदा सारग्राही वृत्ति रखता है। इसीलिए उसकी दृष्टि सदा सत् के संग्रह तथा असत् के त्याग पर रहती है। वह समीक्षा को संचयन-समाधि मानता है। समालोचक को सदा इस बात का प्रयत्न करना चाहिये कि किसी भी कारण से उसके द्वारा ग्रन्थकार पर अन्याय न हो। इस कार्य में उसे सफलता मिलना तभी सम्भव है जब उसकी दृष्टि सदा पक्षपात-रहित हो। पक्षपात-हीन दृष्टि उसे तभी मिल सकती है जब वह वैयक्तिक रुचि-अरुचि से ऊपर उठकर सामाजिक दृष्टि से मत-प्रकाशन, मूल्यांकन अथवा निर्णय-दान को अपने स्वभाव की वस्तु बना लेगा।

समीक्षक में निर्लोभता का भी गुण होना नितान्त आवश्यक है; अन्यथा वह धन, सम्मान, पद, आत्मप्रशंसा, प्रचार आदि के लोभ में आकर अपने अन्तःकरण के विरुद्ध भी लिख सकता है। अपनी बौद्धिक सचाई से च्युत हो सकता है और अपने मूल्य-मापन की कसौटी को मलिन कर सकता है। बहुत से प्रसिद्ध समीक्षक किसी भौतिक वस्तु की प्राप्ति के लोभ से प्रसिद्ध पुरुषों की साधारण पुस्तकों की भी प्रशंसा करते देखे गये हैं।

यह प्रायः देखा जाता है कि कुछ समालोचक किसी ग्रन्थ के इधर उधर के कुछ पृष्ठ पलट कर उस पर अपना मत दे देते हैं। उसकी लम्बी चौड़ी प्रस्तावना या प्राक्कथन लिख मारते हैं। ऐसे ही आलसी समालोचकों से असत् के प्रचार एवं सत् की अरक्षा की सम्भावना रहती है। जैसे, किसी न्यायाधीश के लिए सम्पूर्ण मामले की जाँच के बिना किसी अपराधी को दण्ड देना न्यायसंगत नहीं उसी प्रकार समालोचक के लिए किसी ग्रन्थ का आद्योपान्त अध्ययन किये बिना उस पर अपनी सम्मति देना ठीक नहीं। सत् समीक्षक को मिथ्याभिमानी, प्रतिशोधी, अन्धविश्वासी, अरोचकी तथा असहिष्णु[१] मनोवृत्ति का नहीं होना चाहिये अन्यथा उसकी समीक्षा विध्वंसात्मक हो जायगी। सत्य[२] उसके जीवन का संबल होना चाहिये, जीवनपूर्णता उसका ध्येय; मिथ्या,[३] छद्म,[४] और बाह्य-रुचिरता उसका शत्रु होना चाहिए, ज्ञानोपासना उसका कर्म। कहने की आवश्यकता नहीं कि समीक्षक के चरित्र सम्बन्धी उपर्युक्त गुणों का उपार्जन उक्त ज्ञान सम्बन्धी विविध गुणों से भी कठिन है; इसलिये ये चरित्र-गुण आदर्श रूप में बहुत उपयोगी प्रतीत होते हुए भी व्यवहाररूप में बहुत कम दिखाई पड़ते हैं।

---

१ *A Certain amount of tolerance is necessary in the Critic*

२ *Let truth be his yard Stick.*

३ *He is an enemy of the false,*

४ *He shou'd be free fram all ignoble interests*

(Making of Literature)

समीक्षक के व्यवसाय सम्बन्धी गुण उसके चरित्र सम्बन्धी गुणों से भी अधिक महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि इनके अभाव में उसकी समीक्षा साहित्यिक क्षेत्र में स्थान नहीं प्राप्त कर सकती; इसलिए उन पर भी कुछ विचार कर लेना आवश्यक है। समीक्षक को अपनी समीक्षा का ध्येय रचनात्मक बनाना चाहिए जिससे वह व्यर्थ के खण्डन-मण्डन तथा आत्मप्रदर्शन में न पड़े। उसे अपने ज्ञान का स्तर बहुत उच्च रखना चाहिए जिससे उसमें अतृप्त कोटि की जिज्ञासा सतत जागरूक रहे। उसे धन, यश; प्रतिष्ठा आदि के लोभ में आकर अपने ज्ञान को विकृत नहीं करना चाहिए। उसे जीवन का सम्पर्क कभी नहीं छोड़ना चाहिए अन्यथा वह जीवन की अनुभूतियों का ठीक ठीक मूल्यांकन नहीं कर सकेगा; युग तथा समाज की संकीर्ण सीमाओं से आबद्ध हो जायगा। उसे छिद्रान्वेषी, दोषदर्शी या निन्दालु प्रकृति का कभी नहीं होना चाहिए अन्यथा वह समीक्षा के रचनात्मक ध्येय से च्युत हो जायगा। समीक्षक को शिक्षाव्रती तथा सुधारवादी मनोवृत्ति का होना चाहिए जिससे वह सामान्य रूप में जनता का, तथा विशिष्ट रूप में कवियों का मार्ग प्रदर्शन कर सके, एवं साहित्य तथा जीवन दोनों की सड़ी गली रीतियों, रूढ़ियों, पद्धतियों, नियमों, तत्त्वों के विरुद्ध आवाज उठा सके। आलोचक को अपने व्यावसायिक गर्त तथा मद से दूर रहने का सदा प्रयत्न करते रहना चाहिए। व्यावसायिक गर्त का अर्थ है वणिक्वृत्ति; जिसके आगमन से समीक्षक समीक्षा के सांस्कृतिक ध्येय से च्युत होकर भौतिक लाभों को ही सर्व समझने लगता है; ऐसी अवस्था में समीक्षक के मित्र, सम्बन्धी आदि उससे अनुचित लाभ उठाते हैं, अपनी हलकी कृतियों पर उसके नाम का लेबुल चिपकाकर बाजार में उनका मूल्य बढ़वा लेते हैं। उच्च पदाधिकारी कभी कभी पद का लोभ देकर अपनी निम्नस्तर की कृतियों पर उनसे उच्च कोटि की भूमिकायें लिखवा लेते हैं तथा कभी कभी धनी लोग धन के लोभ से अपनी पुस्तकों की उनसे अच्छी विज्ञप्ति छपवा लेते हैं। इस प्रकार समीक्षक में वणिक्

वृत्ति आने से समीक्षा का मानदण्ड बहुत घट जाता है। समीक्षक यदि उद्धत तथा स्वच्छन्दवादी प्रवृत्ति से बचना चाहता है, अपने ज्ञानस्तर को सदा उच्च बनाये रखना चाहता है तो उसे अपने व्यावसायिक मद से बचना चाहिए। साहित्य तथा जीवन दोनों के नियम और सिद्धान्त के अन्तर को समझने की क्षमता उसमें होनी चाहिए जिससे वह परम्परा-उपासना या प्रगति के नाम पर चलने वाले साहित्य तथा जीवन के अस्वास्थ्यकर नियमों की अन्ध-भक्ति से बच सके। समीक्षक के भीतर विश्लेषण शक्ति का भी होना आवश्यक है क्योंकि उसका काम मत-प्रदर्शन से ही नहीं चल सकता, उसका तार्किक विवेचन भी उसे करना पड़ता है।

समीक्षक का दायित्व उस मालाकार से मिलता है जो अपने उपवन में अपनी रुचि के ही सुमनों को नहीं लगाता, जो अपने उपवन से अपनी ही संतृप्ति नहीं चाहता; वरन् उन सुमनों से अपना उपवन अलंकृत करता है, जिनको जनता अपने गले का हार बना सके; जिनके सौन्दर्य पर उसका मन मयूर नाच उठे; जिनकी रमणीयता में उसका चित्त रम जाय; जिनके सौमनस्य से सबके चित्त में सरसता का संचार हो जाय; जिनकी प्रफुल्लता से सबके हृदय में उल्लास का सागर उमड़ पड़े; जिनकी गन्ध से एक नयी मस्ती उत्पन्न हो जाय, जिनके आत्मदर्शन से एक नई शक्ति, एक नई ज्योति तथा एक नये संस्कार का संचार हो जाय तथा जिनके द्वारा उपवन की सृष्टि को एक नई दिशा मिले। वह अपने उपवन से अपनी ही संतृप्ति नहीं चाहता वरन् सहृदय-मात्र की हृदय-संतृप्ति की अभिलाषा रखता है। जिस प्रकार मालाकार अपने उपवन में नाना प्रकार के झाड़, घास, पात आदि को काट कर सुमनों को विकास का अधिकाधिक अवसर देता है तद्वत् साहित्योद्यान का मालाकार रूपी समीक्षक अपने कवि-सुमनों की शक्ति को पहचानता हुआ उनको नष्ट करनेवाली या उनके विकास को रोकनेवाली विचारधाराओं, जीवनधाराओं, भावनाओं, भाषा-शैलियों, अभिव्यक्ति-पद्धतियों का निराकरण करता हुआ उनके विकासार्थ उचित वातावरण तैयार करता

रहता है। समीक्षक भी मालाकार की भाँति अपने सुमनों की कतर-ब्योंत किया करता है जिससे उनका विकास अधिक से अधिक समाजोपयोगी हो सके, उनकी छवि अधिकाधिक रमणीय हो सके तथा उनकी गन्ध दूरातिदूर देशों तक फैल सके।

जिस प्रकार माली उपवन में सौन्दर्य लाने के लिए समय समय पर नई नई क्यारियाँ तथा बीथियाँ बनाया करता है; नये नये फूलों, पौदों तथा लताओं से उनकी विभूति बढ़ाया करता है, उसी प्रकार समीक्षक भी साहित्य में सौन्दर्य लाने के लिए, उसकी निधि विविधता से भरने के लिए, उसका भाण्डार अक्षय करने के लिए तथा उसका प्रयोगात्मक मूल्य बढ़ाने के लिए समय समय पर नई नई साहित्यिक पद्धतियों-शैलियों, शाखाओं, स्वरूपों, अलंकारों का निर्माण करता रहता है; युग के अनुकूल कवि को अभिनव विचारों तथा भावों का सन्देश दिया करता है। उपर्युक्त विवेचन का तात्पर्य यह कि आलोचक अपनी ही व्यक्तिगत रुचि से आक्रान्त नहीं रहता; वह अपनी ही आवश्यकता या अपूर्णता का ध्यान नहीं रखता वरन् जनता की आवश्यकता तथा अपूर्णता को अपनी वस्तु समझते हुए उन्हें दूर करने का प्रयत्न करता है। साहित्य को व्यक्तिवादी दृष्टिकोण से देखने का तात्पर्य है व्यक्ति की स्वतंत्र इच्छा में अगाध विश्वास। परन्तु व्यक्ति की स्वतंत्र या स्वच्छन्द इच्छा जैसी वस्तु न तो आध्यात्मिक है और न भौतिक। अतः साहित्य में व्यक्तिवादी दृष्टिकोण का, आध्यात्मिक या भौतिक किसी भी दृष्टि से, स्थान नहीं है। जो समीक्षक सदा अपनी रुचि का ऐनक लगाकर कवि या उसकी कृतियों को देखना चाहते हैं वे न तो कवि के प्रति अपने दायित्व का सम्पादन करते हैं और न पाठकों के प्रति। ऐसे समीक्षक साहित्य में सामन्तवादी शासन का प्रचार करते हैं। व्यक्तिवादी समीक्षक यदि अध्ययनशील, अनुभवी तथा चिन्तनशील हुआ तब अमंगल की आशा कम रहती है। यदि वह इन गुणों से शून्य होने पर भी अहंकारवश या अज्ञान वश अपनी रुचि के भार से समाज को भाराक्रान्त करना चाहता है तब समाज में बहुत

बड़े असंगल की सम्भावना हो जाती है। यदि समाज ऐसे व्यक्तियों से अधिक बलशाली हुआ तब तो इनकी बोली समाज में बन्द कर दी जाती है; और सामूहिक रूप में भी यदि समाज इनसे दुर्बल रहा तब इनसे बहुत बड़े अनिष्ट की परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं।

यदि समीक्षा का अर्थ क्रान्तदर्शी कवि की संकल्पात्मक अनुभूति के सत्य का उद्‌घाटन करना है; उसकी उपयोगिता का महत्त्व समाज को समझाना है; उसके सौन्दर्य तथा शिवत्व को जनता में प्रसृत करना है; यदि समीक्षा का वास्तविक प्रयोजन कवि के आत्मदर्शन की अनुभूति पाठकों को कराना है; यदि आलोचना का उद्देश्य साहित्य तथा समाज की अपूर्णता को दूर करने का प्रयत्न करना है, तो समीक्षक को सबसे अधिक ज्ञानी, चरित्रवान, आदर्शवान, क्रान्तदर्शी, भावक, सहृदय तथा सामाजिक बनने की आवश्यकता है। समीक्षक के व्यक्तित्व का उपर्युक्त सभी दृष्टियों से सर्वाङ्गीण विकास ही उसके निजी दायित्व का समुचित सम्पादन है।

कवि के प्रति समीक्षक का दायित्व सबसे स्पष्ट, प्रत्यक्ष तथा महत्त्वपूर्ण है। कवि से समीक्षक के नाना प्रकार के सम्बन्ध हैं। यदि उन सम्बन्धों के निर्वाह में समीक्षक सफल होजाय तो कवि के प्रति अपने दायित्व के सम्पादन में उसे सफल कहना चाहिए। कवि के प्रति समीक्षकों के विविध सम्बन्धों को राजशेखर ने एक ही श्लोक में बड़े ही सुन्दर ढंग से व्यक्त किया है।

स्वामी मित्रं च मंत्री च शिष्यश्चाचार्य एव च।
कवेर्भवति हि चित्रं किं हि तद्यन्न भावकः।

समीक्षक कवि के दोष, अभाव, अपूर्णता आदि बताते हुए उनके दूरीकरण का सुझाव देने से तथा उसका या उसकी कृति का मूल्य, स्थान आदि निधारित करने से उसका स्वामी; उसके गुण, वैशिष्ट्य आदि कहकर उसे उत्साहित करने से मित्र; कवि-कर्म में सफलता प्राप्त

करने का मंगलकारी मंत्र देने के कारण उसका मंत्री; उसकी रचना में जिज्ञासा रखते हुए उसके पूर्णज्ञान-प्राप्ति की इच्छा एवं प्रयत्न करने से उसका शिष्य तथा उसके गुण एवं अवगुण कथन से आचार्य की उपाधि धारण करता है। यदि समीक्षक तटस्थ वृत्ति तथा सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि से अपने उक्त सम्बन्धों की रक्षा के हेतु सतत जागरूक एवं सतर्क होकर उपर्युक्त विविध कार्यों को सम्पादित करता है तो वह निश्चय ही अपने कवि सम्बन्धी दायित्व के सम्पादन में कृतकार्य होगा।

समीक्षक का साहित्य सम्बन्धी दायित्व कवि सम्बन्धी दायित्त्व से भी अधिक गुरुतर है। साहित्य सम्बन्धी दायित्त्व को समुचित रीति से सम्पादित करने के लिए समीक्षक को निम्नाङ्कित कार्यों का करना आवश्यक है। साहित्य किसी जाति की सुरक्षित एवं वरेण्य विचारधाराओं तथा भावनाओं की अखण्ड परम्परा है जो उसके जीवन के स्वतंत्र स्वरूप की रक्षा करती हुई विश्व-प्रगति के अनुरूप उसका उत्तरोत्तर विकास करती चलती है। उसके भीतर समीक्षकों को प्राचीन के साथ नवीन का इस मात्रा में और इस कलात्मकता के साथ मेल करना चाहिए कि उसकी कालगत विभिन्न विचारधाराओं के भीतर एक संस्कृति के विकास एवं प्रसार की प्रतीति हो। इस कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिए समीक्षक को एक ओर राष्ट्रसंस्कृति के अनुकूल साहित्य-परम्परा की रक्षा करनी पड़ती है, दूसरी ओर युग-विशेष के अनुकूल उसका राष्ट्रोपयोगी विकास करना पड़ता है; नवीन काव्य पद्धतियों तथा शैलियों का निर्माण करना पड़ता है; तथा इसके साथ ही सम्पर्क में आनेवाले अन्य देशों तथा जातियों के साहित्यों के प्रभाव को अपने साहित्यिक तथा सांस्कृतिक साँचे में ढाल कर ग्रहण करना पड़ता है; युग की साहित्यिक समस्याओं का समाधान उपस्थित करते हुए उसकी अस्वास्थ्य कर प्रवृत्तियों का निर्भयता से खण्डन करना आवश्यक होता है।

समीक्षक का पाठक सम्बन्धी दायित्व उसके अन्य दायित्त्वों से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। आलोचक पाठक की कठिनाई को ही दूर नहीं करता;

किसी कृति को उसके लिए बोधगम्य ही नहीं बनाता, वरन् उसके आनन्द को वैज्ञानिक भी कर देता है। योगी अथवा भक्त के आनन्द को कोई दूर तक नहीं पहुँचा सकता किन्तु काव्य-योगी के आनन्द को समीक्षक दूसरे तक पहुँचा सकता है। पाठक सम्बन्धी दायित्व को ठीक तरह से संपादित करने के लिए आलोचक को कृति की व्याख्या उसी दृष्टि से करनी चाहिए जिस दृष्टि से कवि ने उसकी रचना की है। ग्रन्थ के मार्मिक स्थलों की व्याख्या विशद तथा वैज्ञानिक रूप में होनी चाहिए जिससे पाठक कवि के मार्मिक भावों, विचारों, धारणाओं को भलीभाँति समझ सके। मनोविकारों की ऐसी व्याख्या होनी चाहिए जिससे पाठक मनस्तेज प्राप्त कर सके। उसे कृति के महत्त्व, उपयोगिता तथा आवश्यकता पर सम्यक् प्रकाश डालना चाहिए जिससे पाठकों में अच्छे ग्रन्थों के पढ़ने की प्रेरणा उत्पन्न हो सके। यदि कवि में जीवन या साहित्य सम्बन्धी कोई अभाव या दोष हो तो उसका उल्लेख उसे उसके परिमार्जन सहित करना चाहिए जिससे पाठकों के विचारों तथा रुचियों का परि-शोधन हो सके। कतिपय आलोचक व्याख्या करते करते उपदेश देने लगते हैं, इससे पाठकों पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता। इसलिये आलोचक को अपने बुद्धि-विलास से पाठकों के भीतर आदर्श-प्रतिष्ठा का प्रयत्न करना चाहिए। सैद्धान्तिक समीक्षक पाठकों को दार्शनिक, सामाजिक, राजनीतिक, साहित्यिक समस्याओं, प्रश्नों से अभिज्ञ कराता है तथा साथ ही इनके समाधान के विषय में जनमत का उल्लेख करते हुए स्वस्थ सुझाव भी देते चलता है। इस प्रकार वह पाठकों को मानवता के सुसंस्कृत पथ की ओर उन्मुख करने का प्रयत्न करता है।

समीक्षक का मुख्य कार्य पुनर्निर्माण का है क्योंकि सच्चा समीक्षक आस्वादन के समय अपनी हृदयस्थित भावनाओं तथा विचारों को समीक्षा रूप में पुनर्निर्मित करता है। कवि की अनुभूतियों, आदर्शों, मूल्यों तथा धारणाओं को सहानुभूति पूर्वक समझ करके समर्थ भाषा में उनकी व्याख्या करता है। सहानुभूति का तात्पर्य है कवि का समानधर्मी होकर उसकी अनुभूति-यात्रा करना। उसके शब्दों का वही अर्थ लेना

जिस दृष्टि से उसने उनका प्रयोग किया है; उन्हीं भाव-चित्रों का आवाहन करना जो कवि या लेखक के मन में उत्पन्न हुए थे। कवि के आदर्शों, जीवन-सिद्धान्तों को उसकी दृष्टि से देखते हुए उनके अभाव, दोष तथा अधूरेपन को स्पष्ट करना तथा उन्हें दूर करने का सुझाव उपस्थित करना अर्थात् समीक्षक का कर्तव्य कृतिकार के गुणों, विशेषताओं या सन्देशों के पुनर्निर्माण से ही समाप्त नहीं होता; उसे उसके दोषों, असफलताओं तथा अभावों को भी स्पष्ट करना चाहिए; साथ ही यह भी बताना चाहिए कि ये दोष परिस्थितियों के कारण आये अथवा उसकी किसी शक्ति की अपूर्णता के कारण। जिस परिस्थिति में कवि था उसमें इससे अच्छी या निर्दोष कृति क्या नहीं बन सकती थी? कवि में प्रतिभा, व्युत्पत्ति, अभ्यास आदितत्वों में से किसकी कमी थी।

यद्यपि समीक्षक का उचित पक्ष कवि की कोई विशिष्ट कृति ही रहती है किन्तु इस बात को कभी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि उस कृति में कवि का पूरा आत्मतत्त्व समाया रहता है; वह रचना उसकी आत्मानुभूति से ही बनी रहती है। तात्पर्य यह कि कवि की किसी एक विशिष्ट कृति की समीक्षा करते समय उसके पूरे आत्मतत्त्व का ज्ञान करना समीक्षक का परम कर्तव्य है। कवि के आत्म-दर्शन का सांगोपांग ज्ञान करने के लिए उसकी आनुवंशिक विशेषता, जीवनी, मित्र, सम्बन्धी आदि तथा अन्य कृतियों का ज्ञान करना परम आवश्यक है अन्यथा वह इन प्रश्नों का उत्तर प्रस्तुत करने में सर्वथा असमर्थ सिद्ध होगा:—कवि की रचनाओं का जीवन-दर्शन उसके व्यावहारिक जीवन दर्शन से कहाँ तक मिलता है? उसके जीवन-विकास का उसकी रचनाओं पर क्या प्रभाव पड़ा? कवि का झुकाव अपने विषय की ओर कहाँ तक स्वाभाविक है? कवि का मन उसकी रचनाओं में कहाँ तक समाया है। काव्यगत अनुभूति, जीवन-अनुभूति से कहाँ तक निकली है? उसके जीवन-दर्शन तथा काव्य-दर्शन में कहाँ अन्तर है और क्यों? समीक्षक जब तक इन प्रश्नों का उत्तर देने में समर्थ नहीं होता तब तक वह अपने कर्त्तव्य का पालन सचाई तथा न्याय के साथ नहीं कर सकता। विवेच-

नात्मक समीक्षा में कुछ लोग भ्रम से समीक्षक का काम कवि की वकालत करना समझ लेते हैं। जो समीक्षक कवि की वकालत करना अपना कर्तव्य समझ बैठेगा वह तटस्थ दृष्टि नहीं प्राप्त कर सकता। कवि भावात्मक दृष्टि से जीवन सम्बन्धी सत्यों को उपस्थित करता है। यदि समीक्षक तटस्थ होकर बौद्धिक दृष्टि से उन पर विचार नहीं करता तो वह कवि की रुचि-अरुचि में अनुरक्त होने के कारण उन पर ठीक निर्णय नहीं दे सकता।

कवि की रचनाओं के अन्तर्गत वर्णित सभी विचार, भाव, आदर्श, धारणाएँ, अनुभूतियाँ, समीक्षक की नहीं होतीं, और न कभी उनका किसी एक समीक्षक में होना सम्भव है; किन्तु उनका विवेचन तो उसे करना ही पड़ता है; ऐसी स्थिति में समीक्षक का यह कर्तव्य है कि वह उन अनुभूतियों का विश्लेषण इस ढंग से करे, उनकी बारीकी इतनी सूक्ष्मता से बताये कि पाठकों को यह जान पड़े कि समीक्षक ने भी उनका अनुभव किया है।

समीक्षा की पद्धतियाँ

समीक्षा पद्धतियों के वर्गीकरण की कठिनाई उतनी ही जटिल है जितनी उसके परिभाषा-कथन की; क्योंकि जिस प्रकार समीक्षा की परिभाषा अनेक प्रकार से अनेक रूपों में की जा सकती है; उसी प्रकार समीक्षा पद्धतियों का वर्गीकरण भी अनेक प्रकार से अनेक रूपों में किया जा सकता है। इस कठिनाई से बचने के लिए समीक्षा भेदों के वर्गीकरण में अन्तर्निहित सिद्धान्तों को जानना आवश्यक है। समीक्षा पद्धतियों के वर्गीकरण के भीतर निम्नाङ्कित सिद्धान्त दिखाई पड़ते हैं :—विषय, प्रक्रिया-पद्धति, उद्देश्य, कार्य, समय, स्थान। इनके अनुसार समीक्षा के निम्नाङ्कित भेद हैं।

१—विषय के अनुसार :—जैसे; साहित्यिक, ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक, राजनीतिक, सामाजिक, दार्शनिक, नैतिक, वैज्ञानिक।

२—प्रक्रिया-पद्धति के अनुसार :—सैद्धान्तिक, व्यावहारिक।

३—उद्देश्य के अनुसार :—मण्डनात्मक, खण्डनात्मक।

४—कार्य के अनुसार—विधायक, विध्वंसक।

५—समय के अनुसार—सामयिक या सकृत् कालीन (मध्यकालीन रीतिकालीन, आदि) तथा सार्वकालिक।

६—स्थान के अनुसार :—भारतीय, योरोपीय, अमेरिकन इटैलियन, रूसी, फ्रेञ्च तथा सार्वभौम (Universal)

वर्गीकरण के प्रथम सिद्धान्त के अनुसार समीक्षा जिस विषय के तथ्यों का अधिक विवेचन करेगी या जिसकी प्रक्रिया या पद्धति का अनुगमन करेगी अथवा जिसके सिद्धान्तों का अधिक प्रयोग करेगी उसी के नाम से अभिहित होगी। जिस समीक्षा-पद्धति में साहित्य या उसके सिद्धान्तों-तत्वों आदि का अधिक विवेचन होगा वह साहित्यिक

समीक्षा कही जायगी; जिस समीक्षा में ऐतिहासिक तथ्यों अर्थात् युग-प्रवृत्तियों; परिस्थितियों, प्रगतियों, समस्याओं आदि का अधिक विवेचन होगा वह ऐतिहासिक समीक्षा कही जायगी; जिस समीक्षा पद्धति में मानसिक तत्त्वों का अधिक विश्लेषण होगा वह मनोवैज्ञानिक समीक्षा के नाम से पुकारी जायगी; जिस समीक्षा में किसी राजनीतिक वाद के अनुसार साहित्य या किसी साहित्यिक कृति का विवेचन या खण्डन-मण्डन होगा वह राजनीतिक समीक्षा के नाम से अभिहित होगी; जिस समीक्षा में साहित्य-सौन्दर्य का दर्शन अथवा किसी कवि या कृति का जीवन-दर्शन विवक्षित रहता है वह दार्शनिक समीक्षा कही जायगी; जो समीक्षा केवल नैतिक मूल्यों या मानदण्डों के अनुसार किसी कवि या कृति का मूल्याङ्कन करती है उसे नैतिक समीक्षा कहेंगे और जिस समीक्षा में विज्ञान के तत्त्वों का अधिक प्रतिपादन रहता है या विज्ञान के सिद्धान्तों का प्रयोग रहता है अथवा वैज्ञानिक पद्धति का अनुगमन रहता है उसे वैज्ञानिक समीक्षा का नाम दिया जायगा। प्रक्रिया-पद्धति, उद्देश्य, कार्य, समय, स्थान के अनुसार की हुई समीक्षा-पद्धतियाँ भी साहित्य-समीक्षा के अन्तर्गत स्थान पायेंगी। किन्तु साहित्य-क्षेत्र में वही समीक्षा पद्धति पूर्ण तथा स्वस्थ मानी जायगी जिसमें आवश्यकतानुसार साहित्यिक ऐतिहासिक, राजनीतिक, मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक, सामाजिक आदि समीक्षा-पद्धतियों का प्रयोग रहता है; जिसमें विषय की स्पष्टता के लिए समयानुसार राजनीति, मनोविज्ञान, दर्शन, नीति, समाजशास्त्र, विज्ञान आदि सभी विषयों से सहायता ली जाती है; जिसमें साहित्यिक, राजनीतिक, दार्शनिक मानसिक, सामाजिक मूल्यों पर प्रकाश डाला जाता है, जिसका मानदण्ड मानव के अशेष—जैवी, मनोवैज्ञानिक, नैतिक, सांस्कृतिक, आध्यात्मिक जीवन से निर्मित होता है। यह हम पहले कह चुके हैं कि विषय के आधार पर ही साहित्य-समीक्षा नाम पड़ा है। साहित्यिक समीक्षा की प्रणाली का प्रयोग अन्य विषयों के लिए उपयुक्त नहीं हो सकता। प्रयोजन के अनुसार यह ऐतिहासिक, राजनीतिक, दार्शनिक, नैतिक, मनोवैज्ञानिक रूप धारण कर सकती है परन्तु उसके लिए सदा कसौटी यही है कि वह

साहित्य की सत्ता को आवृत न करे और न साहित्य के कला सम्बन्धी तत्त्वों के विवेचन में इतनी तल्लीन हो कि साहित्य के अन्य अन्तर्योगी विषयों—राजनीति, मानसशास्त्र, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, इतिहास, दर्शन, धर्म आदि के प्रभावों का विवेचन बिल्कुल छूट जाय। तात्पर्य यह कि उसे सदा कला अथवा साहित्य के उपयुक्त होना चाहिए[१]। कला अथवा साहित्य के तत्त्वों का विवेचन प्रधान रूप में करना चाहिए तथा अन्य तत्त्वों का विवेचन गौण रूप में।

प्रक्रिया-पद्धति की भिन्नता के अनुसार साहित्यिक समीक्षा के दो मुख्य भेद माने गये हैं:—सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक। भारतीय साहित्य शास्त्र में सैद्धान्तिक समीक्षा के मुख्य छः भेद दिखाई पड़ते हैं:— अलंकारवादी, रीतिवादी, ध्वनिवादी, वक्रोक्तिवादी, औचित्यवादी तथा रसवादी। सैद्धान्तिक समीक्षा की स्पष्टता के लिए इनका विवेचन क्रमशः प्रस्तुत किया जायगा।

अलंकार-सम्प्रदाय

अलंकार-सम्प्रदाय को ठीक ढंग से समझने के लिए सर्व प्रथम अलंकार की परिभाषा, काव्य में उसका धर्म, कार्य, स्थान तथा प्रयोगविधि जानना आवश्यक है। अलंकार शब्द की व्युत्पत्ति[२] से यह ज्ञात होता है कि अलंकार काव्य में शोभा का साधन मात्र है। संस्कृत साहित्य-शास्त्र में अलंकार की अनेक परिभाषायें की गई हैं परन्तु प्रतिनिधि

---

१ *Some, it is true hold that literature is a species of art and that only the methods of Criticism appropriate to art are applicable to literature.* (Methods & materials of Criticism)

२ अलंकरोतीति अलंकारः।

अलंक्रियते अनेन इति अलंकारः।

परिभाषायें दो ही प्रकार की हैं; एक का सम्बन्ध[1] अलंकार सम्प्रदाय से है तथा दूसरे का रस-सम्प्रदाय[2] से। प्रथम प्रकार की परिभाषाओं में अलंकार, काव्य का सहज धर्म, सौन्दर्य, शोभा, प्राण आदि माना गया है, दूसरे प्रकार की परिभाषाओं में अलंकार काव्य में रस, भाव आदि का उपकारक, शब्द और अर्थ का अनित्य धर्म, शोभा को अतिशय करनेवाला, कथन या वर्णन-प्रणाली का एक विशिष्ट ढंग कहा गया है।

---

१ वक्राभिधेय-शब्दोक्तिरिष्टावाचामलंकृतिः (भामह)
वाचां वक्रार्थशब्दोक्तिरलंकाराय कल्पते (भामह)
काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते (दण्डी)
सौन्दर्यमलंकारः। काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मागुणाः। तदतिशयहेतवोऽलंकाराः। (वामन)

२ चारुत्वमलंकारः। चारुत्वं हि वैचित्र्यापरपर्य्यायं प्रकाशमानमलंकारः।
तथा च शब्दार्थयोर्विच्छित्तिरलंकारः। व्यक्तिविवेक की वृत्ति
उपकुर्वन्ति तं सन्तं ये अङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः। (मम्मट)
शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत्। (विश्वनाथ)
रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग्यत्न निर्वर्त्यः सोऽलंकारोध्वनोमतः (आनन्दवर्धन)
रसभावादि तात्पर्यमाश्रित्यविनिवेशनम्।
अलंकृतीनां सर्वासामलंकारत्व साधनम् (ध्वन्यालोक)
उचितस्थान विन्यासादलंकृतिरलंकृतिः (क्षेमेन्द्र)
अन्योन्यसंसर्गविशेषरम्याप्यलंकृतिः प्रत्युत शोचनीया।
निर्व्यंग्य सारे कविसूक्तिबन्धे निष्क्रान्त जीवे वपुषीवदत्ता। (शिवलीलार्णव)

यदि वास्तविक दृष्टि से विचार किया जाय तो विदित होगा कि अलंकार-सम्प्रदाय वालों ने प्रायः अपनी परिभाषाओं में अलंकार की व्याप्ति[१] बहुत अधिक बढ़ा दी है; यहाँ तक कि उसमें काव्य की अन्य सामग्रियों रीति, गुण, रस, वृत्ति का ही नहीं वरन् काव्य के सभी प्रकार के सौन्दर्यों[२] का भी समावेश कर दिया गया है। मूलतः अलंकार काव्य के कलापक्ष का एक तत्त्व या अंग है, अर्थ में चारुता या चमत्कृति लाने का साधन है; काव्य की शोभा को वह बढ़ाता है, स्वयं में वह शोभा नहीं है। वह काव्य का अस्थिर या अनित्य धर्म है स्थिर या सहज धर्म नहीं; कथन वैचित्र्य[३] का एक प्रकार है कथन का प्राण नहीं, वह काव्य का साधन है, साध्य नहीं; पर अलंकारवादियों ने उसे नित्य या सहज धर्म के रूप में घोषित किया है। काव्य अलंकार के बिना भी हो सकता है पर अलंकारवादियों की दृष्टि में वह काव्य का अनिवार्य गुण है। भामह की अलंकार-व्याख्या के अन्तर्गत काव्यत्व के प्रतिष्ठापक तथा शोभा-वर्द्धक सभी उपकरण, तत्त्व, अर्थ आ जाते हैं। दण्डी की दृष्टि में अलंकार के भीतर काव्य के सभी गुण समाहित हैं। वामन ने तो अलंकार का प्रयोग काव्य के समस्त सौन्दर्यों के लिए कर दिया है। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम संक्षेप में यह कह सकते हैं कि अलंकारवादियों ने काव्य में अलंकार को सौन्दर्य स्थानिक ही नहीं, साहित्य का अन्तरङ्ग पक्ष या निर्माण-तत्त्व ही नहीं वरन् उसे काव्य के सभी तत्त्वों के अनुशासक रूप में प्रतिष्ठित किया है। इसके विरुद्ध रसवादियों ने अलंकार को काव्य का साधन माना है, साध्य नहीं; शोभा या सौन्दर्य को अतिशय करनेवाला माना है, शोभा या सौन्दर्य नहीं; रस या भाव का उन्हें

---

१ अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती ॥
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती ॥ चन्द्रालोक ।

२ देखो, दण्डी और वामन की अलंकार-धारणा ।

३ भङ्गीभणितिभेदानामेव अलंकारत्वोपगमात् (व्यक्तिविवेक)

उपकारक या प्रकाशक[१] सिद्ध किया है, उनके भीतर रस या भाव को समाहित नहीं किया; उन्हें काव्य के बहिरंग पक्ष का एक तत्त्व स्वीकृत किया है, अन्तरंग पक्ष या उसके किसी तत्त्व के रूप में घोषित नहीं किया; अलंकार को काव्य के अन्य तत्त्वों के संसर्ग से सुशोभित करनेवाला तत्त्व माना—निरपेक्ष[२] तत्त्व नहीं; उसे वर्णन प्रणाली का एक प्रकार कहा वर्ण्य नहीं। आधुनिक युग में जब काव्य या साहित्य का क्षेत्र इतना अधिक व्यापक हो गया है कि उसके भीतर निबन्ध, कहानी, उपन्यास, आलोचना, जीवनी, दयनन्दिनी आदि का समावेश किया जा रहा है तब हम अलंकार को साहित्य या काव्य का सहज, अनिवार्य तथा नित्य धर्म कभी नहीं मान सकते; अधिक से अधिक उसे काव्य के बहिरंग या अन्तरंग पक्ष का एक साधन मान सकते हैं; उसे काव्य का अनित्य धर्म कह सकते हैं, जिससे काव्य अपने साध्य (रसनिष्पत्ति) की प्राप्ति सरलता से कर लेता है। मेरे कहने का यह भी तात्पर्य नहीं कि काव्यत्व की सृष्टि केवल कोरे विचारों, भावों, सत्यों या वास्तविकताओं के ही द्वारा होती है। कोरे[३] विचारों या भावों का सम्बन्ध मनोविज्ञान या दर्शन से हो सकता है

---

१. ततो रस प्रकाशिनो वाच्यविशेषा एव रूपकादयोऽलंकाराः।

(आनन्दवर्धन)

२. तथा हि अचेतनं शवशरीरं कुण्डलाद्युपेतमपि न भाति अलंकार्य-स्याभावात्। यतिशरीरं कटकादियुक्तं हास्यावहं भवति अलंकार्यस्य अनौचित्यात् (लोचन)।

३. *Mere thoughts & emotions are proper subjects for the science of psychology etc*

(Same concepts of Alankar Shastra) **By Raghavan**

काव्य से नहीं। जीवन के[1] कोरे तथ्य अरमणीय रूप में प्राय: आकर्षण-शून्य होते हैं, इसीलिए उनका[2] आस्वादन नहीं हो सकता, ज्ञान मात्र भले ही हो जाय। कोरे विचारों या तथ्यों को काव्य-गत रूप धारण करने के लिए सुन्दर कलात्मक स्वरूप की भी आवश्यकता है, और अलंकार विचार के कलात्मक स्वरूप के निर्माणकारी तत्त्वों में एक आवश्यकतत्त्व है; इतना ही नहीं काव्य को ललित कला के भीतर परिगणित करने का श्रेय भी अधिकांश मात्रा में अलंकार को ही है; यह दूसरी बात है कि अलंकार सम्प्रदाय ने उस पद्धति से उसका विकास नहीं किया। यदि अलंकार सम्प्रदाय का विकास ललित कला के आधारभूत सिद्धान्तों पर हुआ होता तो बहुत संभव था कि अलंकार सम्प्रदाय की गणना एक स्वतंत्र सिद्धान्तवाली पद्धति के रूप में होती, और वह अपनी स्वतंत्रा सत्ता को छोड़कर कभी रीति, कभी रस, कभी बक्रोक्ति सम्प्रदाय का अवलम्बन न लेता।

अलंकार-सम्प्रदाय की समीक्षा के मानदण्ड की स्पष्टता के लिए काव्य में अलंकार-प्रयोग के कारण, कार्य, स्थान, प्रयोग-विधि आदि पर संक्षेप में विचार कर लेना आवश्यक है। अलंकार-प्रयोग के मूल्याङ्कन या मानदण्ड पर विचार करते समय सबसे पहला प्रश्न यह उठता है कि वाणी में अलंकार का प्रयोग किस कारण से होता है, कब होता है, उसके लिए कवि द्वारा चेतन प्रयत्न होता है अथवा वह स्वाभाविक रूप में कविता में प्रयुक्त होता है। अलंकारवादी आचार्य तो इस विषय में एक मत होकर यह उत्तर देंगे कि वाणी में वक्रता लाने के लिए अलंकार का प्रयोग होता है और इसके लिए कवि को चेतन प्रयत्न[3] भी करना

---

१ *Facts by themselves are unattractive,—*

(Some Concepts of Alankar Shastra) राघवन्

२ शास्त्रेषु दुर्ग्रहाप्यर्थः स्वदते कविसूक्तिषु। नीलकंठ दीक्षित

३ सैषा सर्वत्र बक्रोक्तिः अनया अर्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया बिना। (भामह)

चाहिए। रसवादी आचार्य इस मत से सहमत नहीं हैं। उनकी दृष्टि में अलंकार प्रतिभा[१] के अनुग्रह से वर्णन में स्वयम् आपतित होता है, भावों की बाढ़ में स्वयम्[२] प्रवाहित होता है, कवि को उसके लिए अलग[३] प्रयत्न नहीं करना पड़ता। यहाँ प्रतिभा का अर्थ-भावना का प्रवेग, प्रेरणा की अतिरेकता, अनुभूति की तीव्रता अथवा वेदना की मार्मिकता से है। सामान्य जीवन या कविता में अलंकार-प्रयोग का कारण मनोवैज्ञानिक है। अतः उसी दृष्टि से उस पर विचार करना चाहिए। वस्तुतः भावोद्दीपन के प्रवेग-क्षणों में भावों की बाढ़ की अभिव्यक्ति के साथ वाणी स्वयम् अलंकृत हो उठती है। जब भावना हमारे हृदय में प्रवेग पूर्ण रूप में उद्दीप्त होती है तब हमारी वाणी भी अपने आप उद्दीप्त हो जाती है क्योंकि वाणी सदा भावना का अनुसरण करती है; एक है साधन तो दूसरा है साध्य। भावना की अभिव्यक्ति के लिए वाणी साधन रूप में अपनाई जाती है। साध्य के अनुसार साधना का स्वरूप होना स्वाभाविक ही है। भावना में वेग तथा तेज आने से वाणी में वेग तथा तेज आ ही जाता है और वाणी में वेग तथा तेज आने पर अलंकारों का उसमें आना अनिवार्य है। वाणी में वेग आने पर कोई भी व्यक्ति किसी वस्तु का अत्यधिक उत्कर्ष या अपकर्ष रूप में वर्णन करेगा। अर्थात् किसी वस्तु, भाव या विचार का अतिशय कथन करेगा और अतिशय कथन के लिए अलंकारों का आना स्वाभाविक है। वाणी में तेज आने पर कवि अधिक भावात्मक या दार्शनिक हो जाता है और अपनी भावनात्मकता तथा दार्शनिकता को ग्राह्य-रूप देने के लिए वह

---

१ प्रतिभानुग्रहवशात् स्वयमेव संपत्तौ। (अभिनवगुप्त)

२ *As emotion increases, expression swells and figures foam forth* —Some Concepts of Alankar Shastra.

३ अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः। (ध्वन्यालोक)

अलंकारों का प्रयोग अचेतन रूप में ही करने लगता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भावोद्दीपन का मूल कारण है मन का वेग। मन, आवेगपूर्ण स्थिति में बराबर अतिशयोक्ति का सहारा लेता है। इस कारण मनोवैज्ञानिक पदावली में हमारे अलंकार-प्रयोग की प्रेरक वृत्ति है आत्म-प्रदर्शन की वृत्ति और प्रदर्शन की मनोवृत्ति में अतिशयता का तत्त्व आना अनिवार्य है। इस प्रकार अलंकृत वाणी का मूल कारण मन का वेग निश्चित होता है, जो अनुभूति की तीव्रता, वेदना की मार्मिकता, प्रेरणा की अतिरेकता के क्षणों में उत्पन्न होता है। वस्तुतः वाणी गत अलंकारों का सम्बन्ध हमारे मन के भावों, विचारों या तथ्यों से है जो आवेगपूर्ण स्थिति में उत्पन्न होते हैं। अलंकार उन्हीं विचारों, भावों या तथ्यों की स्पष्टता, विशदता, प्रभविष्णुता, रमणीयता, चित्रात्मकता के लिए आते हैं। अतः अलंकार-प्रयोग के लिए कवि के पास प्रेरणा की प्रवेगपूर्ण स्थिति, भावनाओं की बाढ़[१], अनुभूति की मार्मिकता आवश्यक है। किन्तु जिन कवियों पर प्रतिभा का अनुग्रह न हो, जिनके हृदय में भावना की बाढ़ न आई हो, जिनमें वेदना की मार्मिकता न हो, जिनमें अनुभूति की तीव्रता न हो उन्हें भी चेतन प्रयत्न द्वारा अलंकार-प्रयोग का आदेश दिया गया है। समस्यापूर्ति सम्बन्धी कविताओं अथवा प्रयत्न-प्रसूत रचनाओं में कवि की ऐसी ही स्थिति रहती है। किन्तु इन स्थितियों में भी अलंकार का प्रयोग समीक्षा पूर्वक होना चाहिए।

ध्वन्यात्मभूते शृंगारे समीक्ष्य विनिवेशितः।
रूपकादिरलंकारवर्ग एति यथार्थताम्।

ध्वन्यालोक

---

१. *The more emotions grow upon a man, the more his speech; if he makes any effort to express his emotions, abounds in figures. —by* J. S. Brown (World of Imagery)

यह समीक्षा क्या है !

विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कदाचन।
काले च ग्रहण त्यागौ नातिनिर्वहणैषिता।
निर्व्यूढावापि चाङ्गत्वे यत्नेन प्रत्यवेक्षणम्।
रूपकादेरलंकारवर्गस्याङ्गत्वसाधनम्।

ध्वन्यालोक

(१) काव्य में अलंकार को अङ्गभूत में रहना चाहिए, अङ्गी रूप में नहीं।

(२) उन्हें काव्य में इतना प्रधान स्थान नहीं ग्रहण करना चाहिए कि पाठकों या श्रोताओं की दृष्टि वर्ण्य को भूलकर अलंकारों की कारीगरी या चमत्कार पर जम जाय। अर्थात् मुख्य विषय की आवश्यकता, स्पष्टता, विशदता, प्रभविष्णुता के अनुसार अलंकार आना चाहिए। जब वह प्रस्तुत विषय के पोषण स्वरूप[१] का तिरस्कार करके कविता में आयेगा तब कविता में अवश्य ही अनौचित्य का आगमन हो जायगा।

(३) अलंकारों को कभी काव्य में कारीगरी का रूप या विस्तृत जमघट का रूप नहीं धारण करना चाहिए। कभी कभी यह देखा जाता है कि कवि अलंकारों के प्रयोग द्वारा प्रस्तुत कल्पना कानन में इतनी अधिक दूर तक चले जाते हैं कि उनका मुख्य विषय उसमें लुप्त हो जाता है। काव्य में इस प्रकार से अलंकारों का प्रयोग कवि में समीक्षा दृष्टि की शून्यता को सूचित करता है। अर्थात् चेतन प्रयत्न द्वारा कविता में अलंकार प्रयोग करनेवाले कवियों को भी अपने काव्य में अलंकार संश्लिष्ट तथा साधन रूप में ही रखना चाहिए, साध्य रूप में नहीं।

अब व्यावहारिक दृष्टि से अलंकार-प्रयोग के प्रयोजनों पर विचार करना चाहिए। व्यावहारिक दृष्टि से सबसे पहला प्रश्न यह उठता है कि

---

१. यत्प्रकृतस्य पोषणीयस्य स्वरूपतिरस्कारोऽप्यङ्गभूतोऽलंकारः संपद्यते। ततश्च क्वचिदनौचित्यमागच्छतीति (लोचन) पृ० ६०

हम अलंकारों का प्रयोग किस लिए करते हैं। मनोवैज्ञानिक उत्तर है—वाणीगत विचारों, भावों, तथ्यों अथवा वस्तु-चित्रण में स्पष्टता, विशदता, प्रभविष्णुता, रमणीयता, सूक्ष्मता, तीव्रता, मार्मिकता, सघनता, चित्रात्मकता, चमत्कार, विस्मय, लालित्य आदि लाने के लिए। अलंकार चाहे साम्यमूलक हों (जैसे, उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक) चाहे विरोधमूलक हों जैसे (विरोधाभास, असंगति विरोध विषम) चाहे संगतिमूलक हों (जैसे, सम, हेतु, संगति) चाहे सन्निकर्षमूलक हों (जैसे यथासंख्य सार, रत्नावली) चाहे वाक्य वक्रता के रूप में हों (जैसे, परिसंख्या, व्याजस्तुति) चाहे अप्रस्तुत योजना के रूप में हों (जैसे, समासोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा) चाहे वर्णविन्यास के रूप में हों; (जैसे, अनुप्रास, यमक आदि) सबका उद्देश्य होता है प्रस्तुत भाव या विचार को उत्कर्ष पर पहुँचाना, किसी वस्तु का रूप आकार तथा गुण बढ़कर दिखाना, किसी पदार्थ के रंग, विशेषता आदि को तीव्रतर रूप में प्रकट करना, कथन को प्रभविष्णु बनाना। काव्य में अलंकार-प्रयोग के जितने प्रयोजन बताये गए हैं उनमें सर्वव्यापी प्रयोजन है वाणी गत विचार या भाव के प्रभाव की अभिवृद्धि करना। काव्य में जो अलंकार इस प्रयोजन की पूर्ति नहीं करता उसके प्रयोग से कोई लाभ नहीं[१] है। अलंकार सम्प्रदाय के आचार्य भामह भी इस मूल प्रयोजन को किसी न किसी रूप में "अनया अर्थो विभाव्यते" कह कर मानते हैं। अलंकार सम्प्रदाय के प्रसिद्ध समीक्षक रुद्रट भी इस मत का समर्थन करते हुए दिखाई पड़ते हैं कि काव्य में अलंकारों का कार्य वस्तुओं का सम्यक् प्रकार से प्रतिपादन[२] करना है। अलंकारवाद में यदि अलंकारों के

१. *"The one Truth underlying all the rules laid down for the employment of figures is that nothing is gained by any use of those which do not add to the effect if the thought to which they give expression.* —Raymond

२. सम्यक् प्रतिपादयितुं स्वरूपतो वस्तु तत्समानमिति।
वस्त्वन्तरमभिदध्यात् वक्ता यस्मिंस्तदौप्यम्। (रुद्रट)

प्रयोजन की सीमा उपर्युक्त कार्यों तक ही रहती तो अलंकार सम्प्रदाय काव्य-समीक्षा के क्षेत्र में वैज्ञानिक दृष्टिकोण उपस्थित करने में समर्थ होता और उसका विकास भी वैज्ञानिक दिशा में होता किन्तु अलंकारवादी आचार्यों ने काव्य में अलंकार का प्रयोजन बनाते समय उसे ही सब कुछ मान लिया है अर्थात् अलंकार का कार्य काव्य में शोभा की वृद्धि करना ही नहीं वरन् शोभा की सृष्टि करना भी है, सभी प्रकार के सौन्दर्यों का निर्माण करना भी है, इतना ही नहीं, वे इससे आगे भी बढ़ गये हैं और अलंकार का कार्य काव्य में प्राणत्व की प्रतिष्ठा करना भी बताते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि काव्य में अलंकार को प्राण प्रतिस्थापक तत्त्व माननेवाला मत निश्चय ही अतिशयोक्ति पूर्ण है। इसे स्वस्थ या सन्तुलित मत का कोई समीक्षक नहीं मान सकता। आगे चल कर रसवादी आचार्यों ने अलंकारवादियों के उपर्युक्त मतों का खण्डन करके स्पष्ट शब्दों में यह बतलाया कि अलंकार का कार्य भाव, रस, विचार या तथ्य को प्रकाशित[१] करना है, अबोधगम्य[२] सत्यों, अनुभूतियों को बोधगम्य बनाना है, अर्थ भरी सूक्ति को सुशोभित[३] करना है, कवि के अरूप भावों, जटिल विचारों को रूप प्रदान करना है, अर्थास्वादन में सरलता लाने के लिए वस्तु—वर्णन या तथ्य-निरूपण को उत्कर्ष या[४] अपकर्ष रूप में चित्रित करना है,

---

१ तत् रस प्रकाशिनो वाच्यविशेषा एव रूपकादयोऽलंकाराः (आनन्द वर्धन)

२ *Simili, Metaphor, Allegory, Parable, these are often employed to inculcate the profound truths of the incomprehensible* (*Use and Abuse of Alankar in Sanskrit*) —राघवन्

३ अर्थौचित्यवता सूक्तिरलंकारेण शोभते।
पीनस्तनस्थितेनेव हारेण हरिणेक्षणा। (क्षेमेन्द्र)

४ विनोत्कर्षापकर्षाभ्यामस्वदन्तेऽर्था न जातुचित्।
तदर्थमेव कवयोऽलंकारान्पर्युपासते। (महिमभट्ट)

शुष्क, सामान्य[१] तथा अरमणीय विचारों में रमणीयता का संचार करना है, भाषा[२] में अतिरिक्त प्रभविष्णुता की शक्ति भरना है।

अलंकारवादियों की दृष्टि में काव्य में अलंकार का स्थान प्राण के समान है। उन्होंने काव्य में अलंकार को इतना अधिक स्थान दिया कि उसी को कविता मान लिया। उनकी दृष्टि में अन्य काव्य गुणों के रहने पर भी अलंकार रहित कविता केवल श्रुतिपेशल है[३] है, अर्थात् केवल संगीतात्मक महत्त्व रखती है। एक अलंकारवादी की दृष्टि में नारी के जीवन में जो स्थान पति का है वही स्थान कविता में अलंकार का है; अर्थात् अलंकार[४] रहित कविता विधवा के समान है। चन्द्रालोककार की दृष्टि में अग्नि में जो स्थान उष्णता का है वही स्थान कविता में अलंकार का है। जैसे उष्णता[५] के बिना अग्नि अपने गुण, धर्म विशेषता, प्रभाव आदि को खो देती है तद्वत् अलंकार के बिना कविता अपने गुण, धर्म,

---

१. *Similarly a thought that is too simple, too ordinary, or too small to impress or get admiration by itself needs figuretive embellishement.*

२. *Thus the poet puts extra force in to his language and in order to do so, in as much as the force of the language consists in its representative character he will augment the representation by multiplying his comparisons; his language becomes figurative.*

(Style) —by Pater

३. अपुष्टार्थमवक्रोक्ति प्रसन्नमृजुकोमलम्।
भिन्नं गेयमिवेदं तु केवलं श्रुतिपेशलम्। (भामह)

४. अलंकाररहिता विधवैव सरस्वती। (अग्नि पुराण)

५. अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती। (चन्द्रालोक)

प्रभाव से रहित हो जाती है। हिन्दी के प्रसिद्ध अलंकारवादी आचार्य तथा कवि केशवदास भी अच्छी[१] कोटि (जाति) की ललित वर्णांवाली, सुन्दर लक्षणों से युक्त, सुन्दर छन्दों से निबद्ध रसवती कविता को अलंकार हीन होने पर उत्तम कविता नहीं मानते। वस्तुत: अलंकार का, कविता रूपी वनिता के शरीर में ऐसे अवयव या तत्त्व का स्थान है जिसके द्वारा उसकी मानसिक दशा (रस) के समझने में सहायता मिलती है किन्तु अलंकारवादी आचार्य अलंकार के गुणगान में इतनी दूर तक गये कि वे कविता में अनुभूति, औचित्य, संगति, अनुपात, समन्वय आदि तत्त्वों को भूल गये और उन्हें यह ध्यान ही नहीं रहा कि[२] काव्य में अलंकार से भी आवश्यक कोई तत्त्व है। रसवादी आचार्य मम्मट की दृष्टि में अलंकारों का कविता में वही स्थान है जो हारादि अलंकारों[३] का हमारे शरीर में रहता है। आनन्दवर्धन की दृष्टि में काव्य में अलंकार[४] का स्थान शरीर का है किन्तु कभी कभी वह आत्मा की प्रकृति को भी धारण कर लेता है (जब वह ध्वनित होता है)। अभिनव गुप्त भी संश्लिष्ट अलंकारों की तुलना[५] कुंकुमालंकरण से करते हैं और उनका स्थान बाह्य जड़ित अलं-

---

१ यदपि सुजात सुलच्छना सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषन बिन न बिराजई कबिता बनिता मित्त। (केशव)

२ अत्र शब्दालङ्कारा काव्यस्यात्मा। अयं वादः स्वीयालङ्कारिकच्छटासु नेदं ज्ञातुं प्राभवत्—यदलङ्कारेभ्योऽप्यावश्यकं किञ्चिदन्यदस्ति। पं० रसिक बिहारी शास्त्री (भारती जुलाई १६५१)

३ हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः (मम्मट)

४ शरीरीकरणं येषां वाच्यत्वेन व्यवस्थितम्।
तेऽलंकाराः परां छायां यान्ति ध्वन्यङ्गतां गताः। (आनन्दवर्धन)

५ एतदुक्तं भवति—सुकविः विदग्धपुरन्ध्रीवत् भूषणं यद्यपि श्लिष्टं योजयति, तथापि शरीरतापत्तिरेवास्य कष्टसंपाद्याः, कुंकुमपीतिकाया इव। आत्मतायास्तु का संभावना। एवंभूता चेयं व्यंग्यता, यदप्रधानभूतापि वाच्यमात्रालंकारेभ्यः उत्कर्षमलंकाराणां वितरति, (लोचन)।

कार-कटक आदि से उच्च बना देते हैं। भोज ने अलंकारों की तुलना स्त्री के आभूषणों[1] से करते हुए भी उनका तीन विभाजन—बाह्य, आभ्यन्तर, बाह्याभ्यन्तर स्वीकार करके उनका स्थान शरीर पर बाहर से जड़े हुए अलंकारों से ऊपर उठा दिया है। रसवादियों के अलंकार सम्बन्धी उपर्युक्त मतों से यह विदित हुआ कि अलंकार को काव्य में केवल बहिरङ्ग या केवल अन्तरङ्ग स्थान देना भ्रमपूर्ण है। अलंकारों का स्थान काव्य में केवल बहिरंग नहीं माना जा सकता क्योंकि वे मनुष्य के शरीर के बाह्याभूषणों की तरह काव्य में ऊपर या बाहर से नहीं लादे जाते। वे कविता में सुश्लिष्ट रहते हैं और वे तीव्र अनुभूति के क्षणों में भावना की बाढ़ के साथ, कविता में आते हैं। चाहे, शब्दालंकार हो, चाहे अर्था; ध्वनि मूलक हो, अथवा वक्रतामूलक; वह सदा रसाक्षिप्त रहता है अतः उसे केवल बहिरङ्ग[2] स्थान नहीं दिया जा सकता। काव्य के अन्तरंगपक्ष के भीतर रस या भाव आते हैं, जिनकी अभिव्यक्ति में सहायता पहुँचाने के लिए अलंकार आते हैं। वस्तुतः अलंकार एक साधन है जिसकी सहायता से कविता का अन्तरंग पक्ष-भाव या रस शीघ्रता या सरलता से अभिव्यक्त हो जाता है। तब हम अलंकार को कविता का अन्तरंग पक्ष या प्राण-तत्त्व कैसे मानें? अधिक से अधिक हम उसे अन्तरंग पक्ष की अभिव्यक्ति का एक अन्तरंग साधन भी मान सकते हैं जो रस या भाव तत्त्व के अधीन रहता है, सर्वथा स्वतंत्र नहीं। सच्ची कविता में वह भीतर से रस या भाव की बाढ़ के साथ ही आता है; बाहर से, किसी अन्य प्रयत्न द्वारा नहीं। अलंकार कविता के अन्य तत्त्वों—रस, गुण आदिके संसर्ग से

---

१ अलंकाराश्च त्रिधा,—बाह्याः, आभ्यन्तराः, बाह्याभ्यन्तराश्च। तेषु बाह्याः वस्त्रमाल्य-विभूषणादयः। आभ्यन्तराः दन्तपरिकर्म नखच्छेद अलक कल्पनादयः। बाह्याभ्यन्तराः—स्नान, धूप—(विलेपनादयः) (शृंगार-प्रकाश)।

२ तस्मान्न तेषां बहिरङ्गत्वं रसाभिव्यक्तौ (आनन्दवर्धन)

काव्य में सुशोभित[1] होता है। अन्य तत्त्वों की अनुपस्थिति में या उनकी औचित्य[2] पूर्ण मात्रा के अभाव में वह शोचनीय अवस्था को प्राप्त हो जाता है; काव्य-क्षेत्र में अकेले उसकी कोई सत्ता, विशेषता या महत्ता नहीं। अतः कवियों को अकेले उसके रखने का प्रयत्न करना कविता को शोचनीय या हास्यास्पद स्थिति में लाना है। जिस प्रकार एक कुरूपा स्त्री अलंकार लाद कर सुन्दर नहीं हो सकती तद्वत् प्रस्तुत वस्तु या तथ्य की रमणीयता के अभाव में अलंकार की कारीगरी काव्य को सुन्दर नहीं बना सकती। निर्जीव शरीर पर[3] कुण्डलादि शोभा नहीं देते, यति के शरीर पर कटक आदि हास्यास्पद जान पड़ते हैं तद्वत् रसहीन या रसदोष पूर्ण कविता में अलंकार शोभा नहीं, वरन् हास्यास्पद स्थिति उत्पन्न करते हैं। आचार्य क्षेमेन्द्र की दृष्टि में[4] काव्य में औचित्य के बिना अलंकार व्यर्थ सिद्ध होते हैं। अलंकार, काव्य में उचित स्थान पर रखने से ही शोभा बढ़ा सकते हैं[5]। अलंकार या गुण कोई भी औचित्य के बिना काव्य की रुचिरता में वृद्धि नहीं कर

---

१. अन्योन्यसंसर्ग विशेष रम्याप्यलंकृतिः प्रत्युत शोचनीया।
निर्व्यंग्यसारे कवि सूक्तिबन्धे निष्क्रान्तजीवे वपुषीव दत्ता।
(शिवलीलार्णव)

२. काव्यस्यालमलंकारैः किं मिथ्यागणितैर्गुणैः।
यस्य जिवितमौचित्यं विचिन्त्यापि न दृश्यते। क्षेमेन्द्र

३. तथा हि अचेतनं शवशरीरं कुण्डलाद्युपेतमपि न भाति अलंकार्यस्याभावात्। यतिशरीरं कटकादियुक्तं हास्यावहं भवति अलंकार्यस्य अनौचित्यात्। लोचन।

४, औचित्येन बिना रुचिं प्रतनुते नालंकृतिर्नोगुणः। क्षेमेंद्र

५. अलंकृतिः उचित स्थान विन्यासादलंकर्तुंक्षमा भवति अन्यथातु अलंकृति व्यपदेशमेव न लभते। यदाह
कण्ठे मेखलया नितम्बफलके तारेण हारेण वा। क्षेमेन्द्र

सकता। अलंकार अपने प्रयोजन में तभी सफल हो सकते हैं जब वे उचित स्थान पर उचित मात्रा में रखे गये हों।

कोई सूक्ति अर्थौचित्यवती[१] होने पर ही अलंकार से सुशोभित होती है, अर्थौचित्य रहित होने पर नहीं। अतः कवि को रससमाहित चेतना से अलंकार का प्रयोग करना चाहिए, क्योंकि जब उसकी दृष्टि अलंकार-प्रयोग के समय भी रस पर रहेगी तब संगति, औचित्य, समन्वय आदि गुण कविता में स्वयं आ जायँगे किन्तु जब उसकी दृष्टि अलंकारों की कारीगरी[२] दिखाने पर रहेगी तब वह काव्य में औचित्य, संगति, अनुपात आदि तत्त्वों को भूल जायगा। जब कवि अपनी कविता में अलंकार का प्रयोग इस रूप में करेगा कि वह रसास्वादन या भावग्रहण में सहायक हो या वह अबोधगम्य तथा जटिल भावों या विचारों को बोधगम्य बना रहा हो तब उसकी प्रयोग-विधि ठीक मानी जायगी। अलंकार[३] को कविता में सदा भाव के अनुकूल तथा अधीन रहना चाहिए, उसे रसानुभूति में सहायक होना चाहिए, उसे[४] कवि की भावना-बाढ़ के साथ सदा स्वाभाविक रूप में आना चाहिए। न तो उसके प्रयोग के लिए कवि[५]

---

१. अर्थौचित्यवतासूक्तिरलंकारेण शोभते।
पीनस्तनस्थितेनेव हारेण हरिणेक्षणा। क्षेमेन्द्र।

२. *When the great poet is concentrating on* रस, *when he is a* रससमाहितचेता *the sense of harmony and appropriateness attends on him, innate in him like instincts; there is hardly any room for impropriety. But when concentration is on figure, error creeps in.* (राघवन्)

३. *Alankar is subordinate to Rasa and it has to aid the realisation of Rasa* (वही)

४. *It shall suit the Bhava and be such as comes off to the poet along with the tide of Rasa* (वही)

को अपनी सारी शक्ति लगानी चाहिए और न कविता में उसका रूप इतना प्रमुख, विस्तृत तथा जटिल होना चाहिए कि उसके समझने के लिए पाठक को अपनी सारी शक्ति लगानी पड़े[१]। इस प्रकार जब कवि अपनी रचना में अलंकारों का प्रयोग स्वाभाविक ढंग से करेगा तो निश्चय ही उसकी अभिव्यक्ति में सौन्दर्य तथा प्रभाव की मात्रा बढ़ेगी। कभी कभी अलंकारवादी कवि अपनी कविताओं में एक साथ पाँच या छः अलङ्कारों का प्रयोग कर अपनी कला पर अभिमान करते हैं, किन्तु स्मरण रखने की बात यह है कि ऐसे स्थानों पर अलङ्कार प्रयत्न-प्रसूत नहीं होने चाहिए। उनके प्रयोग से कविता प्रहेलिका-रूप में न परिणत हो जाय अन्यथा उसे हम कविता नहीं कह सकते, किसी ऐन्द्रजालिक का इन्द्रजाल भले ही कह लें। श्लेष, अत्युक्ति, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि अलंकारों के प्रयोग-काल में कवि गण सत्य से बहुत दूर चले जाते हैं अतः इन अलङ्कारों के प्रयोग के समय कवियों को बहुत ही सावधान रहना चाहिए।

अलंकार—सम्प्रदाय के मुख आचार्य—भामह, दण्डी, वामन, उद्भट, रुद्रट, प्रतीहारेन्दुराज आदि हुए हैं अतः अलंकार सम्प्रदाय के सैद्धान्तिक पक्ष को ठीक ढंग से समझने के लिए संक्षेप में इनका मत अलग अलग जानना आवश्यक है।

भामह अलंकार सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक हैं। इनकी दृष्टि में अलंकार काव्य की आत्मा है, उसका सबसे मुख्य तत्त्व है। भामह का अलंकारत्त्व बक्रोक्ति[२] पर निर्भर है अर्थात् सभी अलंकारों की आधार-भित्ति बक्रोक्ति है। अतः भामह के अलंकारत्त्व को समझने के लिए उनके बक्रोक्ति मत

---

१ *It shall not monopolise the poet's energy nor shall it be so pro. minent or continued as to monopolise the reader's mind.* (राघवन)

२, सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिऽनयाऽर्थो विभाव्यते।
यत्नो अस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनयाबिना। भामह

को जानना आवश्यक है। किसी निमित्त[1] से लोक वार्ता अथवा उक्ति को अतिक्रमण करनेवाला अतिशय कथन बक्रोक्ति है। बक्रोक्ति से उनका तात्पर्य[2] यहाँ कलात्मक या काव्यात्मक अभिव्यंजना से है जिसमें शब्द तथा अर्थ दोनों का वैचित्र्य सम्मिलित रहता है। तात्पर्य यह कि भामह अभिव्यंजना के सौन्दर्य को काव्य का मूल तत्त्व मानते हैं। इनकी दृष्टि में शब्द और[3] अर्थ दोनों का संश्लेषण ही काव्य है। पर यहाँ प्रश्न यह उठता है कि कैसे शब्द और कैसे अर्थ का संश्लेषण भामह की दृष्टि में काव्य है ? बक्र[4] अर्थ-तथा बक्र शब्दों का संश्लेषण काव्य है, सामान्य वस्तु तथा इतिवृत्तात्मकपदावली के संश्लेषण से काव्य नहीं बनता। काव्य गत शब्दों तथा अर्थों में बक्रता लाने का कार्य अलंकारों का है। इनके मत से काव्यत्व प्रतिष्ठापक तथा शोभा बर्द्धक—दोनों उपकरण अलंकार के अन्तर्गत विद्यमान हैं अर्थात् काव्य में अलंकार सौन्दर्य-स्थानिक ही नहीं वरन् निर्माण-पक्ष का भी कार्य करते हैं। इसी लिए भामह काव्य का लक्षण गिनाते समय अलंकार या बक्रोक्ति को सर्व प्रथम स्थान ही नहीं देते वरन् उसे काव्य के अन्य तत्त्वों से श्रेष्ठ भी सिद्ध करते हैं :—

अलंकारवदग्राम्यमर्थ्यंन्याय्यमनाकुलम् ।
गौड़ीयमपि साधीयः वैदर्भीमपिचानन्यथा ।

× × × ×

युक्तं बक्रस्वभावोक्त्या सर्वमेवैतदिष्यते ।

---

१. लोकातिक्रान्तगोचरं बचनं वक्रोक्ति :—(वही)

२. बक्राभिधेय-शब्दोक्तिरिष्टावाचामलंकृतिः । (वही)

३. शब्दार्थौकाव्यम् (वही)

४. वाचां बक्रार्थशब्दोक्तिरलंकाराय कल्पते । (वही)

उपर्युक्त काव्य लक्षणों से यह ज्ञात होता है कि भामह काव्य में रस (अर्थ्य), औचित्य (न्याय्यं) आदि तत्त्वों से परिचित थे किन्तु उनकी दृष्टि में कविता के लिए भाव, औचित्य आदि तत्त्व उतने महत्त्व पूर्ण नहीं जितना बक्रोक्ति तत्त्व। इसी कारण वे रसयुक्त[1] कविता को अलंकार या बक्रोक्तिहीन होने पर कच्चे आम तथा कपित्थ सदृश मानते थे एवं अच्छी[2] शैली में लिखी सभी काव्य गुणों से सम्पन्न कविता को बक्रोक्ति रहित होने पर केवल श्रुतिपेशल कहते थे, अर्थात् उसे केवल संगीतात्मक मूल्य देते थे, काव्यात्मक नहीं; दूसरे शब्दों में ये बक्रोक्तिहीन कविता को कविता ही नहीं मानते थे। भामह के मतानुसार गुणों की संख्या ३ है :—ओज, प्रसाद तथा माधुर्य और काव्य में इनका मूल्य संगीतात्मक है, काव्यात्मक नहीं, अर्थात् ये गुणों को कविता का आवश्यक तत्त्व नहीं मानते; तभी तो ये सर्वगुण सम्पन्न कविता को बक्रोक्तिहीन होने पर साहित्य में कोई स्थान ही नहीं देते।

इन्होंने काव्य में रस को कोई स्वतंत्र स्थान न देकर, उसे अलंकार का ही एक प्रकार[3] बतला कर वर्ण्य तथा वर्णनप्रणाली का भेद मिटा दिया है। महाकाव्य का लक्षण[4] गिनाते समय साहित्य के सभी रसों को उसका एक लक्षण मानते हुए भी उन्होंने वक्रोक्ति को रस से महत्तर तत्त्व सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। भामह रीति-तत्त्व को भी काव्य में अलंकार से कम महत्त्वपूर्ण स्थान देते हैं। परम्परागत दृष्टि से काव्य-क्षेत्र में वैदर्भी

---

१. अहृद्यमसुभि (नि) भेदं रसवत्त्वेऽप्यपेशलम्।
काव्य कपित्थमाम्रं च केषाञ्चित् सदृशं यथा। (भामह)

२. अपुष्टार्थमबक्रोक्ति प्रसन्नमृजु कोमलम्।
भिन्नं गेयमिवेदं तु केवलं श्रुतिपेशलम्। (वही)

३. रसवत अलंकार

४. युक्तंलोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक्।
युक्तं बक्रस्वभावोक्त्या सर्वमेवैतदिष्यते।

काव्यालंकार

रीति सर्वश्रेष्ठ समझी जाती थी भामह ने इस परम्परा का खण्डन किया है। उनकी दृष्टि में वक्रोक्ति आदि गुणों के रहने पर काव्य सर्वगुण सम्पन्न हो जाता है उसमें चाहे किसी भी रीति का पालन किया गया हो।[१] भामह प्रतीयमान अर्थ (व्यंग्यार्थ) से परिचित हैं परन्तु वे ध्वनि या गुणीभूत व्यंग्य नामक पदों का प्रयोग अपने ग्रन्थ में नहीं करते। ध्वनि तत्त्व को अलंकार के भीतर ही अन्तर्भुक्त कर देते हैं। इनके पर्यायोक्त तथा समासोक्ति अलंकार के भीतर ध्वनि तत्त्व दिखाई पड़ता है।

सौन्दर्यानुभूति (aesthetic experience) के विषय में भामह मौन हैं, यह उनके लिए स्वाभाविक ही था क्योंकि उनके ग्रन्थ-काव्यालंकार का उद्देश्य काव्य में अलंकार का महत्त्व, कार्य, प्रकार आदि का वर्णन करना था, काव्यानुभूति की प्रकृति आदि का विवेचन नहीं। उसमें साहित्य के मानसिक, सांस्कृतिक, नैतिक, दार्शनिक, ऐतिहासिक आदि तत्त्वों का विश्लेषण नहीं हुआ है। कहने की आवश्यकता नहीं कि भामह ने अलंकार को काव्य में सर्वव्यापी तथा सर्वप्रमुख तत्त्व कहकर एवं उसके मूल में बक्रोक्ति घोषित कर काव्य के बहिरंग पक्ष—अभिव्यंजना तत्त्व की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया किन्तु हम उनके प्रतिपादित काव्य-सिद्धान्तों द्वारा साहित्य के कल्पना, चिन्तन, अनुभूति तत्त्वों, सांस्कृतिक, नैतिक पक्षों आदि की परख सम्यक् ढंग से नहीं कर सकते।

दण्डी ने बक्रोक्ति के स्थान पर अतिशयोक्ति को काव्य का मूल आधार माना है। परन्तु वास्तव में दोनों में शब्दभेद है। बक्रोक्ति से भामह का तात्पर्य भी अतिशय उक्ति का ही है। दण्डी ने बक्रोक्ति का प्रयोग अलंकारों के एक वर्ग विशेष के लिए किया है। इन्होंने भी रस को स्वतंत्र स्थान न देकर उसे कभी गुण के भीतर तथा कभी अलंकार के भीतर रखने का प्रयत्न किया है। दण्डी रीति सम्प्रदाय के पक्षपाती होते हुए भी काव्य में भामह से बढ़कर अलंकार के समर्थक हैं। इनकी दृष्टि में

---

१. अलंकार वदग्राम्यम अर्थ्यं न्याय्यमनाकुलम् (भामह)
गौड़ीयमपि साधीय वैदर्भीमपि चानन्यथा।

काव्य की शोभा करनेवाले सभी धर्म अलंकार[1] हैं अर्थात् काव्य की सम्पूर्ण शोभा अलंकार के आश्रित है। तात्पर्य यह कि अलंकार काव्य का शाश्वत धर्म है। दण्डी के मतानुसार काव्य के तत्त्व-रीति, गुण, रस आदि ही नहीं वरन् नाटक के तत्त्व—संधि, संध्यंग, वृत्ति, वृत्यंग, लक्षण आदि भी अलंकार के अन्तर्गत आते हैं—

यच्च सन्ध्यङ्ग—वृत्त्यङ्ग लक्षणाद्यगमान्तरे।
व्यावर्णितमिदं चेष्टम् अलंकारतयैव नः।

दण्डी ने भी भामह के समान ही स्वभावोक्ति को जिसका सम्बन्ध वर्ण्य या वस्तु से है, अलंकार घोषित किया :—

नानावस्थां पदार्थानां रूपसाक्षात्विवृण्वती।
स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालंकृतिर्यथा॥

वामन काव्य के सभी प्रकार के सौन्दर्यों[2] को अलंकार के भीतर समाविष्ट कर देते हैं। इनकी दृष्टि में काव्य में शोभा लानेवाले धर्म[3] गुण हैं और उनमें अतिशयता लानेवाले हेतु अलंकार; इस प्रकार इनकी दृष्टि में गुण काव्य के नित्य धर्म के अन्तर्गत आते हैं। वामन अलंकार के ही कारण[4] काव्यग्रहण या आस्वादन संभव बतलाते हैं। यदि काव्य में अलंकार न हों तो वह भी अन्य वाङ्मयों के समान सूचना मात्र देकर रह जायगा, सर्वहृदयसंवेद्य नहीं हो सकता। वामन भी काव्य में रसों को स्वतंत्र स्थान न देकर उन्हें कान्ति गुण[5] के भीतर समाहित करते हैं। इनकी दृष्टि में वक्रोक्ति एक[6] अलंकार है, सभी अलंकारों का आधार नहीं। भामह और दण्डी गुण तथा अलंकार के भेद को स्पष्ट नहीं कर सके

---

१ काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते। (दण्डी)

२ सौन्दर्यमलंकारः (काव्यालंकारसूत्र) वामन

३ काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मागुणाः। तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः। (वही)

४ काव्यं ग्राह्यमलंकारात्। (वही)

५ दीप्तरसत्वं कान्तिः। (वही)

६ सा सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः। (वही)

थे, यह कार्य सर्वप्रथम वामन ने किया; यह दूसरी बात है कि उनकी गुण सम्बन्धी धारणा से सब लोग सहमत न हों। भामह किसी अलंकृत शब्दार्थ या किसी चमत्कारपूर्ण उक्ति को काव्य मान लेते हैं; पर वामन इससे आगे बढ़कर गुण और अलंकार[1] दोनों से संस्कृत शब्दार्थ को कविता कहते हैं। भामह की दृष्टि में कविता के नित्य धर्म अलंकार हैं किन्तु वामन की दृष्टि में[2] कविता के नित्य धर्म गुण हैं। उनके बिना कविता में शोभा नहीं उत्पन्न हो सकती।

आचार्य उद्भट ने अलंकारवादी समीक्षा पद्धति के सिद्धान्तों में कोई नई उद्भावना नहीं की। उन्होंने सैद्धान्तिक प्रतिपादन तथा लक्षण-निरूपण में भामह का अनुसरण किया। इन्होंने भामह के अलंकारवादी सिद्धान्तों की व्याख्या की जो भामह विवरण के नाम से प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त उन्होंने कतिपय अलंकारों की उद्भावना की—जैसे, दृष्टान्त, काव्यलिङ्ग, पुनरुक्तवदाभास आदि। अलंकार सम्प्रदाय के सबसे स्वस्थ समीक्षक रुद्रट थे। सैद्धान्तिक समीक्षा-दर्शन के क्षेत्र में इनकी दृष्टि अत्यन्त व्यापक तथा उदार थी। उन्होंने काव्य में अलंकार की महत्ता स्वीकार करते हुए भी रस या भाव को स्वतंत्र स्थान दिया। उसे अलंकार का न तो कोई भेद माना और न उसे अलंकार के भीतर परिगणित किया। रुद्रट ने कवियों को काव्य में अलंकार के स्थान पर रस को यत्नपूर्वक रखने का आदेश दिया "तस्मात् कर्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम्।" इन्होंने सर्वप्रथम अलंकारों का वर्गीकरण वास्तव, औपम्य, अतिशय, श्लेष आदि वैज्ञानिक आधारों पर किया तथा इसके अतिरिक्त अलंकार के सूक्ष्म भेदों तथा प्रभेदों की सृष्टि भी की। इसके बाद के अलंकारवादी समीक्षकों—प्रतिहारेन्दुराज, रुय्यक, जयदेव, विद्याधर, अप्पयदीक्षित आदि ने अपने अपने युग में अलंकार सम्प्रदाय के पुनरुत्थान का प्रयत्न किया। किन्तु इन लोगों में से किसी ने भी अलंकारवादी समीक्षा के दर्शन में कोई नवीन योग नहीं दिया।

१ काव्यशब्दोऽयं गुणालंकारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते। (वामन)

२ पूर्वे गुणा नित्याः, तैर्विना काव्यशोभानुपपत्तेः। (वही)

१—उपर्युक्त आचार्यों के मतों के विवेचन से अलंकार सम्प्रदाय के सैद्धान्तिक पक्ष के विषय में हम निम्नाङ्कित परिणाम निकाल सकते हैं—

१—उक्ति चमत्कार का नाम अलंकार है। वह वक्रोक्ति अथवा अतिशयोक्ति की भित्ति पर निर्भर है।

२—अलंकार काव्य की आत्मा है। अतः प्रत्येक चमत्कारपूर्ण उक्ति काव्य है। दूसरे शब्दों में प्रत्येक काव्योक्ति में अलंकार अनिवार्यतः वर्तमान रहता है। अर्थात् अलंकार काव्य का सहज एवं अनिवार्य गुण है। काव्य के समस्त सौन्दर्य अलंकार-आश्रित हैं; इसीलिए अलंकारवादी आचार्यों ने काव्य में यत्नपूर्वक अलंकार लाने का आदेश दिया है। क्योंकि इनकी दृष्टि में सामान्य वस्तु-कथन या इतिवृत्त कथन में काव्यत्व है ही नहीं।

३—काव्य को अन्य वाङ्मयों से अलग करनेवाला तत्त्व अलंकार ही है।

४—अलंकारवत्ता ही के कारण काव्य सर्वहृदयसंवेद्य की सामर्थ्य रखता है, सर्वजन ग्राह्य बनता है।

५—प्रायः सभी आचार्य काव्य में अलंकार को मूल तत्त्व घोषित करके अभिव्यञ्जना के सौन्दर्य को मूल नियामक तत्त्व मानते हैं।

६—इन आचार्यों की दृष्टि में काव्य के शोभावर्द्धक गुण ही नहीं वरन् काव्यत्व प्रतिष्ठापक तत्त्व भी अलंकार के अन्तर्गत वर्तमान हैं।

७—अलंकार को काव्य का सर्व मानने का अर्थ है चमत्कार को काव्य का सर्व मानना। स्मरण रखना चाहिए कि यहाँ चमत्कार का अर्थ हृदय विस्तार नहीं हो सकता वरन् उक्ति चमत्कार ही हो सकता है। इस प्रकार काव्य में अलंकार को सर्व प्रमुख तत्त्व मानने से काव्य का उद्देश्य मनोरंजन ही निश्चित हो सकता है, अर्थ-धर्म काम मोक्ष की प्राप्ति नहीं।

सैद्धान्तिक दृष्टि से काव्य में अलंकार या वक्रोक्ति को सर्व प्रमुख तत्त्व मानने का अर्थ है साहित्य की व्यावहारिक समीक्षा का मानदण्ड अलंकारत्व घोषित करना; यद्यपि उसका मानदण्ड अलंकारों की प्रयोग-

चातुरी नहीं वरन् स्वस्थ सामाजिक दर्शन की कलात्मक अभिव्यंजना है। इस सम्प्रदाय के किन्हीं किन्हीं आचार्यों ने यत्र तत्र कुछ सामाजिक तत्त्वों का उल्लेख करने का प्रयत्न किया है किन्तु वहाँ रुक कर न तो उनका विवेचन किया और न उन तत्त्वों पर बल ही दिया, वरन् वहाँ भी अलंकार या बक्रोक्ति को ही सर्वश्रेष्ठ तत्त्व सिद्ध करने का प्रयत्न किया। सभी आचार्य रस-तत्त्व से परिचित दिखाई पड़ते हैं किन्तु रुद्रट के अतिरिक्त अन्य किसी ने भी काव्य में उसे स्वतंत्र स्थान नहीं दिया, वरन् उसे अलंकार का ही एक भेद मानकर अलंकार तथा अलंकार्य को वर्णन प्रणाली एवं वर्ण्य को एक करने की गड़बड़ी सभी ने उपस्थित की। अलंकारवादियों ने अलंकार के भीतर काव्य के बहिरंग पक्ष को ही रखने का प्रयत्न नहीं किया वरन् काव्य के सभी गुणों, तत्त्वों, लक्षणों को भी अलंकार के भीतर समेटने का दावा किया; तात्पर्य यह कि काव्य के एक अवयव के भीतर काव्य के पूरे शरीर तथा आत्मा को रखने का उपक्रम किया। इस प्रकार अलंकारवादी समीक्षा का मूलदर्शन जान पड़ता है जीवन या साहित्य में ऊपरी तड़क भड़क तथा सजावट को सर्व समझना; जीवन या साहित्य के एक अवयव द्वारा पूर्ण अवयवी का अनुशासन करना; आत्म-तत्त्वों के ऊपर शरीर तत्त्व का राज्य अथवा अधिकार स्थापित करना।

अलंकार सम्प्रदाय की समीक्षा करते समय सबसे पहला प्रश्न यह उठता है कि क्या काव्य अनिवार्यतः उक्तिचमत्कार के आश्रित है? ध्वनिवादियों तथा रसवादियों ने स्पष्ट शब्दों में इसका विरोध किया है। समन्वयवादी मम्मट ने भी 'अनलंकृती पुनः क्वापि' कहकर अलंकारवादियों के इस मत का खण्डन किया है। विश्वनाथ आदि ने भी अलंकार को काव्य का शोभातिशायी एवं अस्थिर धर्म कहा है। यदि उक्ति-चमत्कार हृदय में विस्फार लाने वाला है, अनुभूति को तीव्र, सूक्ष्म, स्पष्ट तथा मार्मिक बनानेवाला है, यदि वह भावनानुमोदित है, यदि वह अन्तर्वृत्ति प्रेरित है, यदि वह काव्य-प्रक्रिया पार कर भाव की प्रेरणा से कथन में प्रविष्ट

हुआ है, तो निश्चय ही अनिवार्य रूप में काव्य उसके आश्रित होगा; यदि वह केवल उक्ति में शुष्क एवं कोरी असाधारणता की प्रतिष्ठा करनेवाला है, यदि वह केवल दूर की कौड़ी लानेवाला है, यदि उसका उद्देश्य प्रस्तुत वस्तु या वर्णन में वैलक्षण्य भरना है, यदि उसका प्रयोजन कथन के अनूठे ढंग, उक्तिवैचित्र्य आदि से पाठक को कवि के श्रम अथवा निपुणता की ओर आकर्षित करना है, यदि वह कवि के समीक्षा-शून्य प्रयत्नों द्वारा बाहर से उक्ति पर जड़ा हुआ है तो निश्चय ही अनिवार्य रूप में काव्य उसके आश्रित नहीं होगा। यदि किसी उक्ति के अन्तराल में कोई सुन्दर भाव या मार्मिक अन्तर्वृत्ति छिपी है तो उसमें बाह्य बक्रता हो चाहे न हो पर काव्यत्व अवश्य पाया जायगा। उदाहरण के लिए रसखानि का यह सीधा-सादा सवैया देखिए।

मानुष हौं तो वही रसखानि बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पसु हौं तो कहा बस मेरो चरौं नित नन्द की धेनु मझारन।
जो खग हौं तो बसेरौ करौं नित कालिन्दि कूल कदम्ब की डारन।
पाहन हौं तो वही गिरि को जो धरयो कर छत्र पुरन्दर धारन॥

अथवा मण्डन कवि का यह सवैया लीजिए :—

अलि हौं तो गई जमुना जल को सो कहा कहौं, बीर! विपत्ति परी।
घहराय कै कारी घटा उनई इतनेई में गागर सीस धरी।
रपट्यो पग, घाट चढ्यो न गयो कवि मंडन ह्वैके बिहाल गिरी।
चिरजीवहु नंद को बारो अरी, गहि बाँह गरीब ने ठाढ़े करी।

मुसलमान होते हुए भी कवि रसखानि[१] के सवैये में कृष्ण के प्रति अनन्य भक्ति का उदगार कितना मार्मिक है। उसमें कितना सरस एवं रमणीय भाव भरा हुआ है किन्तु किसी पंक्ति में भी किसी प्रकार की बाह्य बक्रता, उक्ति वैचित्र्य या वाणि वैदग्ध नहीं है। मंडन कवि ने गोपी से प्रेम-गोपन के जो वचन कहलाये हैं उनमें भी विदग्धता की अपेक्षा स्वाभाविकता ही अधिक है।

---

१ इस सवैये को सुन कर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र कवि लोट पोट हो जाते थे।

अब इनके समक्ष केवल चमत्कार प्रधान उक्तियों वाली उन कविताओं का स्मरण कीजिए जिनमें कहीं कोई कवि किसी राजा की कीर्त्ति की धवलता चारों ओर फैलती देखकर यह आशंका प्रकट करता है कि कहीं उसकी स्त्री के बाल भी श्वेत न हो जायँ[1] अथवा रामचन्द्रिका के उस छन्द को लीजिए जहाँ केशवदास सन्देह अलङ्कार की लड़ी लगाने के फेर में पड़ कर राम-सीता को ठग, ठगौरी, ब्रह्मदोषरत, आदि कहते हैं।

किधौं यह राजपुत्री, वर ही वर्यो है किधौं,
उपदि वर्यो हैं यहि सोभा अभिरत हौं।
किधौं रति रतिनाथ जस साथ केसौदास
जात तपोवन सिव वैर सुमिरत हौं।
किधौं मुनिशाप हत, किधौं ब्रह्मदोष रत,
किधौं सिद्धि युत, सिद्ध परम विरत हौं।
किधौं कोऊ ठग हौ, ठगौरी लीन्हें, किधौं तुम,
हरि हर श्री हौ शिवा चाहत फिरत हौं।

बिहारी सतसई में भी ऐसे बहुत से दोहे मिलेंगे जिनमें अलंकार का तमाशा दिखाया गया है। उदाहरणार्थ, उन दोहों को स्मरण कीजिए जिनमें विरहिणी के शरीर के पास ले जाते ही शीशी का गुलाब जल सूख जाता है;[2] उसकी विरह-ज्वाला की लपटों से माघ के महीने में भी उसके पड़ोसियों को रहना कठिन हो जाता है;[3] अत्यधिक कृश

---

१ यथा यथा भोजयशो विवर्धते सिता त्रिलोकीमिव कर्तुमुद्यतम्।
तथा तथा मे हृदयं विदूयतेप्रियालकावलीधवलत्वशङ्कया (भोजप्रबन्ध)

२ औंधाई सीसी सुलखि बिरह बरति बिललात।
बिचहीं सूखि गुलाब गौ, छीटौं छुई न गात॥

३ आड़े दै आले बसन जाड़े हूँ की राति।
साहस कै कै नेह बस सखी सबै ढिग जाति॥

होने के कारण विरहिणी साँस खींचने के साथ दो चार हाथ पीछे और साँस छोड़ने के साथ दो चार हाथ आगे बढ़ जाती है।[1]

उपर्युक्त उद्धरणों तथा विवेचनों से यह बात स्पष्ट हो गई कि यदि किसी उक्ति में अथवा उसके प्रेरक-रूपमें कोई सुन्दर भाव या मार्मिक अन्तर्वृत्ति छिपी है तो चाहे उसमें चमत्कार हो या न हो उसमें काव्य की सरसता अवश्य मिलेगी। अलङ्कारवादी आचार्य भी स्वभावोक्ति में अलङ्कार मानते हुए और उसमें काव्यत्व का दर्शन करते हुए एक प्रकार से इस मत का समर्थन करते ही हैं कि काव्यत्व के लिए उक्तिचमत्कार या वचन बक्रता सर्वत्र अनिवार्य नहीं है। स्वभावोक्ति में वर्ण्य-चित्र की पूर्णता तथा कल्पना का संश्लिष्ट रूप भले ही मिल जाय पर उसमें उक्ति चमत्कार या वचन-बक्रता तो किसी प्रकार की नहीं है किन्तु वे आचार्य अपने साहित्य-दर्शन में अलङ्कार या बक्रोक्ति को काव्य की आत्मा कहकर स्वयं अपने मत का विरोध उपस्थित कर देते हैं। यह सिद्ध बात है कि एक प्रकार की उक्ति ही काव्य होती है और उसी के द्वारा हृदय पर काव्य का प्रभाव पड़ता है। पर प्रश्न यह है कि किस प्रकार की उक्ति से काव्यत्व की सृष्टि होती है। अलङ्कारवादी उत्तर देंगे कि बक्रोक्ति या चमत्कारपूर्ण उक्ति से। तब दूसरा प्रश्न यह उठता है कि क्या प्रत्येक चमत्कारपूर्ण उक्ति में काव्यत्व निहित है। सभी प्रकार की चमत्कारपूर्ण उक्तियों या बक्रोक्तियों में काव्यत्व नहीं मिल सकता। जैसा मैं पहले कह चुका हूँ कि उसी चमत्कार पूर्ण उक्ति में काव्यत्व पाया जा सकता है जिसकी बक्रता या चमत्कार भाव की रमणीयता, कोमलता, सूक्ष्मता, तीव्रता, मार्मिकता से सम्बन्ध रखता हो, जो वासनाओं या भावनाओं को झंकृत करने में समर्थ हो, जो सहजानुभूति जन्य हो, जिसे पढ़ या सुनकर केवल मनोरंजन ही न होता हो, वरन् हृदय का प्रस्तार भी होता हो, मनुष्यता की उच्च भूमि का

---

१ इत आवति चलि, जाति उत चली छ सातक हाथ।
चढ़ी हिंडोरैं सैं रहै लगी उसासन साथ॥

दर्शन होता हो। वाणी का वह चमत्कार या बक्रता जिसमें किसी भी प्रकार का भावयोग नहीं है, जिसमें बौद्धिक विधान मात्र है, जिसको पढ़ या सुनकर हमारी कौतूहल या विस्मय वृत्ति तृप्त होती है, वह काव्य पद की अधिकारिणी नहीं हो सकती। यदि बक्रोक्ति बुद्धि-व्यापार से न उत्पन्न होकर हृदय-व्यापार से उत्पन्न हो, उसमें अनुभूति और अभिव्यक्ति, अलंकार्य और अलंकार, गिरा और अर्थ का संश्लेषण वैज्ञानिक पद्धति से हो, यदि अलंकारों की सीमा विस्तृत करके लक्षणा और व्यंजना की परिधि तक पहुँचा दी जाय तो इस प्रकार की सभी बक्रोक्तियों को काव्य मानने में कोई हरज नहीं है। किन्तु अलंकार-वादियों ने बुद्धि व्यापार से उत्पन्न अर्थात् प्रयत्न-प्रसूत वक्रोक्ति को भी काव्य की संज्ञा दी। अनुभूति तथा अभिव्यक्ति, अलंकार्य एवं अलंकार को संश्लिष्ट करने के स्थान पर उन्हें एक कर दिया। अलंकारों की सीमा विस्तृत करने के स्थान पर संकीर्ण कर दी।

वस्तुतः काव्य की आत्मा रस, भाव या जीवन-दृष्टि है, बक्रोक्ति या अलंकार नहीं, काव्य को जीवन देने अथवा जग-जीवन के निकट लाने का श्रेय रस-तत्त्व को ही है, अलंकार को नहीं। जीवन-दृष्टि रहित अलंकारयुक्त कविता हमारी कुतूहल, विस्मय अथवा मनोरंजन की वृत्ति को भले ही शान्त कर दे पर शक्ति-संचार नहीं कर सकती; और जो काव्य जीवन को शक्ति प्रदान करने में समर्थ नहीं है वह काव्य नहीं है चाहे और कुछ भले ही हो। हम अलंकार या बक्रोक्ति को काव्य में अधिक से अधिक एक महत्त्वपूर्ण साधन मान सकते हैं पर साध्य नहीं। यहीं पर यह बात भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि अलंकार के बिना भी काव्य-पुरुष की सृष्टि हो सकती है पर रस या भाव तत्त्व के बिना नहीं। अलंकार के मूल तत्त्व, बक्रोक्ति का सम्बन्ध बचन-भंगिमा से है जिससे काव्य में एक प्रकार की बक्रता तथा रोचकता आ जाती है, पर यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि रोचकता भी, भाव या रस तत्त्व के रहने पर ही उत्पन्न हो सकती है। वस्तुतः अलंकार अपने वास्तविक स्वरूप में शैली या

वर्णन-प्रणाली से सम्बन्ध रखते हैं, अधिकांश मात्रा में वे काव्य के शरीर-पक्ष के भीतर ही आते हैं किन्तु अलंकारवादी आचार्यों ने इनका स्वरूप बहुत विस्तृत कर दिया। उसकी व्याप्ति की विवेचना में उन्होंने अतिरंजना से काम लिया। यह उनके लिए स्वाभाविक ही था। क्योंकि वे लोग जीवन में अतिरंजना या अतिशयता अथवा आत्म-प्रदर्शन के सिद्धान्त को सबसे महत्त्वपूर्ण मानते थे; यह दूसरी बात है कि उनके जीवन में अतिरंजना का यह सिद्धान्त किसी काव्य-विशेष के अध्ययन अथवा भौतिक सामाजिक परिस्थितियों के प्रभाव या प्रतिक्रिया के परिणाम स्वरूप उत्पन्न हुआ हो। यदि वे जीवन में अतिरंजना या अतिशयता के सिद्धान्त को सबसे महत्त्वपूर्ण न मानते तो काव्य में भी उसको सबसे महत्त्वपूर्ण घोषित न करते। माना कि काव्य में अति-रंजना या अतिशयता का तत्त्व एक महत्त्वपूर्णतत्त्व है पर वही सब कुछ नहीं है; जिसकी अतिरंजना या अतिशयता वह उपस्थित करता है वही काव्य का सर्वप्रधान तत्त्व हो सकता है। अतिरंजना या अतिशयता को जीवन में सबसे महत्त्वपूर्ण समझनेवाला व्यक्ति किसी वस्तु को यथातथ्य रूप में उपस्थित नहीं कर सकता। यही बात अलंकारवादी आचार्यों के विषय में भी हुई। जीवन या काव्य में अतिरंजना के सिद्धान्त को सर्व समझने के कारण वे न तो काव्य के आत्म स्वरूप को पहचान सके और न अलंकार के यथार्थ स्वरूप को। अतः उनके समीक्षात्मक ग्रन्थों तथा विवेचनों में हम साहित्य-समीक्षा का यथार्थ दर्शन नहीं कर सकते; केवल उसके किसी तत्त्व का अतिरंजित स्वरूप देख सकते हैं अथवा साहित्य के किसी तत्त्व या अवयव पर अथवा कभी कभी उसके पूर्ण स्वरूप पर उनकी सम्मति जान सकते हैं, किन्तु यहाँ स्मरण रखने की बात यह है कि तदविषयक उनकी सम्मति अतिरंजित ही होगी, वैज्ञानिक नहीं।

जैसे जीवन में आत्म-प्रदर्शनप्रिय व्यक्ति सभी वस्तुओं को अपने आत्म-प्रदर्शन के साधन रूप में अपनाने का प्रयत्न करता है तदवत् अधिकांश अलंकार-वादी आचार्यों ने आत्मप्रदर्शन के मूल तत्त्व अलंकार के

भीतर काव्य के अन्य तत्त्वों को समाहित करने का प्रयत्न किया। जिस प्रकार जीवन में आत्म-प्रदर्शनप्रिय व्यक्ति जीवन के अन्य सभी तत्त्वों, उपकरणों को जानते हुए भी अपने स्वभाव के कारण सर्वत्र आत्म-प्रदर्शन को ही सबसे अधिक महत्त्व देता है, उसी प्रकार अलंकारवादी आचार्य काव्य के अन्य तत्त्वों से परिचित होते हुए भी अपने स्वभाव या दर्शन के कारण यह निर्णय करने में असमर्थ रहे कि काव्य में अलंकार से भी महत्त्वपूर्ण कोई तत्त्व है ?

काव्य में अलंकार को आत्मा कहने का अर्थ है, काव्य में किसी एक तत्त्वका जिसका सम्बन्ध प्राय: काव्य के बाह्य पक्ष से है, प्राधान्य स्थापित करना, अवयव के द्वारा अवयवी का अनुशासन, शरीर तत्त्व द्वारा आत्म तत्त्व का नियंत्रण। किन्तु यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि जब शरीर तत्त्व द्वारा आत्म तत्त्व का अनुशासन होता है, या किसी एक अवयव द्वारा अवयवी का नियंत्रण होता है तब वह दर्शन, वस्तु तथा व्यक्ति, शरीर और आत्मा दोनों दृष्टियों से अस्वस्थ हो जाता है।

दर्शन का मूल, अवयव और अवयवी के समानुपातिक सम्बन्ध में निहित है।[१] वह साहित्य-दर्शन जो विभिन्न सम्प्रदाय के विभिन्न आचार्यों द्वारा साहित्य के किसी एक तत्त्व के विवेचन रूप में प्रस्तुत किया जाता है वह वैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रस्तुत नहीं कर सकता[२]। अलंकार, रीति, गुण आदि सम्प्रदाय के आचार्यों ने भी अपने साहित्य-दर्शन के विवेचन में यही किया। इसलिए उनके द्वारा प्रस्तुत साहित्य-दर्शन यदि वैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रस्तुत नहीं करता, स्वस्थ साहित्य-दर्शन उपस्थित नहीं कर पाता तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। जैसे

---

१. *The essence of philosophy is the relation of parts to the whole* (Moulton)

२. *A philosophy of literature cannot give scientific out-look as long as it is being examined in seperate sections by seperate sets of students* (Moulton).

मनुष्य के शरीर पर लदा अलंकार उसकी मानसिक वृत्ति का द्योतक होता है तदवत् काव्य में प्रयुक्त अलंकार को उसकी मानसिक दशा अर्थात् रस, भाव आदि की अभिव्यक्ति में सहायक होना चाहिए, स्वयं मन या आत्मा का स्थान नहीं ग्रहण करना चाहिए। ऐसा जान पड़ता है कि अलंकारवादी आचार्य काव्य में अलंकार के वास्तविक कार्य से परिचित नहीं थे, इसीलिए उन्होंने रस, रीति, गुण, वृत्ति आदि सबके कार्यों को अलंकार के सिर मढ़ दिया। अलंकार-वादियों के आदेशानुसार जब कवि यत्न से कविता में अलंकार लाने का प्रयत्न करेगा तो समीक्षा या स्वाभाविक प्रेरणा के अभाव में अलंकार की वेदी पर कविता का निश्चय ही हनन होगा और ऐसी स्थिति में कविता अपना अस्तित्व गँवा देगी और वह किसी ऐन्द्रजालिक के इन्द्रजाल का रूप धारण कर लेगी।

रसिक को काव्य-रसास्वादन के लिए अलंकार की परिभाषा, भेद, सिद्धान्त आदि जानने की उतनी आवश्यकता नहीं जितनी अलंकारवादी बतलाते हैं; कर्ता भी अपनी साहित्य-सर्जना अलंकार जाने बिना कर सकता है और अच्छी तरह कर सकता है; जैसी कबीर आदि निर्गुणवादी कवियों ने की है, जिन्हें कलम, कागज और स्याही छूने का मौक़ा भी नहीं मिला था, अलंकारवाद जानने की बात तो दूर रही। इससे यह ज्ञात हुआ कि अलंकार-सिद्धान्त को जाने बिना भी कवि गण अपना कार्य चला सकते हैं और रसिक पाठक भी। इससे निष्कर्ष यह निकला कि अलंकारवादियों की सैद्धान्तिक समीक्षा न तो साहित्य रचना के लिए बहुत उपयोगी है और न स्वस्थ समीक्षा ही के लिए; क्योंकि इसमें साहित्य-समीक्षा के अन्य तत्त्वों--कवि व्यक्तित्व, युग तत्त्व, मानवता, राष्ट्रीयता, जातीयता, संस्कृति आदि का विवेचन नहीं हुआ है। यदि कहीं कुछ हुआ है तो बहुत ही संक्षिप्त तथा अस्पष्ट रूप में।

काव्य के गुण-ओज, प्रसाद, माधुर्य आदि वस्तुतः रस-धर्म के अन्तर्गत आते हैं किन्तु अलंकारवादियों ने या तो उन्हें अलंकार

से अभिन्न बतलाया या काव्य की आत्मा-रूप में स्वीकार किया अथवा काव्य के लिए उपयोगी तत्त्व ही नहीं माना। काव्य, जीवन के लोक-तत्त्व को अपनाने के कारण सर्व हृदयसंवेद्य होने की क्षमता रखता है, अलंकार रखने के कारण नहीं, लोक-धर्म से युक्त काव्य अलंकार के न रहने पर भी सर्व हृदयसम्वेद्य हो सकता है किन्तु इसके विपरीत लोक-तत्त्व-विहीन काव्य अलंकार युक्त होते हुए भी सहृदय पाठकों के तादात्म्य योग्य नहीं हो सकता, हाँ उससे मनोरंजन अथवा कुतूहल-वृत्ति की तृप्ति भले ही हो जाय। अलंकार सम्प्रदाय के सभी आचार्य इस लोक-तत्त्व या रस तत्त्व से परिचित तो दिखाई पड़ते हैं किन्तु अधिकांश आचार्य काव्य में इसके महत्त्व तथा प्रयोग-विधि को नहीं जानते। समीक्षा एक प्रकार का विज्ञान है; अतः इसमें पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग इस रूप में होना चाहिए जो सर्व सामान्य में प्रचलित हो। समीक्षा कविता नहीं है कि इसमें प्रत्येक आचार्य पारिभाषिक शब्दों का अलग अलग अर्थ लेकर चले। अलंकार सम्प्रदाय के प्रतिनिधि आचार्य—भामह, दण्डी, वामन अपनी-अपनी समीक्षा में पारिभाषिक शब्दों—अलंकार, रीति, गुण आदि की अलग धारणा तथा अर्थ रखते हैं।

अलंकारवादियों ने वक्रोक्ति को अलंकार का मूल मानते हुए स्वभावोक्ति को, जिसका सम्बन्ध वर्ण्य या वस्तु से है, अलंकार घोषित किया। अलंकार सम्प्रदाय के अलंकार-सिद्धान्त के अनुसार स्वभावोक्ति, अलंकार-कोटि में नहीं आ सकती। अलंकारवादियों के अनुसार वर्णन या कथन में बक्रता या असाधारण ढंग अथवा विलक्षणता अलंकार-सृष्टि के लिए आवश्यक है। इनकी दृष्टि में किसी वस्तु विशेष या उसकी अवस्था विशेष से इसका (अलंकार का) कुछ सम्बन्ध नहीं। वस्तु निर्देश करना रस-व्यवस्था का काम है, अलंकार का नहीं। अलंकार-वाद के समर्थक कुछ विद्वानों का यह कहना है कि स्वभावोक्ति में वस्तुओं के यथातथ्य चित्रण से एक प्रकार का चमत्कार आ जाता है, इसलिए उसे अलंकार मानना चाहिए। किन्तु उन्हें यह स्मरण रखना

चाहिए कि उन्हीं के सिद्धान्तानुसार उक्ति-चमत्कार जिससे अलंकार की सृष्टि होती है, विशिष्ट प्रकार के कथन से आता है, वस्तुत्व या प्रमेयत्व के चमत्कार से नहीं। स्वभावोक्ति में यथातथ्य वर्णन, चित्रात्मकता, वर्ण्य की साङ्गोपाङ्गता आदि वस्तु चमत्कार से सम्बन्ध रखते हैं कथन के चमत्कार से नहीं। विशिष्ट वस्तु अथवा व्यक्ति की विशिष्ट अवस्थाओं, चेष्टाओं, व्यापारों का वर्णन रसों के विभावों तथा अनुभावों के अन्तर्गत आयेगा, किसी अलंकार के अन्तर्गत नहीं। वस्तुतः वर्ण्य वस्तु और वर्णन प्रणाली दो अलग अलग तत्त्व हैं, एक है साध्य तो दूसरा है साधन। स्वभावोक्ति का सम्बन्ध वर्ण्य वस्तु से है, वर्णन प्रणाली से नहीं। इसीलिए आगे चलकर बक्रोक्तिवादी कुन्तक ने स्वभावोक्ति को अलंकारों की श्रेणी से अलग कर दिया। इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध हुआ कि अलंकारवादियों की स्वभावोक्ति सम्बन्धी परिभाषा तथा धारणा शास्त्रीय दृष्टि से ही नहीं, वरन् उनके अलंकारवादी सिद्धान्त के अनुसार भी त्रुटिपूर्ण है।

अलङ्कारवादियों ने अलङ्कार-सिद्धान्त के मानसिक पक्ष पर विचार नहीं किया, अलङ्कार-प्रयोग के मानसिक कारण, मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया आदि का विवेचन नहीं किया, अलंकारों के मनोवैज्ञानिक विभाजनों की सूक्ष्म पद्धति पर दृष्टिपात नहीं किया। काव्य की आत्मा अलंकार या रचना सौन्दर्य मानते हुए भी अलंकारवादी आचार्य उसका प्रतिपादन वैज्ञानिक ढंग से नहीं कर सके। उनके प्रतिपादन में कुछ वैज्ञानिकता यदि आ सकती थी तो वह मनोवैज्ञानिक विवेचन द्वारा ही, किन्तु इसका आश्रय अलंकारवादियों ने नहीं लिया, यह दूसरी बात है कि उस समय मानस-शास्त्र का उतना विकास नहीं हुआ था जितना आज हुआ है। अतः वे आचार्य मनोविज्ञान की उतनी सामग्री पाने में असमर्थ थे जितनी आज हम सरलता से प्राप्त कर लेते हैं और काव्य-प्रक्रिया के विवेचन में उसका प्रयोग करने में तुरत समर्थ हो जाते हैं। अलंकारवादी समीक्षा के सिद्धान्तों को व्यावहारिक समीक्षा में प्रयुक्त करने से काव्य के नैतिक, व्यावहारिक, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, दार्शनिक पक्षों का न तो निरूपण

हो सकता है और न उसके भावमूलक आदर्शों का स्वतंत्र आकलन ही। इस समीक्षा के सिद्धान्तों द्वारा साहित्य के कल्पना चिन्तन, अनुभूति आदि तत्त्वों का विश्लेषण भी समुचित ढंग से नहीं हो सकता। इस प्रकार अलंकारवादी समीक्षा कवि, पाठक, रसिक, समीक्षक किसी के भी पथ-प्रदर्शन में पूर्णतः समर्थ नहीं हो सकती। भारतीय अर्थालंकार-योजना के भीतर काव्य-कल्पना की सब प्रकार की संभावनाओं के विस्तृत विवरण का अवसर था किन्तु अलंकारवादी आचार्य कल्पना की विभिन्न प्रकार की उत्पत्तियों, उसके विभिन्न भेदों तथा स्वरूपों एवं काव्य में उसके परिणामों के रूप में अलंकारवाद का निरूपण नहीं कर सके।

रीति-सम्प्रदाय

रीति-सम्प्रदाय को समुचित ढंग से समझने के लिए अलंकार सम्प्रदाय की भाँति ही काव्य में रीति की परिभाषा, स्वरूप, आवश्यकता, कार्य, महत्त्व, स्थान, विभिन्न तत्त्वों से उसके सम्बन्ध, प्रयोग विधि आदि पर विचार करना आवश्यक है। रीति शब्द रीङ् धातु में (जिसका अर्थ है गतिशील होना, चलना) क्तिन् प्रत्यय लगाने से बना है। रीङ् गताविति धातोस्सा व्युत्पत्त्या रीतिरुच्यते। (सरस्वती कंठाभरण) भोज। रियन्ते परम्परया गच्छन्त्यनयेति करणसाधनोऽयं रीति शब्दो। इसके पर्यायवाची शब्द—गति, मार्ग, पन्थ, प्रस्थान, पाक, प्रणाली, पद्धति, शैली तरीका, ढंग आदि कहे जा सकते हैं। संस्कृत साहित्य शास्त्र में प्रयुक्त इसके पर्यायवाची शब्द मार्ग, पन्थ, पाक, प्रस्थान आदि मिलते हैं। हिन्दी साहित्य शास्त्र में इस अर्थ में शैली शब्द चलता है और अंग्रेजी में Style (स्टाइल)। रीति शब्द की उपर्युक्त व्युत्पत्ति से यह जान पड़ता है कि वह लेखक की विशिष्ट प्रकार की अभिव्यक्ति प्रणाली है। संस्कृत साहित्य शास्त्र में रीति की अनेक परिभाषायें मिलती हैं। रीति के स्वरूप को समझने के लिए उनमें से कुछ पर विचार करना आवश्यक है। रीति-सम्प्रदाय के प्रतिष्ठाता वामन की दृष्टि में रीति, विशिष्ट प्रकार की पद-रचना है "विशिष्टा पद रचना रीतिः"। पद-रचना में वैशिष्ट्य के सम्पादक—गुण हैं।[१] विभिन्न गुणों का संश्लेषण पद-रचना में वैशिष्ट्य लाता है। वामन के गुणों का स्वरूप इतना व्यापक है कि उसके भीतर अलंकार, रस, लक्षणा-व्यंजना आदि का समावेश हो जाता है। इस प्रकार वामन की रीतिधारणा के भीतर भाषा की शक्ति, शब्द-चयन, पदों का विशिष्ट संघटन, रस, अलंकार, ध्वनि आदि तत्त्वों का सन्निवेश दिखाई पड़ता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि वामन की

१ विशेषो गुणात्मा (वामन)

रीति सम्बन्धी धारणा काव्य के बहिरंग तत्त्व से अधिक व्यापक है और उन्होंने रीति को काव्य की आत्मा[१] कह कर उसको बहुत अधिक महत्त्व दिया है, उसका स्वरूप बहुत कुछ वैयक्तिक (Subjective) बना दिया है। किन्तु रीति का सम्बन्ध किस प्रकार लेखक या कवि की प्रतिभा-विशिष्ट विचार, भावना, प्रवृत्ति, जीवन-दृष्टि, अन्तःप्रेरणा, कल्पना, अभिरुचि, शिक्षा, अध्ययन, संस्कृति, भाषाशक्ति, देश, काल, परिस्थिति, अभ्यास आदि से है इस पर विचार नहीं किया। इसी कारण उन्होंने रीति के तीन निश्चित भेद[२]—वैदर्भी, गौड़ी, पाञ्चाली स्थिर कर दिए और कवियों को आदेश दे दिया कि सबको वैदर्भी रीति का ही पालन करना[३] चाहिए क्योंकि उसमें सब गुण वर्तमान रहते हैं। रीति सम्प्रदाय के दूसरे प्रमुख प्रतिनिधि दण्डी ने रीति की कोई परिभाषा नहीं दी है। उसे मार्ग नाम से अभिहित किया। गुण-पार्थक्य[४] के अनुसार रीति के दो मुख्य भेद मानते हुए भी उन्होंने कवि की भिन्नता के अनुसार उसके अनेक[५] भेदों को स्वीकार किया है किन्तु प्रत्येक कवि के साथ शैली क्यों भिन्न हो जाती है इस पर विचार नहीं किया। दण्डी की भी गुण सम्बन्धी धारणा इतनी व्यापक है कि उनके द्वारा निरूपित रीति-स्वरूप के भीतर[६] अलंकार-योजना, रस, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि का सन्निवेश हो गया है। दण्डी भी वामन के समान ही काव्य गुणों को

---

१ रीतिरात्माकाव्यस्य। (वामन)

२ वामनादीनां मते वैदर्भीगौड़ीयापाञ्चाल्याख्या रीतय उच्यन्ते।
(काव्यप्रकाश वृत्ति)

३ तासांपूर्वाग्राह्यागुणसाकल्यात्। (वामन)

४ इति वैदर्भमार्गस्य प्राणाः दशगुणाः स्मृताः।
एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि। (दण्डी)

५ इति मार्गद्वयं भिन्नं, तत्स्वरूप निरूपणात्।

६ तद्भेदास्तु न शक्यन्ते, वक्तुं प्रतिकविस्थिताः। (दण्डी)

रीति का जीवनाधायक या प्राण मानते हैं, कवि के व्यक्तित्व को नहीं। रीति-सम्प्रदाय के दूसरे बड़े समर्थक सरस्वती कंठाभरण के रचयिता श्री भोजदेव हैं। उन्होंने अपने ग्रन्थ सरस्वती कंठाभरण में रीति की व्युत्पत्त्यात्मक परिभाषा दी है।

> वैदर्भादिकृत: पन्था: काव्ये मार्ग इति स्मृत:।
> रीङ् गताविति धातो: सा व्युत्पत्त्या रीतिरुच्यते ।।

रीङ् गताविति धातो: तथा उसमें युक्त क्तिन प्रत्यय से रीति शब्द बना है साहित्य-शास्त्र में जिसका अर्थ है मार्ग या पद्धति; जिस पर चल कर साहित्य के साध्य तत्त्व—रस का दर्शन या आस्वादन होता है यह रीति तत्त्व साहित्य-निर्माण तथा आस्वादन दोनों प्रक्रियाओं में। अनिवार्य तत्त्व के रूप में कार्य करता है। इसी गुणवत् पद रचना से कवि अपनी साहित्य-सर्जना करता है जगत और जीवन के तत्त्वों के अन्वेषण में समर्थ होता है। यदि आस्वादकों को गुणवत् पदों का ज्ञान न हो तो वे साहित्यास्वादन की क्रिया में सफल नहीं हो सकते। इन सभी बातों को रामसिंह ने सरस्वती कंठाभरण की अपनी टीका में अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया है[1]।

---

१. गुणवत्पदरचना रीति:। गुणा: श्लेषादय: काव्याव्यभिचारिणो नव। तेषामन्योन्यमीलनक्षमतया पानकरसइव, गुड् मरिचादीनां खाड़व इव मधुरम्लादीनां यत्संमूर्च्छनरूपावस्थान्तरगमनंतत्संस्कारादेव हि लोकशास्त्रपदरचनात: काव्यरूपा च रचना व्यावर्तते। अतएव मृग्यते कविभिरासंसारमिति मार्गपदेनोच्यते। वैदर्भादयो विदर्भादिदेशप्रभवास्तै: कृतमुख इवाकगोचरतया प्रकटितो न तु तत्तद्देशै: काव्यस्य किंचितउपक्रियते। प्रतिष्ठन्ते हि महाकवि-पदवीलाभार्थिन इति। रियन्ते परम्परया गच्छन्त्यनयेति करणसाधनोऽयं रीतिशब्दो मार्ग पर्याय इत्यर्थ:।

शारदातनय तथा राजशेखर दोनों 'वचन विन्यासक्रम' के रूप में रीति की परिभाषा करते हैं। इस परिभाषा में दोनों आचार्यों ने रीति के एक प्रमुख तत्त्व पद-योजना के विशिष्ट क्रम (Particular order of the arrangement of words) का ही उल्लेख किया है। वचन-विन्यासक्रम शैली का बाह्य तत्त्व होते हुए भी उसके अस्तित्व के लिए आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। यदि पदों का क्रम कविता में बदल दिया जाय तो उसकी रीति ही अपनी सत्ता नहीं खो बैठेगी वरन् कविता का भी अस्तित्व अस्ति नास्ति के बीच पड़ जायगा। नानात्व में एकत्व का तत्त्व जो गद्य-पद्य दोनों में पाया जाता है लुप्त हो जायगा। उदाहरण के लिए निम्नाङ्कित दो पंक्तियाँ देखिए :—

सरसिजमनुबिद्धं शैवलेनापिरम्यं
शैवलेनानुबिद्धमपि सरसिजं रम्यं

दोनों पंक्तियों में पदों की संख्या बराबर है, केवल दूसरी में पदों का क्रम बदल दिया गया है। परिणाम यह हुआ है कि उसका काव्यत्व नष्ट हो गया है। तात्पर्य यह कि 'वचन विन्यासक्रम' यद्यपि शैली का बाह्य तत्त्व है किन्तु फिर भी यह इतना महत्त्वपूर्ण है कि उसकी अनुपस्थिति में शैली अस्तित्वहीन हो जाती है। दोनों आचार्य रीति का सम्बन्ध किसी न किसी रूप में कवि के व्यक्तित्त्व से भी मानते हैं; इसका उदाहरण अनेक ग्रन्थों में मिलता है। इसके प्रमाणार्थ शारदातनय की निम्नाङ्कित उक्ति उनके भाव प्रकाश ग्रन्थ से उद्धृत की जा रही है।

प्रति वचनं प्रतिपुरुषं तदवान्तर जातितः प्रतिप्रीति।
आनन्त्यात् संक्षिप्य प्रोक्ता कविभिश्चतुर्धैव।
त एवाक्षर विन्यासास्ता एवाक्षर एवाक्षरपंक्तयः।
पुंसि पुंसि विशेषेण कापि कापि सरस्वती।
(भावप्रकाश पृ० ११-१२)

तात्पर्य यह कि प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक जाति के भेद से रीति के अनन्त भेद होते हैं वे ही अक्षरों के विन्यास रहते हैं; वे ही पदों की पंक्तियाँ रहती हैं; परन्तु प्रत्येक पुरुष या कवि की विशिष्टता के कारण उनकी रीति या शैली भिन्न भिन्न रूप धारण कर लेती है। यहाँ प्रश्न उठता है कि ऐसा क्यों होता है? उत्तर है—कवि की वैयक्तिक भावना से ओत प्रोत होने के कारण प्रत्येक शब्द विशिष्ट अर्थ ग्रहण कर लेता है। कवि की भावना शब्द और अर्थ दोनों में प्रविष्ट होकर दोनों के स्वभाव तथा स्वरूप को बदल देती है। लौकिक भाषा में हम जिस शब्द का प्रयोग करते हैं वह काव्य में विशिष्ट रूप धारण करता हुआ दिखाई पड़ता है। इस विशिष्टता का कारण कवि का भावना-व्यापार ही है।

तप रे मधुर मधुर मन
जग-जीवन की ज्वाला में जल
बन अकलुष उज्ज्वल निर्मल कोमल
स्थापित कर जग में अपनापन
ढल रे ढल आतुर मन।

उपर्युक्त कविता में कविवर पन्त के वैयक्तिक भावना-व्यापार को प्राप्त कर तप, मधुर, मन, जग, ज्वाला-जल, उज्ज्वल, निर्मल, कोमल, अपनापन, ढल, आतुर आदि शब्द तथा इस कविता का वर्ण्य—समाज के दुखों को शान्ति से धीरे धीरे सहना—दोनों ही एक विचित्र्य वैशिष्ट्य से ओत प्रोत हो गये हैं, दोनों के स्वरूप तथा स्वभाव में कवि की विशिष्ट रीति के कारण महत् परिवर्तन उपस्थित हो गया है। दोनों में कवि का मौलिक व्यक्तित्व समाया हुआ दिखाई पड़ता है।

राजशेखर का रीतिनिर्णय नामक ग्रन्थ नहीं मिलता किन्तु उनकी काव्य मीमांसा में प्राप्त एक उक्ति से यह विदित होता है कि वे भी शैलीकार की प्रथम आवश्यकता उसका व्यक्तित्व ही मानते हैं—'कविः प्रथमात्मानं कल्पयेत्।'

प्रसिद्ध आचार्य विद्याधर 'रसोचितशब्दार्थनिबन्धनम्' को रीति कहते हैं। अर्थात् उनकी दृष्टि में रस के अनुकूल शब्द और अर्थ का

संविधान रीति का निर्माण करता है। रीति का सम्बन्ध केवल शब्द से ही नहीं, अर्थ से भी है। प्रश्न उठता है कैसे शब्दों तथा अर्थों से रीति का सम्बन्ध है उत्तर परिभाषा में ही प्रस्तुत है—रसोचित अर्थात् भावानुकूल पदावली तथा अर्थयोजना से सम्बन्ध है। अनुभव-द्योतन-शक्ति से विलसित शब्द और अर्थ' रसोचित शब्दार्थ हैं। इन्हें अनन्यत्व के सूत्र में आबद्ध करना रसोचित शब्दार्थ का निबन्धन है। रसोचित शब्दार्थ को प्राप्त करने में कवि कैसे समर्थ होता है? प्रतिभा, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास द्वारा। किस परिस्थिति में उन्हें प्राप्त करता है? अनुभूति की परिस्थिति में रसोचित शब्द और अर्थ का संश्लेषण वह किस व्यापार द्वारा करता है? उत्तर है—भावना-व्यापार द्वारा। यदि काव्य में रसोचित शब्द और अर्थ न आयें तो तुरत अनौचित्य दोष आ जायगा शब्द दोष तथा अर्थदोष दोनों उत्पन्न हो जायँगे। अनौचित्य ही रस-भङ्ग का मूल कारण[1] है। शब्द और अर्थ का परस्पर औचित्य काव्य गत पदों के वैशिष्ट्य का एक मूल कारण है। इस प्रकार रीति के भीतर औचित्य नामक तत्त्व का समावेश करके शब्द दोष एवं अर्थ दोष के निवारण का प्रयत्न किया गया है तथा साथ ही रीति का सम्बन्ध काव्य के बहिरङ्ग तत्त्व से ही नहीं वरन् अन्तरङ्ग तत्त्व से भी स्थापित किया गया है। शिङ्गभूपाल के मत से 'पदविन्यासभङ्गी'[2] रीति है। पद-विन्यास में भङ्गिमा शब्द और अर्थ की भङ्गिमा से आती है। शब्द और अर्थ की भङ्गिमा वक्रोक्ति द्वारा अनुभूति की प्रक्रिया से आती है। वक्रोक्ति[3] शब्दों तथा अर्थों मे लोकोत्तीर्णता का सन्निवेश करती है। यही लोकोत्तीर्णता[4] काव्यगत रीति का स्वभाव निर्मित करती है, किन्तु यहाँ स्मरण रखने की बात यह है कि यह

---

१ अनौचित्यादृते नान्यत् रसभङ्गस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा। (आनन्दवर्धन)

२. पदविन्यासभङ्गीरीतिः। शिङ्गभूपाल।

३. विदग्धभणितिभङ्गी निवेद्यम वस्तुनो रूपम्, न नियत स्वभावम्।

४. लोकोत्तीर्णत्वं च काव्यगतरीतेः स्वभावं भवितुमर्हति।

लोकोत्तीर्णता अनुभूति की प्रक्रिया से आती है, किसी दिमाग़ी कसरत की प्रक्रिया से नहीं। शिङ्गभूपाल की उक्त परिभाषा में काव्यगत रीति की इसी प्रकृति (लोकोत्तीर्णता) पर बल दिया गया है।

कुन्तक ने रीति को कवि-प्रस्थान हेतु अर्थात् कवि कर्म की विधि कहा है और उसका सम्बन्ध कवि के व्यक्तित्व से स्पष्ट रूप में स्थापित किया है और साथ ही रीति की भिन्नता का कारण कवि के व्यक्तित्व की भिन्नता बताई है। कहने की आवश्यकता नहीं कि कुन्तक की रीति-परिभाषा बहुत ही व्यापक तथा मनोवैज्ञानिक है। आगे चल कर ध्वनिवादी तथा रसवादी आचार्यों ने रीति का चित्र बदल दिया। वह काव्य की आत्मा या कवि-कर्म-विधि न रह कर अंग-संस्थान मात्र रह गई। रस उसका एक तत्त्व नहीं रहा, वह स्वयं रस की उपकर्त्री समझी गई। ध्वनिप्रतिष्ठापकाचार्य आनन्दवर्धन ने रीति को वाच्य-वाचक चारुत्व हेतु कहा है। इनके अनुसार रीति वह विधि है जिससे काव्य के शब्द और अर्थ में चारुता आती है। वह गुणों[1] का आश्रय लेकर खड़ी होती है; रसों को व्यक्त करती है। काव्य के अस्फुट तत्त्वों को स्फुरित करती है। आगे चल कर महापात्र विश्वनाथ ने रीति का रस, गुण आदि से उचित सम्बन्ध स्थापित कर उसका व्यवस्थित विवेचन किया—"पदसंघटनारीतिः अङ्ग संस्थाविशेषवन् रसादीनामुपकर्त्री"।

हिन्दी में रीति-शब्द का अर्थ काव्य रचना के नियमों और सिद्धान्तों से[2] है। संस्कृत की वैदर्भी, गौड़ी आदि रीतियों के अर्थ में भी यह शब्द हिन्दी में चलता है पर विशेषतः यह शब्द प्रथम अर्थ में ही रूढ़ हो

१. गुणानाश्रित्यतिष्ठन्ती माधुर्यादीन व्यनक्ति सा रसान्।
अस्फुटस्फुरितं काव्यतत्त्वमेतद यथोदितम्।
अशक्नुवद्भिः व्याकर्तुम् रीतयः संवर्तिताः। (आनन्दवर्धन)

२ काव्य की रीति सिखी सुकविन सों। दास (काव्य निर्णय)
कवित रीति कछु कहत हूँ। प्रताप सिंह (व्यंगार्थ कौमुदी)

गया है। रीति काल के आचार्यों ने इसका यही अर्थ लिया है। हिन्दी साहित्य के इस काल का नाम करण भी इसी विशेष अर्थ में हुआ है। इस काल में लक्षण-ग्रन्थ अधिक लिखे गये। इसलिए साहित्य के इतिहासकारों ने इसी विशिष्ट नाम से इसको अभिहित किया।

रीति का स्वरूप

रीति विशिष्ट प्रकार की उक्ति या पद-संघटना है, जो कवि या वक्ता की प्रतिभा से उत्पन्न होती है, व्युत्पत्ति से विकसित होती है तथा अभ्यास से सिद्ध होती है; जो वाच्य और वाचक के सौभाग्य तथा लावण्य-पोषक औचित्य से अनुप्राणित होकर, गुणों के आश्रय से खड़ी होती हुई रस अथवा भाव को व्यक्त करती है; जिसमें वस्तुओं का नियतिनियम-रहित स्वभाव 'विदग्धभणितिभङ्गी' रूप में चित्रित रहता है; जिसमें विषय का सूक्ष्म तथा उच्च स्वभाव भावलावण्य योजना द्वारा अनन्य रूप में ग्रथित रहता है; जिसमें भाषा वस्तुनिष्ठ से अधिक व्यक्तिनिष्ठ होती है, जिसमें अनुभूति को आनन्दात्मक रूप में द्योतित करने की क्षमता रहती है, जहाँ शब्द और अर्थ दोनों को समान रूप से प्रधानता प्राप्त रहती है, जहाँ पदार्थों के महत्त्व की उत्कर्षता अलंकारों के प्रयोग की अनुकूलता से सुशोभित रहती है; लोकोत्तीर्णता जिसका स्वभाव है, सौन्दर्य-सृष्टि जिसका लक्ष्य; भावाकुलता जिसका कारण है, सत्त्वमय अखण्ड आनन्द की अनुभूति कराना जिसका कर्तव्य। रीति शब्दाश्रित गुणों को ही नहीं अपनाती वरन् अर्थाश्रित गुणों को भी धारण करती है; इसका सम्बन्ध पद, गुण, अलंकार से ही नहीं वरन् काव्य के अन्य तत्त्व—वृत्ति, ध्वनि, वक्रोक्ति औचित्य, रस आदि से भी है। रीति से वर्ण्य का ज्ञान ही नहीं होता, वरन् उसकी रसात्मक अनुभूति भी होती है; इससे विषय का बोध ही नहीं होता, वरन् कवि के व्यक्तित्व की पहचान भी होती है। यह कवि की भावात्मक-स्थिति से अनुशासित होती है, विषय तथा काव्य-रूप से नियंत्रित होती है तथा

युग की संस्कृति, परिस्थिति, विशेषता, आवश्यकता के अनुसार अपना स्वरूप सँवारती है। रीतियों की संख्या सीमित नहीं, वरन् कवि-व्यक्तित्व भेद के अनुसार असीम हैं।

रीति को काव्य का केवल शरीर-पक्ष हम नहीं कह सकते क्योंकि काव्यगत विशिष्ट पद जो काव्य में प्रयुक्त होने के पूर्व शरीर रूप में थे वे अब कवि-व्यापार जन्य रीति-प्रभाव के कारण काव्य के शरीरी तत्त्व से संश्लिष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार काव्य-रीति में काव्य के शरीर एवं शरीरी-दोनों तत्त्वों का संश्लेषण रहता है। वह बक्रोक्ति या रीति जो कवि-व्यापार या भावनाप्रक्रिया से उत्पन्न नहीं होती वह शरीर पक्ष का स्थान ले सकती है किन्तु कवि-व्यापार जन्य रीति में काव्य का केवल शरीर पक्ष ही नहीं रहता। काव्य में भाव तथा रूप-पक्ष अलग नहीं किए जा सकते। दोनों को अलग करने पर काव्यत्व रहेगा ही नहीं। भाव और रूप दोनों काव्य-व्यापार या भावना-व्यापार में पड़कर एक सूत्र में ग्रथित हो जाते हैं; एक विषय में परिणत हो जाते हैं; भावना से समानुप्राणित होने के कारण शब्द और अर्थ-दोनों समान प्रधानता प्राप्त कर लेते हैं।

काव्यविद इस रीति को कभी कभी चमत्कार शब्द से अभिहित करते हैं। अभिनव गुप्त इसी चमत्कार, बक्रोक्ति, बन्ध, गुम्फ आदि को कवि-व्यापार या रीति का पर्याय मानते हैं। काव्य में चमत्कार, विच्छित्ति, रीति, बक्रोक्ति सभी प्रतिभा-जन्य होते हैं। भावना, शब्द और अर्थ दोनों में प्रविष्ट होकर उनके स्वरूपों तथा स्वभावों में महत् परिवर्तन उपस्थित कर देती हैं। इस प्रकार लौकिक भाषा में प्रयुक्त सामान्य शब्द काव्य में विशिष्ट रूप धारण कर लेता है। इसीलिए वामन ने विशिष्ट पदों की रचना को रीति कहा—यही वैशिष्ट्य नानात्व में एकत्त्व की स्थापना करता है। महिमभट्ट की दृष्टि में किसी वस्तु का वैचित्र्य या वैशिष्ट्य प्रतिभा से ही जाना जा सकता है। किसी वस्तु के विचित्र भाव के दर्शन तथा वर्णन में प्रतिभावान कवि ही सफल होते हैं। लौकिक वस्तु या सामान्य शब्द प्रतिभा की प्रक्रिया में पड़ कर अलौकिक रूप धारण कर लेता है।

आचार्य दण्डी की दृष्टि में समाधि गुण में किसी विषय या वस्तु का यही विशिष्ट धर्म निहित रहता है।

रीति और अलंकार का सम्बन्ध

रीति के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए काव्य के अन्य तत्त्वों के साथ उसका सम्बन्ध जानना आवश्यक है। सर्व प्रथम रीति और अलंकार के सम्बन्ध पर विचार करना चाहिए। भामह की दृष्टि में अलंकार रीति का सर्वप्रथम तथा अनिवार्य[1] गुण है। वामन काव्य के सभी प्रकार के सौन्दर्यों को अलंकार[2] कहकर रीति का सम्बन्ध अलंकार से अनिवार्य रूप में मानते हैं। आचार्य दण्डी भी काव्य-शोभा के सभी धर्मों, उपकरणों को अलंकार के अन्तर्गत समाविष्ट करते हैं।[3] इनकी दृष्टि में नाटक के शोभाविधायक अंग, संधि; संध्यंग, वृत्ति, लक्षण-सब अलंकार के अन्तर्गत आ[4] जाते हैं। रीति और वृत्ति में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। अतः यही सम्बन्ध रीति और अलंकार से भी सिद्ध हुआ। दण्डी तथा वामन द्वारा निरूपित कई गुणों में शब्दालंकार तथा अर्थालंकार आ जाते हैं। कुन्तक भी अपने विचित्र मार्ग में अलंकार को प्राण रूप में प्रतिष्ठित करते हुए दिखाई पड़ते हैं[5]। इनकी दृष्टि में इस मार्ग में अलंकारों की बहुत अधिक सजावट रहती है। एक अलंकार का प्रभाव मन से हटने नहीं पाता कि झट दूसरा अलंकार आ जाता है। वस्तुतः रीति का लक्ष्य सौन्दर्य-सृष्टि है। इस सौन्दर्य-सृष्टि में अलंकार रीति की बहुत अधिक सहायता

---

१ अलंकारवदग्राम्यम् अर्थ्यं न्य्यायमनाकुलम्।
गौडीयमपि साधीयः वैदर्भीमपि चानन्यथा। (भामह)

२ सौन्दर्यमलंकारः।

३ काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते। (काव्यादर्श)

४ यच्च सन्ध्यङ्ग-वृत्यङ्ग लक्षणाद्यगमान्तरे।
व्यावर्णितमिदं चेष्टम् अलंकारतयैव नः। (दण्डी)

५ अलंकारस्य कवयो यत्रालंकरणान्तरम्।
असन्तुष्टा निबध्नन्ति हारादेर्मणिबन्धवत्। (कुन्तक)

करता है। रीति में किसी विषय या वस्तु का चित्रण 'विदग्धभणितिभङ्गी' रूप में रहता है। कथन या वर्णन में वैदग्धपूर्ण भङ्गिमा लाने का श्रेय बहुत अधिक मात्रा में अलंकार को है। काव्यगत रीति का स्वभाव लोकोत्तीर्णता है। इस लोकोत्तीर्णता का सम्पादन अधिकांश मात्रा में अलंकार ही करता है। रीति-प्रयोग का कारण भावों की आवश्यक भावाकुल क्षणों में वाणी में विदग्धता का आना स्वाभाविक है और वाग्वैदग्ध की सृष्टि के लिए अलंकारों का प्रयोग करना स्वाभाविक है। यदि अलंकारों का व्यापक रूप लिया जाय और उन्हें कथन का एक विशेष ढंग मान लिया जाय तब तो रीति में अलंकार अनिवार्य रूप में रहेंगे और यदि अलंकारों का स्वरूप उनकी सीमित संख्या के भीतर ही माना जाय तब रीति में अलंकार आवश्यक तत्त्व के रूप में स्थान प्राप्त करेंगे। अब प्रश्न यह उठता है कि कैसे अलंकार रीति में स्थान पायेंगे। उत्तर है—स्वाभाविक रूप में आये हुए, अन्तरंग रूप में बिठाये गये, अप्रयत्न रूप में लाये गये, भावप्रवाह में लहर के समान भासते हुए, प्रतिभा के अनुग्रह से प्रयुक्त हुए। यदि रीति में अलंकार यत्न से लाया जायगा, बहिरंग रूप में बिठाया जायगा, तो भाव और रूप की एकता नष्ट हो जायगी, रीति-सौन्दर्य कम हो जायगा। अलंकार-मार्ग से काव्य-सौन्दर्य अभिव्यक्त होता है, अतः रीति में अलंकार अलंकार के लिए नहीं, अर्थ-सौन्दर्य के लिए आना चाहिए।

अब रीति और वृत्ति के सम्बन्ध पर विचार करना चाहिए। भरत मुनि के अनुसार वृत्तियाँ सभी प्रकार के काव्यों तथा नाटकों की माता[1] मानी गई हैं। अभिनवगुप्त के अनुसार वृत्ति पुरुषार्थ साधक व्यापार है। काव्य में कोई भी वर्णन व्यापार-शून्य नहीं होता[2] इस प्रकार वृत्ति की व्याप्ति

१ सर्वेषामेव काव्यानां वृत्तयो मातृका स्मृताः (भरत मुनि)

२ तस्माद् व्यापारः पुमर्थसाधको वृत्तिः। स च सर्वत्र वर्ण्यते इत्यतो वृत्तिः काव्यस्य मातृका इति। न किञ्चित् व्यापारशून्यं वर्णनीयमस्ति।

(अभिनव भारती)

काव्य-जगत में निर्बाध रूप से है। काव्य ही नहीं सारा संसार इन वृत्तियों से व्याप्त है। अभिनवगुप्त की दृष्टि में नाटक में रस के अनुकूल पात्रों की काय, मन, वचन सम्बन्धी चेष्टाएँ ही वृत्तियाँ[1] हैं। दृश्य काव्य में चित्रित पात्रों की चेष्टाओं के समान श्रव्य काव्य में निरूपित वर्णन तथा चेष्टायें भी वृत्ति हैं। 'राजशेखर विलास (हाव भाव) विन्यास क्रम' को वृत्ति एवं 'वचन विन्यास क्रम' को रीति कहते हैं। आनन्दवर्धन रीति और वृत्ति को एक मानते हैं। इनकी दृष्टि में रस के अनुकूल शब्द एवं अर्थ का व्यवहार वृत्ति है। शब्द और अर्थ के भेद के अनुसार दो प्रकार की वृत्तियाँ हैं—कुछ शब्द के आश्रित हैं कुछ अर्थ के[2]। प्रसिद्ध आलंकारिक प्रतिहारेन्दुराज रसाभिव्यक्ति के अनुकूल वर्ण-व्यवहार को वृत्ति कहते हैं[3]। आचार्य दण्डी रीति, गुण तथा वृत्तियों को एक स्वरूप मानते हैं। वामन भी रीति और वृत्ति को एक मानते हैं। रुद्रट समास और असमास के आधार पर वृत्तियों के दो भेद करते हुए दिखाई पड़ते हैं। मम्मट रस के अनुकूल उचित वर्णों के प्रयोग को वृत्ति कहते[4] हुए रीति और वृत्ति में अभेद स्थापित करते हैं। पं० राज जगन्नाथ तक आते आते रीति और वृत्ति का भेद बिल्कुल मिट गया; इसीलिए वे रीतियों को वृत्ति संज्ञा देते हुए दिखाई पड़ते हैं[5]। अर्वाचीन आलंकारिक रीति और वृत्ति को पर्यायवाची मानते हैं।[6]

१ काव्यवाङ्मनसां चेष्टा एव सः वैचित्र्येण वृत्तयः। अभिनवगुप्त।

२ रसाधनुगुणत्वेन व्यवहारोऽर्थशब्दयोः
औचित्यवान् यस्ता एव वृत्तयो द्विविधा स्थिताः। (ध्वन्यालोक)

३ शब्दतत्त्वाश्रयाः काश्चिद् अर्थतत्त्वयुजोपराः
वृत्तयोऽपि प्रकाशन्ते ज्ञातेऽस्मिन काव्यलक्षणे। (ध्वन्यालोक)

४ रसाभिव्यक्ति अनुकूल वर्ण व्यवहारो वृत्तिः। (प्रतिहारेन्दुराज)

५ वृत्तिर्नियत वर्णगतो रसविषयो व्यापारः। (काव्यप्रकाश)

६ व्युत्पत्तिमुद्गिरन्ती निर्मातुर्या प्रमादयुता।
तां विबुधा वैदर्भी वदन्ति वृत्तिं गृहीत परिपाकाम्॥
(पं० राज जगन्नाथ)

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि वृति विषयक तीन सिद्धान्त
स्कृत साहित्य-शास्त्र में दिखाई पड़ते हैं। प्रथम सिद्धान्त के प्रतिपादक
त या अभिनवगुप्त आदि हैं जिन्होंने वृत्तियों का सम्बन्ध मन, वाक,
य, चेष्टा या व्यापार[1] से स्थापित करके विभिन्न रसों से उनका सामञ्जस्य
ापित किया[2] है। उद्‍भट ने वृत्तियों का सम्बन्ध वर्ण या अनुप्रास से
ापित किया[3] है। आनन्दवर्धन ने वृत्तियों का सम्बन्ध रसानुकूल
ब्दों तथा अर्थों दोनों से स्थापित करते हुए रीतियों तथा वृत्तियों को
क ही माना[4] है। मम्मट, पं० राज जगन्नाथ आदि भी इसी मत को
ानते हैं। अर्वाचीन आलंकारिकों की दृष्टि से रीति और वृत्ति एक ही
। तृतीय सिद्धान्त की दृष्टि से रीतियाँ और वृत्तियाँ एक ही हैं।
तः इस सिद्धान्त के अनुसार रीति और वृत्ति के सम्बन्ध-स्थापन का
श्न ही नहीं उठता। द्वितीय सिद्धान्त के अनुसार वृत्तियों का सम्बन्ध वर्णों
ा रसानुकूल शब्दों तथा अर्थों दोनों से है। रीतियों का सम्बन्ध भी
सानुकूल शब्दों तथा अर्थों से है। दोनों को रसाभिव्यक्ति में सहायक
ाना चाहिए। इस प्रकार दोनों में रूप सादृश्य तथा लक्ष्य सादृश्य
र्तमान है। जिस प्रकार माधुर्यादि गुणों के ऊपर वृत्तियाँ अवलम्बित

---

१ कायवाङ्मनसां चेष्टा एवसह वैचित्र्येण वृत्तयः (अभिनवगुप्त)

२ व्यवहारोहि वृत्तिरित्युच्यते (ध्वन्यालोक)

३ शृङ्गारे चैव हास्ये च, वृत्तिः स्याद् कैशिकीति सा।
सात्त्वती नाम सा ज्ञेया वीररौद्राद्‍भुताश्रया।
भयानके च बीभत्से रौद्रे चारभटी भवेत्।
भारती चापि विज्ञेया, करुणाद्‍भुतसंश्रया। (नाट्यशास्त्र)

४ अतस्तावद् वृत्तयो रसाभिव्यक्त्यनुगुणवर्णव्यवहारात्मिकाः
(उद्‍भट्ट वृत्ति)

रसाद्यनुगुणत्वेन व्यवहारोऽर्थशब्दयोः।
औचित्यवान यस्ता एव वृत्तयो द्विविधा स्थिताः॥
(आनन्दवर्धन)

रहती हैं उसी प्रकार उन्हीं के ऊपर रीतियाँ भी। प्रथम सिद्धान्त के अनुसार वृत्तियों का सम्बन्ध व्यापार या चेष्टा से है। रीतियों का सम्बन्ध जब वर्ण्य से है तो उसके भीतर पात्रों के व्यापारों या चेष्टाओं का समावेश हो ही जाता है। इस प्रकार प्रथम सिद्धान्त के अनुसार भी रीति और वृत्ति में घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित होता है। इस सिद्धान्त के अनुसार बहुत पहले ही यह बात मान ली गई है कि कोमलता तथा मधुरता से समन्वित होने के कारण कैशिकी वृत्ति का वैदर्भी से घनिष्ठ सम्बन्ध है; उद्धत एवं कठोर होने के कारण आरभटी वृत्ति गौड़ी के साथ घनिष्ठ मैत्री रखती है। इस प्रकार वृत्ति सम्बन्धी चाहे जिस सिद्धान्त की दृष्टि से विचार किया जाय रीति और वृत्ति में घनिष्ठ सम्बन्ध दिखाई पड़ता है।

रीति और गुण का सम्बन्ध

सभी आचार्यों द्वारा निरूपित प्रत्येक रीति कुछ गुणों से संयुक्त मानी गई है। अधिकांश आचार्यों ने गुण को रीति का व्यावर्तक तत्त्व माना है। रीति सम्प्रदाय के आचार्यों ने ही नहीं वरन् अन्य सम्प्रदाय-अलंकार, बक्रोक्ति, ध्वनि, रस आदि के आचार्यों ने भी गुण का रीति से सम्बन्ध किसी न किसी रूप में स्वीकार किया है। अलंकारवाद के प्रतिष्ठापक आचार्य भामह ने शास्त्रीय गुणों—ओज, प्रसाद, माधुर्य आदि का रीति से सम्बन्ध प्रत्यक्ष रूप से स्पष्ट शब्दों में विवेचित नहीं किया है, तथापि उनके एक श्लोक से यह विदित होता है कि उनका भी रीति-सिद्धान्त गुणों पर अवलम्बित है। वैदर्भी रीति के सम्बन्ध में उन्होंने कोमलत्व, प्रसन्नत्व, श्रुतिपेशलत्व गुणों[१] का, उल्लेख किया है। भामह की दृष्टि में कोमलत्व, प्रसन्नत्व तथा श्रुतिपेशलत्व गुण वैदर्भी रीति के विशिष्ट

---

१ अपुष्टार्थमबक्रोक्ति प्रसन्नमृजुकोमलम्।
भिन्नं गेयमिवेदं तु केवलं श्रुतिपेशलम्।

गुण हैं। उनकी दृष्टि में सामान्य गुण जिनकी उपस्थिति प्रत्येक रीति में आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है—वे हैं :— पुष्टार्थत्व, वक्रोक्ति, अग्राम्यत्व, अर्थ्यत्व, न्याय्यत्व (औचित्य) अनाकुलत्व (शब्दाडम्बर हीनता)[1]। जिस रीति में कविता के ये सामान्य गुण नहीं रहेंगे वह अपने विशिष्ट गुणों के धारण करने पर भी प्रशंसनीय नहीं हो सकती। रीति-सम्प्रदाय के प्रतिनिधि आचार्य वामन की दृष्टि में काव्य-शोभाकारी सभी धर्म गुण हैं। अलंकार उनमें केवल अतिशयता लाते हैं। वामन विशिष्ट प्रकार के पदों की रचना को रीति कहते हैं। पदों की रचना में विशिष्टता के सम्पादक गुण हैं। ये गुण रीति के आत्म तत्त्व हैं। इस प्रकार आचार्य वामन की दृष्टि में रीति और गुण में शरीर और शरीरी (आत्मा) का सम्बन्ध है। दण्डी भी "इति वैदर्भमार्गस्य प्राणाः दश गुणाः" कह कर आचार्य वामन द्वारा निरूपित रीति और गुण के सम्बन्ध का समर्थन करते हैं। वामन और दण्डी—दोनों गुणों को रीति का व्यावर्तक तत्त्व मानते हैं। वस्तु के विशिष्ट स्वभाव या विषय के विचित्र भाव अथवा धर्म के निरूपण से रीति का स्वभाव निर्मित होता है। दण्डी के समाधि गुण द्वारा विषय या वस्तु का वैचित्र्य या वैशिष्टय निरूपित किया[2] जाता है। इस प्रकार गुण रीति के स्वभाव का निर्माण करता है। रीतिवादी आचार्यों की दृष्टि में कुछ गुण रीति के अनिवार्य तत्त्व हैं। जैसे, प्रसाद गुण; इसके बिना रीति में अर्थवैमल्य नहीं आ सकता। अर्थवैमल्य के बिना रसप्रतीति में बाधा पड़ेगी। इस प्रकार गुण, रीति की साध्य-प्राप्ति का अनिवार्य साधन है।

---

१ अलंकारवदग्राम्यम् अर्थ्यं न्याय्यमनाकुलम्।
गौड़ीयमपि साधीयः वैदर्भीमपि नान्यथा। भामह।

२ अन्यधर्मस्ततोन्यत्र लोकसीमानुरोधिना।
सम्यगाधीयते यत्र स समाधिः स्मृतो यथा। (दण्डी)

वामन के मतानुसार कान्ति गुण के भीतर समग्र रसों का प्रवेश,[१] माधुर्य के भीतर चमत्कारिक कल्पना, उक्ति वैचित्र्य; समाधि में नवीन अर्थ की सूझ, ओज में अर्थ की प्रौढ़ता; श्लेष में शब्द और अर्थ की मैत्री; दण्डी के मतानुसार औदार्य में प्रतिपाद्य अर्थ का प्रकर्ष; अर्थव्यक्ति में स्फुट अर्थ की प्रतीति; माधुर्य में रस-सम्पन्नता; कान्ति में घटना या अर्थ की स्वाभाविकता; समाधि में वस्तु का विशिष्ट धर्म; श्लेष, समता, सौकुमार्य, ओज में विशिष्ट प्रकार के वर्णों या पदों की संघटना रहती है। इस प्रकार गुण अपने भीतर वर्ण्य, घटना, रस, अलंकार, वक्रोक्ति, कल्पना, लक्षणा, नई सूझ आदि को समाविष्ट कर रीति के सम्बन्ध तथा व्याप्ति को बहुत विस्तृत बना देते हैं। आनन्दवर्धन की दृष्टि में रीति गुणों का आश्रय लेकर खड़ी होती है।[२] इस प्रकार उनकी दृष्टि में गुण और रीति में आधार आधेय सम्बन्ध है। कुन्तक रीतियों का सम्बन्ध कवि के व्यक्तित्व से घनिष्ठ रूप में स्थापित करने का प्रयत्न करते हुए भी रीति-निर्माण में गुणों की महत्ता को न भूल सके। कुन्तक के सामान्य गुण—औचित्य और सौभाग्य, जिनका सम्बन्ध प्रत्येक रीति से है—काव्य में मार्ग को अस्तित्व प्रदान करने का श्रेय प्राप्त करते हैं। कुन्तक के सामान्य गुण दो प्रकार के हैं:—औचित्य और सौभाग्य। औचित्य गुण द्वारा आख्यान में औचित्य का समावेश होता है। सभी गुण औचित्य से ही काव्य में सुशोभित लगते हैं। औचित्य के पालन से दोष भी काव्य में गुण का रूप धारण कर लेते हैं। काव्यान्तर्गत नियमों के सन्निवेश का नियामक औचित्य ही है। रस-बन्धोक्त औचित्य सर्वत्र प्रशंसित होता है। औचित्य के अभाव में रसभङ्ग हो जायगा और रीति अपने उद्देश्यमें सफल नहीं हो सकती। इसी औचित्य द्वारा वक्ता के वाच्यार्थ में शोभातिशायी स्वरूप का

१दीप्त रसत्वं कान्तिः (वामन)

२ गुणानाश्रित्यतिष्ठन्तीमाधुर्यादीन् व्यनक्तिसा रसान्। (आनन्दवर्धन)

उन्मीलन होता है। कुन्तक का सौभाग्य गुण काव्य-लावण्य का पोषक अलौकिक चमत्कार उत्पन्न करनेवाला तथा 'काव्यैकजीवित' है। कुन्तक के विशिष्ट गुण-प्रसाद, माधुर्य, लावण्य, आभिजात्य प्रायः वर्ण संघटना से सम्बन्ध रखते हैं। प्रसादगुण में पदों में प्रसिद्धाभिधानत्व; माधुर्य में पृथक-पदत्व तथा मनोहर पद-विन्यास; लावण्य में वर्ण-विन्यास का सौन्दर्य तथा आभिजात्य में श्रुति-पेशलता रहती है। कुन्तक के उपर्युक्त गुण-विवरण से यह स्पष्ट विदित होता है कि उनके सामान्य गुणों का सम्बन्ध रीति के अन्तरङ्ग पक्ष से तथा विशिष्ट गुणों का सम्बन्ध रीति के बहिरंग पक्ष से है।

आगे चल कर आचार्य मम्मट ने गुणों का वास्तविक स्वरूप प्रगट किया और बतलाया कि ये गुण वस्तुतः रस-धर्म हैं; अतः ये रसिक गत हैं। विशिष्ट प्रकार की पद-संघटना या वर्ण-योजना में विशिष्ट प्रकार के गुण बसते हैं—यह हम लक्षणा से ही मान सकते हैं, क्योंकि वे गुण उन वर्णों या पदों से व्यक्त होते हैं; किन्तु उन्हें हम केवल वर्णाश्रित या पदाश्रित नहीं मान सकते। मम्मट की दृष्टि में गुणों का वास्तविक सम्बन्ध चित्तवृत्ति विशेष से है; अतः इनका अधिक निकट तथा घनिष्ठ सम्बन्ध रस से स्थापित होता है। किन्तु इस मत के मानने पर भी रीति का सम्बन्ध गुण से किसी प्रकार विच्छिन्न नहीं किया जा सकता। क्योंकि रीति विशेष, गुण विशेष या चित्तवृत्ति विशेष को उत्पन्न करती है। वस्तुतः इन गुणों से चित्त का विस्तार एवं विकास-द्रुति होती है। इन्हीं गुणों से रज-तम गुण से पृथक सत्वमय अखण्ड आनन्द की अनुभूति होती है। रीति यदि काव्यान्तर्गत चेतना की उपाधि है तो गुण उस चेतना के धर्म-तत्त्व हैं। रीति, रसभावादि से नियंत्रित होती है गुण रसभावादि के धर्म तत्त्व हैं; अतः रीति के नियंत्रण करने में इनका भी महत्त्वपूर्ण स्थान सिद्ध होता है।

रीति और रस का सम्बन्ध

रीति और रस का सम्बन्ध न्यूनाधिक मात्रा में रीति-निरूपक सभी आचार्यों के विवेचन में दिखाई पड़ता है। प्रथम रीति-निरूपक

आचार्य भामह यद्यपि काव्य में अलंकार को ही जीवातु का स्थान देते हैं पर उनके रीति-निरूपण सम्बन्धी श्लोकों से यह विदित होता है कि वे भी रीति और रस का सम्बन्ध अवश्य स्वीकार करते हैं। भामह के 'अर्थ्यत्व' और 'न्याय्यत्व' नामक गुण, जिनकी उपस्थिति प्रत्येक रीति में अनिवार्य है, रस-तत्त्व के ही सूचक हैं। 'पुष्टर्थता' तथा 'अलंकारवता' जो प्रत्येक रीति के परम अनिवार्य गुण हैं उनमें पुस्टार्थता से भी रस या भाव का बोध होता है।

दण्डी भी रीति को शब्द या वर्ण-सौन्दर्य के निष्पादक गुणों पर ही आश्रित नहीं मानते, प्रत्युत अपनी रीति-धारणा में रसों का सन्निवेश भी स्वीकार करते हैं। दण्डी द्वारा निरूपित वैदर्भी रीति में उनके दसों गुण पाये जाते हे।[१] दण्डी का माधुर्य गुण रस-सम्पन्नता से ही आता है। प्रसाद और अर्थव्यक्ति का सम्बन्ध रसाभिव्यक्ति से है। औदार्य, कान्ति तथा समाधि में रस-तत्त्व समाया हुआ है। दण्डी द्वारा निरूपित गौड़ी रीति में इन दसों गुणों का प्रायः विपर्यय हो[२] जाता है। प्रायः का अर्थ है अर्थव्यक्ति, औदार्य तथा समाधि गुण दोनों में उभयनिष्ट रहते हैं। अर्थव्यक्ति, औदार्य तथा समाधि का सम्बन्ध रस से है। इस प्रकार गौड़ी रीति का सम्बन्ध भी रस से जुड़ा हुआ है। उपर्युक्त विवेचन से दण्डी की रीति-धारणा में रीति और रस का सम्बन्ध स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है।

वामन के अर्थ गुण, जो रीति को ऊँची कक्षा पर पहुँचाते हैं जिनके कारण रीति का उन्मेष अधिक मात्रा में होता है, बहुत व्यापक हैं। उनके भीतर रस का सन्निवेश स्पष्ट रूप में दिखाई पड़ता है। कान्ति गुण में तो सभी रसों की दीप्ति रहती है। समाधि गुण में नवीन अर्थ

---

१ इति वैदर्भमार्गस्य प्राणाः दशगुणाः स्मृताः। (दण्डी)

२ एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौड़वर्त्मनि। (दण्डी)

की दृष्टि रहती है अतः इसका सम्बन्ध भी प्रत्येक रस से है। इसी प्रकार ओज तथा माधुर्य गुणों का सम्बन्ध भी रसों से है। इनके द्वारा निरूपित प्रत्येक रीति में कुछ ऐसे गुण वर्तमान हैं जिनका सम्बन्ध रस से अवश्य है[1]। इस प्रकार वामन की रीतिकल्पना में रीति का रस से घनिष्ठ सम्बन्ध दिखाई पड़ता है।

रुद्रट ने रीति का सम्बन्ध रस से स्पष्ट रूप में स्थापित किया है और इन्होंने ही साहित्य शास्त्र में सर्व प्रथम रसौचित्य के अनुसार रीतियों के चुनाव का आदेश प्रत्यक्ष रूप से दिया है[2]। इनके परवर्ती आचार्यों ने इन्हीं के सूत्र को ग्रहण कर रीति और रस के घनिष्ठ सम्बन्ध को और अधिक स्पष्ट किया। इसके पश्चात् आनन्दवर्धन रीतियों का कार्य रस की अभिव्यक्ति करना बतलाते हैं :—"गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन व्यनक्ति-सा रसान्"। दर्पणकार विश्वनाथ रीतियों को रसादि के उन्मीलन में सहायक बतलाते हैं :—"पदसंघटनारीतिः अङ्गसंस्था विशेषवत् रसादीनामुपकर्त्री"। कुन्तक की रीतियों के सामान्य गुण—औचित्य और सौभाग्य जिनकी उपस्थिति प्रत्येक रीति में अनिवार्य है रस से ही सम्बन्ध रखते हैं। औचित्य गुण रीति में रस की रक्षा करता है और सौभाग्य रस की प्रतिष्ठा। इस प्रकार कुन्तक भी रीति और रस के सम्बन्ध का समर्थन करते हैं। वस्तुतः रीति, शब्दार्थ का कलात्मक संश्लेषण करती है; भाव तथा रूप को अनन्यत्व के सूत्र में ग्रथित करती हैं। काव्यगीति में शब्द

---

१ समग्रगुणा वैदर्भी। ओजःकान्तिमती गौड़ीया।
माधुर्य सौकुमार्योपपन्ना पाञ्चाली। (वामन)
वैदर्भी में रस के अनेक गुण है
गौड़ी में कान्ति गुण समग्ररसों से सम्बन्ध रखता है।
पाञ्चाली में माधुर्य गुण रस से युक्त रहता ही है।

२ वैदर्भी-पाञ्चाल्यौ प्रेयसि करुणे भयानकाद्भुतयोः।
लाटीया गौड़ीये रौद्रे कुर्याद यथौचित्यम्॥

की आत्मा—शब्द द्वारा कहा गया भावोपहित अर्थ है। शब्द का प्रयोजन उस भावोपहित अर्थ को अभिव्यक्त करना है। भावोपहित अर्थ का प्रयोजन है उचित उपाधि से संवलित रहना। अर्थ निराकार होता है, रीतिगत कलात्मक शब्दों से साकार रूप धारण कर पाठक के हृदय में रसनिष्पत्ति रूप में परिणत हो जाता है। इस प्रकार रीति में भावना-व्यापार द्वारा काव्य के शरीर तथा शरीरी (रस) दोनों तत्त्वों का कलात्मक संश्लेषण होता है। वस्तुतः रीति का उद्देश्य रस या भाव का संचार करना है। रीति की क्षमता की कसौटी अनुभूति-द्योतन की सफलता है। रीति का विन्यास भी रसौचित्य पर अवलम्बित है। जिस रस की अभिव्यक्ति कवि को अभीष्ट रहती है उसी के अनुसार रीति संचालित होती है। पाठक या रसिक की दृष्टि से रीति रस की उपकारक है, रसास्वादन की द्वार है। कवि की दृष्टि से वह रस या भाव से नियंत्रित होती है। रीति के आत्मतत्त्व गुण हैं—जो वस्तुतः रस धर्म हैं; इस प्रकार रस रीति का आत्म तत्त्व सिद्ध होता है। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया कि रीति और रस में अनेक दृष्टियों से अनेक प्रकार का सम्बन्ध है।

रीति और ध्वनि का सम्बन्ध

रीति का सम्बन्ध काव्य के केवल शब्द-अर्थ से ही नहीं कवि के पूरे व्यक्तित्व से है। ध्वनिकार की दृष्टि में शब्द और अर्थ काव्य शरीर हैं। किसी भी कलात्मक रचना से कर्ता का व्यक्तित्त्व ध्वनि रूप में सदा व्यंजित होता है। यदि रीति का व्यापक अर्थ लेकर उसके भीतर कवि के व्यक्तित्त्व को भी हम समाहित कर लें तो रीति काव्य के शरीर तत्त्व मात्र से ऊपर उठकर उसके आत्मतत्त्व को भी आत्मसात् कर लेगी और इस प्रकार ध्वनि-तत्त्व भी उसके भीतर समाविष्ट हो जायगा। वस्तुतः काव्य में ध्वनि को अस्तित्व प्रदान करने का श्रेय विशिष्ट प्रकार की रीति को ही है क्योंकि रीति से ही काव्य-शरीर खड़ा होता है जिसमें ध्वनि रूपी काव्य की आत्मा विराजमान होती है; अतः शरीर और आत्मा में जो सम्बन्ध है वही सम्बन्ध रीति और ध्वनि में है। इस प्रकार रीति का

सम्बन्ध ध्वनि से स्थिर कोटि का है। ध्वनि के तीन मुख्य भेद होते हैं—रसध्वनि, वस्तु-ध्वनि और अलंकार ध्वनि। रीति का जिस प्रकार का सम्बन्ध रस, वस्तु, अलंकार से पहले स्थापित किया जा चुका है उसी प्रकार का सम्बन्ध रीति का रस, वस्तु तथा अलंकार ध्वनियों से होगा; अतः उसको दुहराने की आवश्कता नहीं।

रीति और औचित्य का सम्बन्ध

संसार में प्रत्येक वस्तु का समाज द्वारा स्वीकृत एक निश्चित स्थान है, वहाँ से च्युत होने पर वह अपनी उपयोगिता, सौन्दर्य आदि को खो देती है। कला लोक का आदर्शात्मक प्रतिबिम्ब है, इसलिए वह भी औचित्य का उल्लंघन नहीं कर सकती। किसी संश्लिष्ट वस्तु के भीतर उसके निर्माणकारी तत्त्वों के पारस्परिक सम्बन्ध, विन्यास आदि की अनुरूपता ही औचित्य है। रीति के ऊपर सर्वप्रथम प्रामाणिक मत देनेवाले आचार्य भामह ने औचित्य (न्याय्यं) तत्त्व को सभी रीतियों के लिए आवश्यक ही नहीं अनिवार्य तत्त्व बतलाया है। दण्डी के प्रसाद, समता, माधुर्य, अर्थव्यक्ति, औदार्य, कान्ति आदि गुणों में औचित्य तत्त्व स्पष्ट रूप में दिखाई पड़ता है। इनके मत से औचित्य के पालन से काव्य के अनेक दोष गुण रूप में परिणत हो जाते हैं। देश, काल, कला, लोक, न्याय, आगम से विरोध, काव्य-दोष माना जाता है; किन्तु कवि-कौशल अर्थात् औचित्य की रक्षा से उपर्युक्त सभी दोष गुण में परिवर्तित हो जाते हैं:—

> विरोधः सकलोऽप्येष कदाचित् कविकौशलात्।
> उत्क्रम्य दोष गणनां गुणवीथीं विगाहते॥

काव्यादर्श।

इसके पश्चात् यशोवर्मा ने अपने नाटक 'रामाभ्युदय' की प्रस्तावना में वचनौचित्य तथा रसौचित्य पर पर्याप्त प्रकाश डाला है—

"औचित्य वचसां प्रकृत्यनुगतं, सर्वत्र पात्रोचिता।
पुष्टिः स्वावसरे रसस्य च, कथामार्गे न चातिक्रमः।।

औचित्य की महत्ता का उल्लेख भरत ने भी अपने नाट्यशास्त्र में पर्याप्त मात्रा में किया है—

लोकसिद्धं भवेत् सिद्धं नाट्यं लोकस्वभावजम्।
तस्मान्नाट्यप्रयोगे तु प्रमाणं लोक इष्यते।।

आचार्य रुद्रट ने अपने ग्रन्थ काव्यालंकार में रस और अलंकार के औचित्य की मार्मिक व्याख्या की है:—

एताः प्रयत्नादधिगम्य सम्यगौचित्यमालोच्य तथार्थसंस्थम्।
मिश्राः कवीन्द्रैरघनाल्पदीर्घाः कार्या मुहुश्चैव गृहीतमुक्ताः।।

इसी प्रकार यमक अलंकार के प्रयोग-काल में भी औचित्य की रक्षा आवश्यक है:—

इतियमकविशेषं सम्यगालोचयद्भिः
सुकविभिरभियुक्तैर्वस्तु चौचित्यविद्भिः।
सुविहित पदभङ्गं सुप्रसिद्धाभिधानं,
तदनु विरचनीयं सर्गबन्धेषु भूम्ना।

आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में औचित्य-तत्त्व के महत्त्व की विस्तृत व्याख्या की है। इनकी दृष्टि में रसभङ्ग का कारण अनौचित्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

अनौचित्यादृते नान्यत् रसभङ्गस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिष्त्परा।।

ध्वन्यालोक।

रस निष्पत्ति का मूल रहस्य औचित्यपूर्ण बन्ध ही है।

रस-निष्पत्ति के प्रसंग में शब्द और अर्थ, वाच्य और वाचक का औचित्य काव्य का सर्वश्रेष्ठ नियम है और इस नियम का पालन करना कवि का मुख्य कर्तव्य:—

वाच्यानां वाचकानां च यदौचित्येन योजनम्
रसादिविषयेणैतत् कर्म मुख्यं महाकवेः।

ध्वन्यालोक।

आनन्दवर्धन की दृष्टि में वृत्ति और रीति एक हैं। उनकी वृत्ति रसादि के अनुकूल उचित शब्दों एवं अर्थों के सामञ्जस्य पर निर्भर है। अर्थात् दूसरे शब्दों में रीति भी रसादि के अनुकूल उचित शब्दों एवं अर्थों के सामञ्जस्य से निर्मित होती है। कुन्तक ने औचित्य की उपस्थिति सभी मार्गों के लिए अनिवार्य रूप से सिद्ध की है। उनके इस औचित्य गुण में उचिताख्यान[1] तथा अभिधेयवस्तु का शोभातिशायी[2] रूप विद्यमान रहता है। कुन्तक के अनुसार प्रतिपादित काव्य में शब्द और अर्थ की विशिष्टता रहती है। इन्हीं को वे शब्द-परमार्थ्य तथा अर्थ-परमार्थ्य के नाम से पुकारते हैं। यह शब्द परमार्थ-शब्दौचित्य है तथा अर्थ परमार्थ अर्थौचित्य। [illegible] प्रकार उन्होंने वृत्यौचित्य[3] तथा अनुप्रासौचित्य[4] की [illegible] भी संकेत किया है। तात्पर्य यह कि कुन्तक भी रीति का [illegible]चित्य से घनिष्ठ सम्बन्ध मानते थे। आचार्य क्षेमेन्द्र [illegible] में औचित्य के बिना गुण, अलंकार काव्य में [illegible] सिद्ध नहीं होते :—" औचित्येन बिना रुचिं प्रतनुते शोभादा[illegible]नागुणाः" औचित्य के बिना काव्य के सारे गुण दोष रूप में परिवर्तित हो जाते हैं :—

---

१ आञ्जसेन स्वभावस्य महत्त्वं येन पोष्यते।
प्रकारेण तदौचित्यं उचिताख्यान जीवितम्॥ व० जीवित

२ यत्र वक्तुः प्रमातुर्वा वाच्यं शोभातिशायिना।
आच्छाद्यते स्वभावेन तदप्यौचित्यमुच्यते॥ (वही)

३ वृत्यौचित्यमनोहारि रसानां परिपोषणाम्।
स्पर्धया विद्यते यत्र, यथास्वमुभयोरपि। (वही)

४ नातिनिर्बन्धविहिता, नाप्यपेशलभूषिता।
पूर्वावृत्तपरित्यागनूतना वर्तनोज्ज्वला॥ (वही)

औचित्यमेकमेकत्र गुणानां राशिरेकत: ।
विषायते गुण ग्राम: औचित्यपरिवर्जित: ।

क्षेमेन्द्र द्वारा निरूपित औचित्य के अनेक भेदों में रीत्यौचित्य के तत्त्व दिखाई पड़ते हैं—जैसे, पद, वाक्य, गुण, अलंकार, रस, क्रिया, कारक, लिङ्ग, वचन, विशेषण, उपसर्ग, निपात, नाम, विचार आदि औचित्य प्रकारों में रीत्यौचित्य के विभिन्न तत्त्व मिलते हैं। वस्तुत: रीत्यन्तर्गत सभी नियमों, तत्त्वों, गुणों का नियामक तत्त्व औचित्य है। यदि औचित्य न हो तो रीति के सभी तत्त्व दोष में परिणत हो जायँगे; उसके सभी अङ्ग छिन्न-भिन्न हो जायँगे; वह आत्महीन एवं चेतनाविहीन हो जायगी। शब्द और अर्थ के औचित्यपूर्ण बन्ध से ही रीति की आत्मा—[illegible] की उत्पत्ति संभव है। रीति में सौन्दर्य-सृष्टि करने का सर्व श्रेय औचित्य तत्त्व [illegible] गुण रीति का अन्तरङ्ग तत्त्व होने पर भी औचित्य-हीन होने पर रीति में प्राण-तत्त्व [illegible] निष्ठा नहीं कर सकता; अलंकार औचित्य विरहित होने पर रीति में श[illegible] सृष्टि नहीं कर सकता; शब्द अर्थौचित्य रहित होने पर रीति के शरीर को [illegible] कर सकता; भाव अनौचित्य युक्त होने पर रस सृष्टि नहीं कर सकता; व[illegible] औचित्य हीन होने पर रीति के गुणों की सृष्टि नहीं कर सकती। [illegible] औचित्य को हम सभी मार्गों का चैतन्य-तत्त्व कहें तो कोई अत्युक्ति नहीं। उपर्युक्त विवेचन का तात्पर्य यह कि रीति का सबसे अधिक व्यापक, सबसे अधिक उपयोगी एवं सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व औचित्य है। उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध हुआ कि रीति और औचित्य में घनिष्ठ सम्बन्ध है।

रीति और वक्रोक्ति का सम्बन्ध

रीति के अनेक तत्त्व तथा अङ्ग वक्रोक्ति के भेदों के अन्तर्गत दिखाई पड़ते हैं :—उदाहरणार्थ,

वर्णविन्यास बक्रता में औचित्यपूर्ण वर्णमैत्री;
वाक्य बक्रता में समस्त अलंकार;
पदपूर्वार्ध या प्रकृति बक्रता में विशेषण, क्रिया, लिङ्ग, भाव, उपचार, रूढ़ि, पर्याय आदि के प्रयोगों का विवेचन;
पदपरार्ध बक्रता या प्रत्यय बक्रता में काल, कारक, संख्या, पुरुष, प्रत्यय आदि की बक्रताओं का विवेचन;
प्रकरण बक्रता में नायक के चरित्र में दीप्ति भरनेवाले प्रसंगों की कल्पना, रस विषयक औचित्य; प्रबन्ध में रसपेशलता;
प्रबन्ध बक्रता में रस की दृष्टि से इतिवृत्त का त्याग; कथा में आद्यन्त

रसस्निग्धता; रम्य रसान्तर से परिसमाप्ति—आदि तत्त्व सिद्ध करते हैं कि दोनों के निर्माणकारी तत्त्वों में बहुत सादृश्य है। दोनों में तत्त्व-सादृश्य के अतिरिक्त स्वरूप सादृश्य भी दिखलाई पड़ता है। दोनों में लोकातिक्रान्त कथन रहता है। दोनों शास्त्रादिप्रसिद्ध शब्दार्थोपनिबन्धव्यतिरेकी, प्रसिद्ध प्रस्थान व्यतिरेकी, दोनों अतिक्रान्तव्यवहारसरणि युक्त होती हैं। दोनों में भावनासमानुप्राणित शब्द और अर्थ का अलौकिक रूप रहता है। दोनों कवि-कर्म-कुशलता या भावना-व्यापार से उत्पन्न होती हैं। दोनों चमत्कार का आश्रय लेकर खड़ी होती हैं। दोनों का चमत्कार सहृदयाह्लादकारी होता है। दोनों प्रतिभा से उत्पन्न होकर, व्युत्पत्ति से विकसित होकर, अभ्यास से सिद्ध होती हैं अर्थात् दोनों का सम्बन्ध कवि के पूरे व्यक्तित्व से है। दोनों का प्रधान सूत्र औचित्य एवं सौभाग्य में निहित है।

दोनों में काव्य का बहिरंग तथा अन्तरंग पक्ष संश्लिष्ट रूप में समाया हुआ है। दोनों का मूल कारण कवि की भावोपहितता तथा सौन्दर्य-सृष्टि का लक्ष्य है। लोकोत्तीर्णता दोनों का स्वभाव है। दोनों की कसौटी अनुभूति द्योतन की क्षमता है। इन्हीं सादृश्यों के कारण अभिनवगुप्त ने रीति (कवि व्यापार) बक्रोक्ति, बन्ध, गुम्फ को पर्यायवाची माना है। उपर्युक्त सादृश्यों के आधार पर हम कह सकते हैं कि रीति और बक्रोक्ति में अन्योन्य सम्बन्ध है।

काव्य में रीति की आवश्यकता

संसार में प्रत्येक कार्य के करने की एक प्रणाली या पद्धति होती है जिसके अनुसार कार्य करने से वह यथेच्छित फल दे सकता है, वह कलात्मक एवं प्रभावशाली प्रतीत हो सकता है अन्यथा वह अस्तव्यस्तता में परिणत हो जायगा; तद्वत् कविता के निर्माण की भी एक रीति होती है। यदि उसका अनुसरण कवि नहीं करेगा तो उसकी रचना न तो कलात्मक होगी न प्रभावशाली और न वह अभीष्ट फल-प्रदान में ही समर्थ होगी। कविता में शब्द और अर्थ दोनों को समान प्रधानता प्राप्त[1] रहती है। दोनों प्रधान ही नहीं रहते वरन् अनन्य[2] भाव में जुड़े भी रहते हैं। अर्थ के साथ शब्द को भी महत्त्वपूर्ण बनाने तथा दोनों को अनन्यभाव में आबद्ध करने का श्रेय रीति तत्त्व को ही है। यदि किसी रचना में शब्द को अर्थ के समान ही महत्त्व न मिले और दोनों आपस में संश्लिष्ट सूत्र में न बँधे हों तो वह रचना कविता न होकर कुछ और ही हो जायगी। अतः कविता को अस्तित्त्व प्रदान करने में रीति का बहुत ही महत्त्व पूर्ण स्थान है। इस प्रकार वह काव्य का आवश्यक ही नहीं वरन् अनिवार्य तत्त्व है।

सामान्य वार्ता या उक्ति से कवि की वाणी में विशेषता या लोकोत्तरता वर्तमान रहती है। वाणी में इस विशेषता या लोकोत्तरता को लाने का श्रेय रीति को है क्योंकि काव्यगत रीति का स्वभाव ही लोकोत्तरता है। यदि कोई कवि रीति का पालन नहीं करता तो उसकी रचना में अर्थ, शब्द, अलंकार, अनुप्रास आदि के रहने पर भी उसकी उक्ति

---

१ शब्द प्राधान्यमाश्रित्य तत्र शास्त्रं पृथग्विदुः
अर्थं तत्त्वेन युक्तं तु वदन्त्याख्यानमेतयोः ॥

२ द्वयोर्गुणत्वे व्यापारप्राधान्ये काव्यगीर्भवेत्। (भट्टनायक)

सुशोभित नहीं हो सकती[1]। इस प्रकार कवि की वाणी में शोभा, वैशिष्ट्य आदि लाने के लिए रीति की महान् आवश्यकता है।

किसी भी वास्तविक कविता में कवि का व्यक्तित्व अभिव्यक्त रहता है। कोई भी कवि इतिवृत्तात्मक पदों के प्रयोग से अपना व्यक्तित्व व्यक्त नहीं कर सकता[2]। व्यक्तित्व विशिष्ट पदों के प्रयोग से ही कविता में प्रतिष्ठित हो सकता है। पदों को वैशिष्ट्य प्रदान करने का गौरव रीति को ही प्राप्त है। इसलिए कविता में रीति की महान् आवश्यकता है। काव्य में भावकत्व भरने का श्रेय रीति को ही है। ज्योंही कविता से रीति तत्त्व निकल जाता है त्योंही वह इतिहास, दर्शन, वार्ता आदि में परिणत हो जाती है, उसकी आस्वाद्यमान शक्ति नष्ट हो जाती है, पाठक या रसिक उससे तादात्म्य स्थापित करने में असमर्थ सिद्ध हो जाते हैं। काव्यास्वादनगत भावकत्व, गुण, अलंकार आदि के समुचित संश्लेषण से ही उत्पन्न होता है। गुण, अलंकार आदि के संश्लेषण का कार्य रीतितत्त्व द्वारा होता है। अतः कविता को सहृदय जनों तक पहुँचाने का श्रेय भी रीति तत्त्व को ही है। यदि कविता में रीति तत्त्व न हो तो वह कविता ही नहीं रहेगी; सहृदय जनों तक पहुँचेगी कैसे ?

कलात्मक अभिव्यक्ति मनुष्य की सौन्दर्योपासक वृत्ति की संतृप्ति की एक साधन है। इसके अनेक प्रकार हैं, जैसे, काव्यकला, चित्रकला, मूर्तिकला, स्थापत्य आदि। काव्यकला के प्रगटीकरण का मुख्य साधन वाणी है। वाणी में मनुष्य की सौन्दर्योपासक वृत्ति को प्रवेश करने के लिए रीति की आवश्यकता पड़ती है। इस रीति के प्रभाव से वक्ता के ऊपर फूल बरसता है और उसके अभाव में पत्थर। यह रीति का ही प्रभाव है कि किसी वक्ता या लेखक के वर्णन को सुनने या पढ़ने के लिए लोग लालायित रहते हैं, सुन या पढ़ कर उसमें रम

---

१ सत्यर्थो सत्सु शब्देषु सति चाक्षरडम्बरे।
शोभते यं बिना नोक्तिः स पन्था इति घुष्यते। (नीलकंठ दीक्षित)

२ इतिवृत्तिमात्र निर्वाहेण नात्मपद लाभः।

जाते हैं, उस वाणी से उनका रागात्मक सम्बन्ध हो जाता है, उसे सदा धारण करने की इच्छा करने लगते हैं। इस प्रकार ऊपर के विवेचन से यह सिद्ध हुआ कि वाणी में रमणीयता, प्रभविष्णुता, रागात्मकता, अमरत्व आदि तत्त्वों को भरने के लिए रीति की महान आवश्यकता है।

रीति का कार्य तथा महत्त्व

सच्चे भाव की विवृत्ति करना कविता का पहला गुण है[१] किन्तु भाव या भावना की सब तरह की अभिव्यक्ति कविता नहीं; वरन रमणीयात्मक अभिव्यक्ति ही कविता है। यही रमणीयता कविता के शब्दों तथा अर्थों में चमत्कार भरती है जिससे कवि की अनुभूति सबके लिए आस्वादनीय बन जाती है। परिणाम स्वरूप काव्य-वर्णित संसार के सुख-दुख, आनन्द-क्लेश आदि का अनुभव हम शुद्ध स्वार्थमुक्त रूप में करते हैं। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि कविता का मुख्य विषय भाव है किन्तु उसे काव्यात्मक बनाने या सर्वहृदय सम्वेद्य बनाने का कार्य रीति का है। इसे और स्पष्ट करना चाहें तो उसे हम कह सकते हैं कि पाठक के हृदय को द्रवीभूत करने की शक्ति कविता में विषय या वस्तु से नहीं आती वरन् उसको अंकित करने की प्रणाली या रीति से आती है[२]। षोड़शवर्षीया रमणी के साथ निशिवासर अन्त:पुर में रहने वाले मिर्जाराजा जयसिंह को काम-नशा से विमुक्त करने के लिए न मालूम कितने साधुओं, पण्डितों, विद्वानों, मंत्रियों, गुरुजनों ने विहारी के दोहे—

> नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास यहि काल।
> अली कली ही सों बँध्यो आगे कौन हवाल॥

---

१. *That it should be an attempt to communicate a genuine emotion is the first condition of poetry.* (Lamborn)

२. *It is not the thing but the saying that moves us, not the matter, but the manner of its presentation* (Rudiments of Criticism)

में अन्तर्निहित विषय से भी अधिक अच्छे तथा गंभीर विषयों से समझाने का प्रयत्न किया होगा; किन्तु वे सब असफल रहे। उनका हृदय विहारी के ही दोहे से क्यों परिवर्तित हुआ और वे अन्तःपुर से बाहर क्यों निकल आये। इसका उत्तर है काव्य रीति। काव्यरीति से उनके ऊपर मार्मिक प्रभाव पड़ा और उनमें मानसिक परिवर्तन हो गया। इससे तात्पर्य यह भी निकला कि कविता के विषय, वर्ण्य या उक्ति को मर्मस्पर्शी या प्रभविष्णु बनाने का कार्य रीति का ही है। अधूरी कादम्बरी को पूर्ण करने के हेतु बाण द्वारा अपने पुत्रों की योग्यता की परीक्षा-हेतु पूछे गये प्रश्न "किमिदमतिष्ठत्यग्रे" के उत्तर रूप में निकली हुई समान विषय की दो विभिन्न प्रकार की उक्तियों (शुष्कोवृक्षस्तिष्ठत्यग्रे) (नीरस तरुरिह विलसति पुरतः) तथा उनसे उत्पन्न प्रभाव से सम्बन्ध रखनेवाली किम्वदन्ती[१] से भी यही बात सिद्ध होती है कि उक्ति का प्रभाव विशिष्ट प्रकार की रीति के कारण पड़ता है। रीति के विषय में यहाँ यह बात स्पष्ट कर देनी आवश्यक है कि रीति, काव्य-रूप या कला-रूप से अभिन्न होते हुए भी ऐसा तत्त्व नहीं है जो कलाकृति में बाहर से जोड़ या घटा दिया जाय क्योंकि वह काव्यात्मा से जुड़े रहने के कारण उससे भी अभिन्न है। क्रोचे भी इसी मत का समर्थन करता हुआ दिखाई पड़ता है। उसकी दृष्टि में कलात्मक सौन्दर्य सहजानुभूति (intuition) की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं; और सहजानुभूति एक प्रकार की व्यक्तित्वनिरूपिणी क्रिया है जो जीवन की प्रगति में योग देती है। इसलिए सभी कलाकृति की सहजानुभूति तथा अभिव्यक्ति को हम अलग नहीं कर करते हैं। किसी कलाकृति में हम उसके उसी कल्पनात्मक रूप की प्रशंसा ...आकार की मानसिक स्थिति निबद्ध रहती है। सहजानु-

---

१ कहा जाता है ... "...तरुरिह विलसति पुरतः" के प्रभाव से शुष्क वृक्ष हरा हो गया।

२. *Beauty is nothing but th...*
is the individualising activ...ssion of intuition and intuition...
lity of life. Expression and ...ch participates in the mobi...
... cannot be seperated.

(क्रोचे)

भूति में भावना अनिवार्य रूप से रहती है।[१] कलाकृति का निर्माण करनेवाली मानसिक स्थिति ही अभिव्यक्ति रूप में काव्य या कला का कल्पनात्मक रूप है और उस मानसिक स्थिति की अनुभूति या ज्ञान ही सहजानुभूति है। एक के साथ ही दूसरे की उत्पत्ति तत्क्षण होती है क्योंकि दोनों अभिन्न वस्तुएँ हैं। इसी को हम भारतीय साहित्य-शास्त्र की पदावली में कह सकते हैं कि भावना-व्यापार की प्रक्रिया में काव्य के शरीर एवं शरीरी तत्त्व संश्लिष्ट हो जाते हैं। भावना-व्यापार अभिनव गुप्त की दृष्टि में रीति का ही पर्याय है। अतएव हम कह सकते हैं कि रीति की प्रक्रिया द्वारा काव्य के भाव तथा रूप-पक्ष संश्लिष्ट हो जाते हैं अर्थात् रीति का एक महत्त्वपूर्ण कार्य है काव्य के कला तथा भाव पक्ष को एक सूत्र में ग्रथित करना।

रीति का लक्ष्य है सौन्दर्य की सृष्टि करना, भाव या रस की अभिव्यक्ति में सहायक वर्णों, पदों, छन्दों की योजना करना। काव्य या कला में वही सौन्दर्य स्वीकृत है जो सौन्दर्य सम्बन्धी भावनाओं को जगा दे[२] या जो रस की अभिव्यक्ति करा सके। काव्य में वे ही भाव सौन्दर्यशाली या रसात्मक माने जायँगे जिनमें मग्न होकर मनुष्य अपनी पृथक सत्ता को भूल सके; जिनके आस्वादन से सहृदय पाठक सुख-दुख, राग-द्वेष, लाभ-हानि आदि द्वन्द्वात्मक भावों का अनुभव स्वार्थमुक्त रूप में कर सके, जिनके प्रभाव से रसिक अपने हृदय में समाज या विश्व के प्रति[३] उचित भावात्मक प्रवृत्तियों को जगी हुई देख सके। कवि की दृष्टि से रीति का कार्य हुआ रस या भाव के अनुकूल या रसोपकारक वर्णों, पदों या छन्दों का संघटन करना पाठक की दृष्टि से रीति का कार्य हुआ उसे रस-द्वार

...native

१. *What we admire in a work of art is the perfec... Intuitions form in which a state of mind has Clothed* (क्रोचे) *are truly such because they represent feel... etic emotion (The*

२. *Beauty is that which arouses in* ...na Moorty *Indian theory of Dhvani) by* ...*right emotional attitude to the*

३. *Art seeks to place man* ... *Universe* (वही)

पहुँचाना। आनन्दवर्धनाचार्य तथा दर्पणकार विश्वनाथ भी इसी मत का समर्थन करते हुए दिखाई पड़ते हैं।[1]

भाषा के दो प्रकार के प्रयोग दिखाई पड़ते हैं—उत्तेजनामूलक एवं सूचनामूलक। भाषा का उत्तेजनामूलक प्रयोग भावों को जगाता है, मन में स्फूर्ति या प्रवृति पैदा करता है, शब्दों में रूढ़िवादी अर्थ के स्थान पर लाक्षणिक या व्यंजक अलौकिक या अभिनव अर्थ भर देता है। भाषा का सूचनामूलक प्रयोग शब्दों में रूढ़िवादी या अभिधेय अर्थ भरता है, वस्तुओं का विवरण, विवेचन, निरूपण या लक्षण उपस्थित करता है। काव्यात्मक भाषा का मुख्य धर्म शब्दों का उत्तेजनामूलक प्रयोग है[2]। रिचर्ड्स भाषा के इस उत्तेजनामूलक प्रयोग को भाषा का भावात्मक प्रयोग कहता है[3]। भाषा का यही भावात्मक प्रयोग काव्य की उक्ति में लोकातिक्रान्त गोचरता का संचार करता है, लोक की सामान्य वार्ता या उक्ति से उसे विशिष्ट रूप प्रदान करता है। कविता अपना प्रभाव पाठकों के हृदय पर अपने वर्ण्य की जीवनानुरूपता से उतना अधिक नहीं डालती जितना अपने अभिव्यक्ति-पक्ष की अलौकिकता या लोकोत्तर चमत्कार से डालती[4] है। रीति-स्वरूप के विवेचन के समय हम पहले यह बता चुके हैं कि भाषा में भावोत्तेजना की शक्ति भरने का कार्य रीति किस प्रकार करती है अतः उसे दुहराने की आवश्यकता नहीं।

---

१ गुणानाश्रित्यतिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा रसान (आनन्दवर्धन)
पद संघटना रीतिः अङ्गसंस्था विशेषवत् उपकर्त्रीरसादीनाम् (विश्वनाथ)

२ *Primary function of poetic language is evocative.*
(Language and Reality) *Page* १६४

३. *There are Two totally distinct uses of language—A statement may be used for the sake of the reference, true or false. But it may also be used for the sake of the effects in emotion and attitude Produced by the reference it occasions. This is the emotive use of language* (I. A. Richards)

४ *Poetry achieves its effects not as much as it conforms to life in every detail, but more because it deviates from life in a highly expressive way.* (*The Indian theory of Dhvani*—K. Krishna Moorty).

तर्क-विज्ञान, व्याकरण, इतिहास आदि वाङ्मयों की भाषा एक नियत अर्थ लेकर चलती है; साहित्य की भाषा—तार्किक या वैयाकरणिक अथवा अपने वाक्यावयवों की व्यवस्थापूर्ण योजना से निकले हुए अर्थ से अधिक अर्थ व्यंजित करती है; वह शब्द के वस्तुगत अर्थ से अधिक व्यक्तिगत अर्थ देती है। साहित्यिक-कला की उच्चता इसी में है कि वह भाषा में सूचकता की शक्ति को अधिकाधिक विस्तृत, आकर्षक एवं सूक्ष्म कर दे, उसके शब्दों में वस्तुनिष्ठता से अधिक व्यक्तिनिष्ठता की शक्ति भर दे। उच्च कवियों की वाणी उनकी नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा के ऐन्द्रजालिक स्पर्श को पाकर ऐसी तरल कान्ति से भर जाती है कि वह शब्दकोष या समाचार पत्रों के सूचनात्मक शब्दों में 'क्षणेक्षणेनवतामुपैति' की प्रत्यग्रता उपस्थित कर देती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि कवि के शब्दों में इस प्रकार की अलौकिक प्रत्यग्रता भरने का कार्य रीति का ही है।

रीति की भाषा वस्तुनिष्ठ से अधिक व्यक्तिनिष्ठ होती है। इसी कारण वह, पदों की पक्तियाँ ही नहीं वरन् शब्दों तथा अक्षरों के विन्यास भी प्रायः समान होने पर कवि के व्यक्तित्व को अलग करने में समर्थ होती है। उदाहरणार्थ नीचे के पद्यों को मिलाइए :—

चन्द्रहास हरु मे परितापं।
रामचन्द्र विरहानल जातं।
(अध्यात्म रामायण)

चन्द्रहास हरु मे परितापं।
रघुपति विरह अनल संजातं।
(तुलसी-रामचरितमानस)

तुलसीदासजी ने 'रामचन्द्र' के स्थान पर 'रघुपति' शब्द तथा 'जातं' के स्थान पर 'संजातं' रख दिया है और केवल इन्हीं दो शब्दों के अन्तर से जो अपने अर्थों में अध्यात्मरामायण के पद्य में प्रयुक्त शब्दों के अर्थों से प्रायः मिलते जुलते हैं। दोनों कवियों के मूल अर्थों में

कोई विशिष्ट अन्तर नहीं दिखाई पड़ता किन्तु दोनों छन्दों में दोनों कवियों का व्यक्तित्व अलग अलग ढंग का दिखाई पड़ता है। अध्यात्मरामायणकार सीता से अपने पति का नाम उच्चारित करवा कर विरहावस्था में उनके पागलपन को दिखाकर अपने कवि के शुद्ध स्वरूप को व्यक्त करता है। तुलसीदास विरहाकुलता के क्षणों में भी सीता से अपने पति का नाम उच्चारित न करवा कर अपने मर्यादावादी स्वरूप को व्यक्त करते हैं। वस्तुतः रीति या शैली कवि के व्यक्तित्व की प्रतिनिधि होती है[1] कवि का जैसा स्वभाव होगा उसके अनुसार उसकी शैली होगी। इसी कारण लेखक के स्वभाव या व्यक्तित्व की भिन्नता के अनुसार शैली के अनेक भेद माने गये हैं। विशिष्ट रीति का पालन करना ही कवि की सच्ची कसौटी मानी गई है। इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध हुआ कि रीति का एक महत्त्वपूर्ण कार्य कवि के व्यक्तित्त्व को अभिव्यक्त करने में समर्थ होना भी है। रीति का महत्त्व काव्य में इतना अधिक है कि उसके बिना शब्द, अर्थ, अलंकार आदि के रहने पर भी उक्ति सुशोभित नहीं हो सकती[2]। रीति का महत्त्व हमारे यहाँ इतना अधिक माना गया है कि दूसरों के पन्थ, रीति या परम्परा पर चलनेवाला कवि अन्धा या मूढ़ माना गया[3] है; इसके विरुद्ध मौलिक रीति का पालन करनेवाला कवि आदर की दृष्टि से देखा गया है[4]। रीति के एक तत्त्व-शब्द का ही केवल सुष्ठु प्रयोग हमारे यहाँ इस लोक तथा स्वर्ग दोनों में अभीष्ट फल-दायक माना गया है[5]। इस धारणा में भी रीति का ही महत्त्व दिखाई पड़ता है।

---

1 *Style is the man*

२. सत्यर्थे सत्सु शब्देषु सति चाक्षरडम्बरे।
शोभते यं बिना नोक्तिः स पंथा इति घुष्यते। (नीलकंठ दीक्षित)

३. अन्धास्ते कवयो येषां पन्थाः क्षुण्णः परैर्भवेत्।
परेषां तु यदाक्रान्तः पन्थास्ते कविकुञ्जराः। (गंगावतरण काव्य)

४. लीक छोड़ तीनों चलैं सायर सूर सपूत।

५. एकोशब्दः सम्यक् ज्ञातः...सुष्ठु प्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुक् भवति।

रीति का स्थान

रीतिवादियों की दृष्टि में काव्य में रीति का स्थान आत्मा सदृश है। साहित्यदर्पणकार आदि रसवादियों की दृष्टि में रीति का स्थान शरीर के समान है। रीति को हम काव्य का केवल शरीर पक्ष नहीं कह सकते क्योंकि वह पदसंघटना मात्र नहीं है। वह बक्रोक्ति या रीति जो कवि-व्यापार से उत्पन्न नहीं होती वह शरीर पक्ष का स्थान ले सकती है किन्तु कवि-व्यापार जन्य रीति में काव्य का केवल शरीर पक्ष ही नहीं रहता। काव्यगत पद जो काव्य में प्रयुक्त होने के पूर्व शरीर रूप कहे जा सकते थे वे अब भावना-व्यापार जन्य रीति में पड़ कर काव्य के शरीरी तत्त्व से संश्लिष्ट हो जाते हैं। कवि के भावना-व्यापार की प्रक्रिया में पड़ कर शब्द-अर्थ दोनों एक सूत्र में ग्रथित हो जाते हैं; काव्य के भाव तथा रूप पक्ष संश्लिष्ट हो जाते हैं। भाव पक्ष तथा रूप पक्ष को अलग करने पर न तो काव्य रहेगा न रीति। अतः रीति को काव्य का केवल शरीर-पक्ष कहना ठीक नहीं। काव्य में रीति का स्थान आत्मा सदृश भी हम नहीं मान सकते। क्योंकि काव्य में आत्मा का स्थान रस या भाव ही ले सकता है और कोई तत्त्व नहीं। सामान्य जीवन में भी किसी कार्य करने के ढंग में कर्ता की सचाई के कारण उसका तन ही नहीं मन भी समाया रहता है, उस कार्य करने की प्रणाली या रीति से उसकी चेतना, विचार, मानसिक भावना आदि का प्रतिबिम्ब भी दिखाई दे सकता है किन्तु उसको उस कर्ता की आत्मा तो हम कभी नहीं मान सकते। माना कि रीति से काव्य का आत्म तत्त्व उसके शरीर तत्त्व से ग्रथित हो जाता है, और काव्य के आत्म तत्त्व को शरीर तत्त्व से अलग कर देने पर रीति का अस्तित्व भी नहीं रह जाता। रीति, रस या भाव को व्यक्त करती है; काव्य में सौन्दर्य सृष्टि करती है; काव्य के सभी तत्त्वों तथा नियमों में औचित्य पूर्ण सम्बन्ध की स्थापना करती है अर्थात् काव्य में कार्य रूप से उसकी अनिवार्य महत्ता है फिर भी उसे काव्य का आत्मतत्त्व कहना किसी भी प्रकार उचित नहीं प्रतीत होता। अधिक से अधिक उसे हम काव्य का

कारण ही नहीं करण भी मान सकते हैं जो काव्य की आत्मा की अभिव्यक्ति के लिए आवश्यक ही नहीं वरन् अनिवार्य साधन है।

प्रयोग-विधि

रीति के स्वरूप, अन्य तत्त्वों से उसके सम्बन्ध, कार्य, महत्त्व, स्थान आदि को देखते हुए उसकी प्रयोग-विधि के लिए निम्नाङ्कित बातें निष्कर्ष रूप में कही जा सकती हैं :—रीति को प्रतिभा जन्य होना चाहिए, प्रयत्न प्रसूत नहीं। कवि के भावाकुल क्षणों में रीति का उद्भव न्याय संगत माना जाता है अर्थात् कवि की प्रतिभा से उसे उत्पन्न होना चाहिए बुद्धि से नहीं। भावना-व्यापार से उसकी सृष्टि होनी चाहिए मस्तिष्क-व्यापार से नहीं। रीति का विकास व्युत्पत्ति से एवं उसकी सिद्धि अभ्यास से ही संभव है। जो कवि व्युत्पत्ति एवं अभ्यास से शून्य है वह रीति की प्रयोग-विधि में निष्णात् नहीं हो सकता। रीति की प्रयोगविधि की सफलता यही है कि उसे कवि के व्यक्तित्व के अनुसार होना चाहिए जिसे आनन्दवर्धन ने वक्तृ-औचित्य कहा है; अर्थात् उसे कवि के स्वभाव या व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति में पूर्ण सफल होना चाहिए।

काव्य रीति का दूसरा नियामक तत्त्व रसौचित्य है। कवि जिस रस की अभिव्यक्ति करने जा रहा हो उसके अनुसार ही वर्णों, शब्दों, बन्धों, छन्दों, अर्थों का प्रयोग होना चाहिए। क्षेमेन्द्र की दृष्टि में रस का प्राण तत्त्व औचित्य है। अतः रस की रक्षा के लिए रीति में औचित्य की रक्षा होनी चाहिए; अर्थात् रीति में काव्य के सामान्य तथा विशिष्ट नियमों एवं तत्त्वों में औचित्यपूर्ण सम्बन्ध की रक्षा होनी चाहिए। रीति में अलंकार का प्रयोग प्रतिभा के अनुग्रह से स्वाभाविक रूप में होना चाहिए। वह रीति में प्रयत्न-प्रसूत रूप में बाहर से न जड़ा हो।

काव्य के स्वरूप के अनुसार रीति का प्रयोग होना चाहिए। गद्य से पद्य में कवि की रीति में जिस प्रकार का अन्तर पड़ जाता है उसी प्रकार महाकाव्य, प्रगीत काव्य, उपन्यास, कहानी, नाटक, निबन्ध—सब में

रीति का स्वरूप परिवर्तित हो जाता है। आनन्दवर्धन की दृष्टि में भी रीति का उचित-विधान काव्य के विशिष्ट स्वरूप की अपेक्षा रखता है[१]। सारांश रूप में यह कहा जा सकता है काव्य में रीति का वही प्रयोग उचित माना जायगा जो काव्य-सौन्दर्य सृष्टि में समर्थ हो।

रीतिवादी तथा अन्य आचार्यों के रीति-सम्बन्धी विचार

यद्यपि रीति सम्प्रदाय के प्रतिनिधि आचार्य दण्डी और वामन-दो ही हैं किन्तु रीति तत्त्व का आनुषंगिक उल्लेख प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में कई आचार्यों ने किया है; अतएव रीतिसम्प्रदाय तथा रीति-तत्त्व पर विचार करते समय उनके मत को जान लेना अप्रासंगिक विषय न होगा। रीति-तत्त्व का वर्णन या विवेचन सर्वप्रथम आचार्य भामह ने कुछ व्यवस्थित ढंग से किया है। भामह के पूर्व रीति-तत्त्व का बीज आचार्य भरत के प्रवृत्तियों[२] तथा वृत्तियों के विवेचन में मिलता है। अतः प्रवृत्ति तथा वृत्ति का अर्थ जानना आवश्यक है। प्रवृत्ति वह है जो देश या प्रान्त विशेष के वेश, भूषा, आचार, भाषा आदि की विशिष्ट पद्धति को व्यक्त करे।

"पृथिव्यां नानादेशवेशभाषाचारवार्ताः ख्यापयंतीति प्रवृत्तिः"

नाट्यशास्त्र (पृ० १६५)

अभिनय में वाणी, मन, शरीर की चेष्टा के व्यापार का नाम है—वृत्ति।

वाङ् मनःकायचेष्टा व्यापार एव वृत्तिः (अभिनवगुप्त)

भरत ने नाट्यशास्त्र में चार प्रकार की प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है:— आवन्ती (भारत के पश्चिमी भाग की प्रवृत्ति) दाक्षिणात्या (दक्षिण भारत की प्रवृत्ति) औड्रमागधी (पूर्वी भारत की प्रवृत्ति) पाञ्चाली (मध्यदेश की प्रवृत्ति) उपर्युक्त प्रवृत्तियों के नामकरण में प्रादेशिकता का सिद्धान्त स्पष्ट दिखाई पड़ता है। इससे यह प्रतीत होता है कि रीतियों

---

१ विषयाश्रयमप्यन्यद् औचित्यं तां नियच्छति
काव्यप्रभेदाश्रयतः स्थिता भेदवती हि सा। (ध्वन्यालोक)

२. *Concept of Pravritti in manner is Riti in speech in Literature.*
(Same Concepts of Alankar Shastra)

के प्रादेशिक नामकरण का सिद्धान्त रीतिवादी आचार्यों ने भरत के नाट्य-शास्त्र से लिया होगा। इसके पश्चात् बाण के हर्षचरित में रीतियों का प्रासंगिक उल्लेख मिलता है। यद्यपि यह उल्लेख साहित्यशास्त्रीय नहीं है किन्तु फिर भी इसका एक वास्तविक महत्त्व है; इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। अतः वाणभट्ट के रीति सम्बन्धी श्लोक को उद्धृत करना यहाँ आवश्यक प्रतीत होता है—

श्लेषप्रायमुदीच्येषु, प्रतीच्येष्वर्थमात्रकम्।
उत्प्रेक्षा दाक्षिणात्येषु, गौडेष्वक्षरडम्बरः।
नवोऽर्थो, जातिरग्राम्याः श्लेषोऽक्लिष्टः स्फुटो रसः।
विकटाक्षरबन्धश्च, कृत्स्नमेकत्र दुर्लभम् (हर्षचरित)

उपर्युक्त उद्धरण से यही विदित होता है कि बाणभट्ट के समय में काव्य-रीतियों का प्रादेशिक नाम भली भाँति प्रचलित हो गया था। बाणभट्ट की दूसरी बात अधिक ध्यान देने योग्य है :—इन शैलियों में से किसी एक का प्रयोग पूरे काव्य में करना उतना श्लाघनीय नहीं जितना इनका एकत्र प्रयोग। आवश्कतानुसार इन सभी शैलियों का प्रयोग किसी काव्य को श्रेष्ठ बनाता है।

रीति का विवेचन आचार्य भामह से व्यवस्थित रूप में मिलता है। यद्यपि आचार्य भामह अलंकारवाद के अनुयायी थे तद्यपि उनका रीति-सम्बन्धी दृष्टिकोण जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से उनके काव्यालंकार में मिलता है वह बहुत ही वैज्ञानिक, सन्तुलित तथा परम्परावादिता से मुक्त है। "गौड़ीयमपि साधीयः वैदर्भीमपि चानन्यथा" से विदित होता है कि भामह के समय में वैदर्भी वाद तथा गौड़ीवाद जोरों से चल रहा था। गतानुगतिक दृष्टि से वैदर्भी मार्ग श्रेष्ठ समझा जाता था एवं गौड़ी मार्ग कनिष्ठ। भामह को वैदर्भी और गौड़ी का परम्परागत भेद-स्वीकृत नहीं था। वैदर्भी रीति में लिखा काव्य श्रेष्ठ और गौड़ी में लिखा काव्य कनिष्ठ कोटिका होगा यह उन्हें मान्य नहीं था। उनके मत से वैदर्भी का परम्परागत स्वरूप सत्काव्य परीक्षा की कसौटी नहीं बन

सकता[१] । वैदर्भी या गौड़ी में कौन कौन से विशिष्ट गुण होने चाहिए यह उन्होंने नहीं बताया । दोनों में कौन कौन सामान्य गुण होते हैं और कौन कौन दोष दोनों में नहीं होना चाहिए यह उन्होंने प्रत्यक्ष रूप में स्पष्टत: कहा है । वैदर्भी तथा गौड़ी के सामान्य गुण अर्थात् उभयनिष्ठगुण अलंकारवत्ता, अग्राम्यत्त्व, न्याय्यम् (औचित्यं) अर्थ्यं (पुष्टार्थता) अनाकुलता (शब्दाडम्बराभाव) हैं इन गुणों की उपस्थिति जिस काव्य में रहेगी वही काव्य श्रेष्ठ कहा जायगा, चाहे वह किसी भी शैली में लिखा गया हो । अर्थात् किसी सत्काव्य की कसौटी वैदर्भी रीति नहीं वरन् काव्य के उपयुक्त गुण हैं । अत: इन्हीं से काव्य की परीक्षा होनी चाहिए । इन गुणों से सम्पन्न गौड़ी काव्य भी श्रेष्ठ हो सकता है, किन्तु इन गुणों से रहित वैदर्भी काव्य भी श्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता । भामह की दृष्टि में निम्नाङ्कित दोषों के रहने पर किसी भी शैली में लिखा हुआ काव्य बहुत निम्नकोटि का हो जाता है:—अबक्रोक्ति, अपुष्टार्थता, ग्राम्यत्व, शब्दाडम्बरत्व, अनौचित्य । यदि किसी काव्य में प्रसन्नता, ऋजुता, कोमलता आदि गुण है किन्तु पुष्टार्थता तथा बक्रोक्ति का अभाव है तो वह अच्छा नहीं हो सकता; श्रुति मनोहर भले ही प्रतीत हो । इससे हम कल्पना कर सकते हैं कि भामह की दृष्टि में वैदर्भी में सामान्य गुण के अतिरिक्त प्रसन्नता, ऋजुता, कोमलता, श्रुतिपेशलता आदि विशिष्ट गुण होने चाहिए :— अतिबक्रता, अर्थ की अपुष्टता, समासबहुलता आदि दोष नहीं होना चाहिए । भामह के रीति सम्बन्धी उपयुक्त विचारों से यह स्पष्ट विदित होता है कि वे रीति सम्बन्धी प्रादेशिक वाद को नहीं मानते । उनके द्वारा विवेचित दोनों रीतियाँ देशगत सीमाओं में बंधी हुई नहीं प्रतीत होतीं । उनकी रीति सम्बन्धी धारणा काव्य के अन्तरङ्ग

---

१. अपुष्टार्थमबक्रोक्ति प्रसन्नमृजु कोमलम् ।
भिन्नं गेयमिवेदं (वैदर्भं) तु केवलं श्रुतिपेशलम । (भामह)
वैदर्भी का परम्परागत लक्षण प्रसन्नत्व (प्रसाद), ऋजुत्व (असमस्तपदत्वा) कोमलत्व, श्रुतिपेशलत्व जान पड़ता है ।

तथा बहिरंग दोनों पक्षों को स्पर्श करती है। भामह के रीति-साधनों का क्षेत्र दण्डी, वामन, भोज आदि के निश्चित गुणों की परिमित सीमा से बढ़ कर है। वे केवल साहित्य के शास्त्रीय गुणों को ही रीति-नियामक तत्त्व नहीं मानते। इनके रीति नियामक तत्त्व बहुत विशद हैं। काव्य शैली में अलंकारवत्ता, अर्थ पुष्टि न्य्यायत्व, अग्राम्यत्व, अनाकुलत्व को महत्त्व देने का अर्थ है कि रीति, काव्य के बाह्य गुणों पर ही अवलम्बित नहीं है, वह काव्य के अन्तरंग गुणों की भी अपेक्षा रखती हैं। भामह द्वारा प्रतिपादित काव्य शैली के ये सामान्य गुण किसी भी काव्य के सत्स्वरूप के निष्पादन में सहायक हो सकते हैं। निश्चय ही इन साधनों के न रहने पर काव्यत्व को बहुत हानि पहुँचती है।
भामह के श्लोक—"अपुष्टार्थमबक्रोक्ति प्रसन्नमृजु कोमलम्।
भिन्नं गेयमिवेदं तु केवलं श्रुतिपेशलम्।

से विदित होता है कि उनके समय में वैदर्भी की निम्नाङ्कित विशेषतायें कुछ आलोचकों में प्रचलित थी :—अर्थ की अनतिपुष्टता, अनतिबक्रोक्ति, प्रसादत्व, ऋजुता, कोमलत्व और श्रुतिपेशलत्व। इसीलिए भामह ने वैदर्भी की इन विशेषताओं पर आक्रमण किया और स्पष्ट रूप से कहा कि इन विशेषताओं के रहने पर भी काव्य बक्रोक्ति तथा पुस्टार्थत्व के अभाव में केवल संगीत-तुल्य श्रुतिमधुर होगा। इसी प्रकार भामह के दूसरे श्लोक

"अलंकारवदग्राम्यम् अर्थ्यं न्याऽयमनाकुलम्।
गौड़ीयमपि साधीयः वैदर्भीमपिचानन्यथा।"

से हम अनुमान कर सकते हैं कि उनके समय में गौड़ी रीति की निम्नाङ्कित विशेषतायें कुछ साहित्यक आलोचकों में अत्यन्त मान्य हो गई थीं। शब्दालंकार और अर्थालंकार की अधिकता, विचार या अर्थ की न्यूनता, अत्युक्ति की अतिरेकता में औचित्य या न्याय्य का उल्लंघन, शब्दाडम्बरत्व, समास की बहुलता। भामह की रीति सम्बन्धी धारणा वैज्ञानिक होते हुए भी आगे चल कर प्रचलित नहीं हो सकी। दण्डी, वामन, रूद्रट, भोज आदि ने इसका घोर खण्डन किया। बहुत दिनों के पश्चात्

कुन्तक ने आचार्य भामह के निर्देशित रीति-तत्त्व को अपेक्षाकृत अधिक वैज्ञानिक भूमि पर प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया।

दण्डी

दण्डी ने रीति के स्थान पर मार्ग शब्द का प्रयोग किया है। इनकी दृष्टि में प्रत्येक कवि के साथ रीति का परिवर्तन हो जाता है[१]। जो कवि किसी अन्य कवि की रीति का अनुसरण करता है या मौलिक रीति के उद्भावन में असमर्थ है वह अन्धा[२] कवि है। इस प्रकार प्रत्येक कवि के साथ भिन्न शैली होने के कारण उसके अनेक भेद हैं, सरस्वती भी उन अनन्त भेदों का नामकरण तथा विवेचन नहीं कर सकती।[३] उन अनन्त भेदों में वाणी के दो स्पष्ट पृथक भेद दिखाई पड़ते[४] हैं :—वैदर्भी तथा गौड़ी। दण्डी प्रत्येक कवि के साथ रीति-परिवर्तन के तत्त्व को मानते हुए भी उनका पार्थक्य, गुण के अनुसार करके अपने प्रतिपादित सिद्धान्त का निर्वाह नहीं कर पाते। इस त्रुटि का मुख्य कारण यही जान पड़ता है कि रीति-विवेचन के समय उनकी दृष्टि रसिकों पर ही अधिक केन्द्रित थी; कवि के व्यक्तित्त्व की ओर दृष्टि कम थी। कुछ समीक्षकों की दृष्टि में रीति सम्प्रदाय के आचार्यों का रीति-विवेचन काव्य के बहिरंग तत्त्वों से ही सम्बन्ध रखता है। यह मत भी नितान्त

---

१ इतिमार्गद्वयं भिन्नं तत्स्वरूप निरूपणात्।
तद्भेदास्तु न शक्यन्ते वक्तुं प्रतिकविस्थितः॥ दण्डी

२ किमन्धस्याधिकारोऽस्ति रूपभेदोपलब्धिषु (काव्यादर्श) (दण्डी)
अन्धास्ते कवयो येषां पन्थाः क्षुण्णः परैर्भवेत।
परेषां तु यदाक्रान्तः पन्थास्ते कविकुञ्जराः। (गंगावतरण काव्य)

३ तथापि न तदाख्यातुं सरस्वत्यापि शक्यते। (वही)

४ अस्त्यनेको गिरांमार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम्।
तत्र वैदर्भगौडीयौ वर्ण्येते प्रस्फुटान्तरौ। (वही)
इति मार्गद्वयंभिन्न : तत्स्वरूप निरूपणात्।

भ्रमपूर्ण है। क्योंकि दण्डी स्पष्ट कहते हैं कि प्रत्येक कवि के साथ रीति अलग अलग रूप धारण कर लेती है। अपने दूसरे श्लोक में इन्होंने इस तथ्य को और अधिक स्पष्ट कर दिया है।

इक्षुक्षीरगुड़ादीनां माधुर्यस्यान्तरं महत्।
तथापि न तदाख्यातुं सरस्वत्यापि शक्यते।

जिस प्रकार माधुर्य का भेद पदार्थ-भिन्नता के अनुसार अर्थात् दूध, गुड़, ईख, चीनी, मिश्री आदि के साथ नाना प्रकार का हो जाता है तद्वत् एक ही वैदर्भी के उपासक कवियों की शैलियों में भी अन्तर हो सकता है। दण्डी की "पौरस्त्याः काव्यपद्धतिः" "दाक्षिणात्याः प्रयुज्यते" पदावलियों को देखने से यह प्रतीत होता है कि उनके समय में रीतियों का अध्ययन प्रादेशिक भूमिका की भित्ति पर किया जाता था। रीतियों का प्रादेशिक महत्त्व पण्डित मण्डली में प्रचलित था। आचार्य दण्डी भी रीतियों का प्रादेशिक महत्त्व किसी न किसी रूप में मानते थे अन्यथा उन्हें रीति के दो से अधिक स्पष्ट भेद दिखाई पड़ते अथवा वे रीति-भूमिका पर प्रतिष्ठित रीतिभेदों का स्पष्ट खण्डन करते। रीति, कवि की जीवन-निर्मिति के अखिल तत्त्वों से अथवा उसकी काव्य-निर्मिति-कालीन मनस्थिति के तत्त्वों से ही बनती है। अतः उसका विभाजन भी इन्हीं तत्त्वों के आधार पर होना चाहिए, किन्तु रीति समुदाय के प्रतिनिधि आचार्य द्वय में से किसी ने भी इन तत्त्वों के आधार पर रीति का विभाजन, विश्लेषण या विवेचन नहीं किया। माना कि दण्डी के दस गुणों की धारणा, जिनको वे रीतियों के विभाजन का मूल आधार या उनका (रीतियोंका) प्राण तत्त्व मानते हैं बहुत व्यापक है। उनके गुण केवल काव्य के बाह्य उपकरणों—विशिष्ट पद, अलंकार आदि को ही अपने अन्तर्गत समाहित नहीं करते वरन् काव्य के अन्तरङ्ग तत्त्वों—रस, लक्षणा, व्यंजना, वस्तु-तत्त्वों आदि को भी स्पर्श करते हैं;किन्तु इन गुणों या उनके तत्त्वों को एक संश्लिष्ट सूत्र में बाँधने वाला तत्त्व—कवि का व्यक्तित्व है जिससे काव्य में भावकत्व की प्रतिष्ठा होती है; अतः

रीति में प्राणत्व-स्थापना की शक्ति कवि के व्यक्ति-तत्त्व में है न कि किन्हीं विशिष्ट गुणों में। किन्तु दण्डी या वामन किसी ने भी कवि के व्यक्तित्व का विवेचन रीति के प्राण-तत्त्व के रूप में नहीं किया। दण्डी के रीति और गुण के अन्योन्य सम्बन्ध को स्वीकार करते हुए भी केवल गुण को ही रीति का आत्मतत्त्व मानना रीति के स्वरूप को संकुचित कर देना है। वस्तुतः दण्डी द्वारा विवेचित शैली के ये दस गुण काव्य के सामान्य गुण हैं। इनको केवल शैली का ही गुण मान लेना रीति को ही काव्यत्व घोषित कर देना है; और रीति में ही काव्यत्व को देखना काव्य की सीमा तथा स्वरूप को संकुचित करने का प्रयत्न करना है।

दण्डी की रीति सम्बन्धी धारणा को भलीभाँति समझने के लिए उनके वैदर्भी तथा गौड़ी मार्गों का भेद जानना आवश्यक है। वैदर्भी में श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओज, कान्ति, समाधि—सभी गुण वर्तमान रहते हैं। ये ही दसों गुण वैदर्भी में प्राण की प्रतिष्ठा करते हैं।[1] गौड़ी मार्ग में इन गुणों का प्रायः विपर्यय रहता[2] है। प्रायः शब्द यहाँ बहुत सार्थक है; अर्थात् कुछ गुण दोनों में उभयनिष्ठ रहते हैं; जैसे—अग्राम्य, अर्थव्यक्ति, औदार्य, समाधि, ओज; क्योंकि इनके बिना काव्य की सत्ता ही संभव नहीं। वैदर्भी मार्ग के अनुयायी कवियों का उद्देश्य जगत्कान्त काव्य का निर्माण करना होता है। वे कविता को सुरसरी के समान सर्वजनसुलभ बनाना चाहते हैं। अतः इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए वे लोग अपनी रचना में प्रतीतिसुलभ रूढ़शब्द-योजना करते हैं। गौड़ीरीति के अनुयायी कवियों का उद्देश्य पंडित मण्डली में प्रशंसित होनेवाला व्युत्पन्न एवं क्लिष्ट काव्य की रचना करना होता है। अतः इस प्रयोजन की सिद्धि के लिए वे कवि अपने काव्यों में व्युत्पन्नतादर्शक अनतिरूढ़

---

१ इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दश गुणाः स्मृताः।

२ एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौड़वर्त्मनि। काव्यादर्श

शब्द-योजना करते हैं। वैदर्भीमार्गावलम्बी कवियों की रचना में विशिष्ट पद अनुभूति के प्रवाह-प्रवेग से आते हैं। अतः उनकी योजना में स्वाभाविकता दिखाई पड़ती है; गौड़ी मार्गावलम्बी कवियों की रचना में विशिष्ट पद प्रायः पाण्डित्य-प्रदर्शन के लिए आते हैं, अतः उनकी पद योजना में कृत्रिमता की झलक रहती है। यद्यपि दण्डी की दृष्टि से वैदर्भी रीति का अनुगमन दाक्षिणात्य करते थे तथा गौड़ी का अवलम्बन पौरस्त्य; किन्तु व्यापक दृष्टि से विचार किया जाय तो यह प्रतीत होगा कि वैदर्भी रीति का प्रयोग सभी स्वाभाविक कवियों के लिए संभव है एवं गौड़ी का अवलम्बन सभी पंडित कवियों के लिए। वैदर्भी अपने श्रुत्यनुप्रासजन्य निसर्गसुन्दर माधुर्य, कोमलकान्त पदावली-जन्य सौकुमार्य तथा प्रतीतिसुलभता जन्य प्रसाद गुणा से सबको मोहित कर लेती है; गौड़ी अपनी व्युत्पन्नता के वैभव से केवल पंडितों की बुद्धि का विलास करती है। वैदर्भी में हृदय या भाव तत्त्व का प्राधान्य रहता है अतः वह हृदय को स्पर्श करती है; गौडी में बुद्धि तत्त्व का आधिक्य रहता है अतएव वह अपनी दीप्ति से बुद्धि को चमत्कृत करती है। वैदर्भी प्रायः कोमल भावनाओं से परिपुष्ट रहती है तो गौड़ी परुष भावनाओं से। वैदर्भी मार्ग में वर्णन में नावीन्य उत्पन्न करने के लिए लौकिक मर्यादा का अतिक्रमण कहीं नहीं होता; गौड़ी में अत्युक्ति की अधिकता के कारण लौकिक मर्यादा का अतिक्रमण प्रायः दिखाई पड़ता है। वैदर्भी काव्य में बन्धगुरुता रहती है, तो गौड़ी में बन्ध शैथिल्य। गौड़ी काव्य में यह बन्ध शैथिल्य कवियों की अनुप्रासप्रियता, शब्दालंकार की बहुलता एवं अर्थालङ्कार की आकुलता के कारण उत्पन्न होता है। वैदर्भी मार्ग में सर्वत्र सरस, मधुर, कोमल पदावली, सुलभोच्चारताहेतुक सौकुमार्य रहता है; अतः उसकी रचना में समता विद्यमान रहती है; गौड़ी में कहीं कठिन, कहीं सरल, कहीं मृदुल, कहीं कठोर वर्ण रहते हैं अतएव उसके बन्ध में विषमता पाई जाती है। वैदर्भी में अल्प समास या समास का अनाकुलत्त्व रहता है तो गौड़ी में दीर्घ समास या समास का आकुलत्त्व पाया जाता है। वैदर्भी मार्ग की आत्मा कान्ति गुण है तो गौड़ी की

आत्मा है कविप्रौढ़ोक्तिनिर्मित अत्युक्ति। वैदर्भी में अनुभूति तत्त्व की प्रधानता रहती है तो गौड़ी में कल्पना एवं चिन्तन तत्त्व की।

वामन

वामन की दृष्टि में रीति विशिष्ट प्रकार की पद रचना है पद रचना में वैशिष्ट्य गुणों के द्वारा आता[1] है। ये गुण दो प्रकार के होते हैं—शब्द गुण और अर्थ गुण। यहाँ ध्यान रखने की बात यह है कि गुणों के दो भेद करनेवाले सबसे प्रथम आचार्य वामन ही हैं, शब्द गुण बन्ध के गुण हैं। इनसे रीति का उन्मेष स्वल्प मात्रा में होता है। इनके अर्थ-गुणों की धारणा बहुत व्यापक है, इनमें अलंकार, रस, ध्वनि आदि काव्य-तत्त्वों का भी समावेश हो जाता है। अर्थ गुण, शब्द गुण से श्रेष्ठ हैं। ये काव्य के अन्तरङ्ग तत्त्वों को अपने भीतर समाहित करते हैं। अर्थ गुणों से रीति काव्यत्व की ऊँची कक्षा पर पहुँचती है। वामन का रीति-विभाजन प्रादेशिकता के आधार पर न होकर इन्हीं गुणों के आधार पर हुआ है। उन्होंने रीतियों का वर्गीकरण दण्डी के समान गुणों के विपर्यय के आधार पर नहीं वरन् गुणों की न्यूनाधिक संख्या के आधार पर किया है। समग्र गुणों से वैदर्भी, ओज तथा कान्ति से गौड़ी, माधुर्य तथा सौकुमार्य से पाञ्चाली युक्त रहती है[2]। इस प्रकार वामन द्वारा निरूपित रीति की धारणा में, अलंकार रस, बक्रोक्ति, बन्धगुण, ध्वनि, कल्पना, चिन्तन-अनुभूति आदि प्रमुख काव्य तत्त्व आ जाते हैं। किन्तु रीति में कवि के व्यक्ति-तत्त्व का समावेश, या विवेचन जितनी मात्रा में होना चाहिए उतनी मात्रा में वामन के रीति-विवेचन में नहीं दिखाई पड़ता। यत्र तत्र एकाध उक्तियाँ उनके रीति विवेचन में या एकाधपंक्ति उनके काव्यालंकार सूत्र में अवश्य मिलती हैं जिनसे हम यह तात्पर्य निकाल

१. विशिष्टापदरचना रीतिः। विशेषोगुणात्मा। (वामन)

२. समग्रगुणावैदर्भी। ओजःकान्तिमती गौड़ीया। माधुर्यसौकुमार्योपपन्ना पाञ्चाली। (वामन)

सकते हैं कि वे रीति का सम्बन्ध किसी न किसी प्रकार कवि के व्यक्तित्त्व से मानते हैं यह दूसरी बात है कि वे उस तत्त्व का पूर्ण निर्वाह या समर्थन अपने विवेचन में नहीं कर सके। वामन की दृष्टि में रीति केवल विशिष्ट प्रकार की लेखन-पद्धति ही नहीं व्यक्त करती—वह कवि की कलागत विदग्धता ही नहीं बताती, वह कवि के संस्कार को भी द्योतित करती है :—"कवित्वबीजं जन्मान्तरागतसंस्कार विशेषः कश्चित्" (वामन) वामन की सम्मति में कवित्व-बीज कवि के जन्मान्तरागत संस्कार में निहित है; और रीति, कवित्व का आत्म-तत्त्व[1] है। अतः इस प्रकार रीति का कवि के संस्कार से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हुआ। कवि का संस्कार उसके व्यक्तित्व का एक महत्त्वपूर्ण अंश है इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। इसीलिए आगे चलकर वामन ने यह स्पष्ट रूप से कह दिया कि रीति पढ़ाने[2] सिखाने या अध्ययन करने अथवा अनुकरण से ही नहीं आ सकती क्योंकि वह संस्कार जन्म है। कुछ समीक्षक वैदर्भी के प्रयोग के लिए अन्य रीतियों का अभ्यास आवश्यक मानते हैं परन्तु वामन इस मत का समर्थन करते हुए नहीं दिखाई पड़ते। तदविषयक उनकी उक्ति तथा युक्ति भी यही सिद्ध करती है कि वे रीति का सम्बन्ध कवि के व्यक्तित्व से मानते हैं।

तदारोहणार्थमितराभ्यास इत्येके। १ २-१६
तच्च न, अतत्त्वशीलस्य तत्त्वानिष्पत्तेः।

न शणसूत्रवानाभ्यासे त्रसरसूत्रवानवैचित्र्य लाभः १-२१७,१८
अतत्त्वशील व्यक्ति, तत्त्व का ग्रहण किसी प्रकार भी नहीं कर सकता, जैसे पटुआ बुनने वाला व्यक्ति रेशम बुनने में कभी समर्थ नहीं हो सकता। इसी प्रकार अल्प गुणवाली गौड़ी या पाञ्चाली का अभ्यास समग्र

---

१ रीतिरात्माकाव्यस्य। (वामन)

२ न पाठधर्माः। (वही)

तासां पूर्वा ग्राह्या गुण साकल्यात्, न पुनरितरे स्तोकगुणत्वात्।

(वही)

गुणवाली वैदर्भी की प्राप्ति के लिए उपयोगी नहीं। वामन ने रीति का सम्बन्ध कवि-व्यक्तित्व के अन्य तत्त्वों—व्युत्पत्ति तथा अभ्यास से दिखाने का प्रयत्न किया है किन्तु दुख की बात है कि वे अपने सम्पूर्ण विवेचन में इसका निर्वाह नहीं कर सके हैं। यदि वे रीति और व्यक्तित्व के सम्बन्ध-निर्वाह तथा समर्थन का ध्यान रखते तो रीतियों का वर्गीकरण गुण के अधार पर न कर कवि के व्यक्तित्व के आधार पर करते तया रीतियों की संख्या निश्चित रूप में तीन न बता कर अनन्त बताते। वामन ने पाञ्चाली नामक रीति की कल्पना प्रथम बार की। उनकी उक्ति से यह जान पड़ता है कि वे इन तीनों में समग्रगुणसम्पन्ना वैदर्भी को श्रेष्ठ मानते हैं। इसलिए वे कवियों को उपदेश देते हैं कि वे वैदर्भी को ग्रहण करें, अन्य रीतियों को नहीं, क्योंकि उनमें कम गुण रहते हैं। एक स्थान पर वामन कहते हैं कि कोई रीति अध्ययन, अभ्यास या अनुकरण से नहीं आ सकती और दूसरे स्थान पर कवियों को गुणसाकल्य के कारण वैदर्भी रीति को ग्रहण करने का उपदेश देते हैं। इस प्रकार वे अपने तर्क तथा विवेचन में स्वयं विरोध उपस्थित कर देते हैं। इन तीनों रीतियों में किसी को श्रेष्ठ या किसी को मध्यम या अधम कहना वैज्ञानिक प्रतीत नहीं होता क्योंकि ये सभी रीतियाँ वस्तुतः काव्य के मार्ग या रस-द्वार हैं। इन तीनों से काव्य तथा कवि की आत्मा का दर्शन किया जा सकता है।

वामन के समय से रीति-विवेचन में प्रादेशिकता से बल हट कर गुणों पर चला आया। प्रादेशिक मार्गों को रीति-रूप में परिणत करने का श्रेय वामन को ही है। वामन के समय से वैदर्भी, गौड़ी तथा पाञ्चाली विशिष्ट प्रान्तों की काव्य-पद्धति की प्रतीक न होकर विशिष्ट प्रकार की काव्य-रीति की प्रतीक बन गईं। उन्होंने सबसे पहले यह बतलाया कि वैदर्भी, गौड़ी या पाञ्चाली नाम पड़ने का कारण यह नहीं है कि उन विभिन्न प्रान्तों में विशिष्ट प्रकार की रीति के उपयुक्त विशिष्ट गुण पाये जाते हैं; अथवा वहाँ की प्राकृतिक दशा, भूमि, हवा, पानी, उपज में कवियों में विशिष्ट प्रकार

की काव्यपद्धति उत्पन्न कर देने की विशेषता है, वरन् उन विशिष्ट प्रान्तों के कवियों की रचनाओं में ये रीतियाँ अधिकता से पाई जाती हैं। तो फिर प्रश्न उठता है कि इन रीतियों की कसौटी वामन ने क्या बतलाई है। उत्तर है—विभिन्न प्रकार के गुण। इन गुणों के भीतर काव्य के अधिकाधिक प्रमुख तत्त्वों का समावेश हो जाता है। "विशेषोगुणात्मा" कहकर वामन ने एक प्रकार से गुणों को ही काव्य का सर्वस्व सिद्ध किया है। इन गुणों का ही अस्तित्व रीति को काव्य का एक महत्त्वपूर्ण अंग सिद्ध करने में समर्थ होता है। इस प्रकार वामन की दृष्टि में उत्तम काव्य की कसौटी या लक्षण ये गुण ही हैं। रीतियों में वैदर्भी को श्रेष्ठ या सबके लिए ग्रहण करने योग्य बताने का कारण उसमें समस्त गुणों का विशद रूप में स्फुटत्त्व ही है। वामन ने रीति की कसौटी गुण कह कर उत्तर तो ठीक दिया किन्तु गुण की धारणा वे ठीक दिशा में न कर सके; गुण का सम्बन्ध वास्तविक रूप में काव्य के किस तत्त्व से है इसे वे न पहचान सके। गुण वस्तुतः रस धर्म है, इनका वास्तविक सम्बन्ध रस से है। इनकी सत्ता वर्ण विशेष, पद विशेष; बन्धगुण विशेष में नहीं वरन् चित्तवृत्ति विशेष में है। गाढ़ रचना से अमुक गुण, शिथिल रचना से अमुक गुण सम्बन्धी धारणाएँ रीति को काव्य के बाह्य तत्त्व में बाँधती हैं। गुणों का विभाजन—शब्द गुण और अर्थ गुण के रूप में करना अवैज्ञानिक है; क्योंकि कविता शब्द और अर्थ के कलात्मक संश्लेषण से बनती है। वह न तो अकेले शब्द में निहित है और न अर्थ में। इसलिए काव्य गुणों का विभाजन शब्द गुणों और अर्थ गुणों के रूप में अलग अलग करना ठीक नहीं। माधुर्य, ओज, प्रसादादि जो रसधर्म गुण कहे जाते हैं वे समुचित वर्ण-योजना से व्यंजित होते हैं; किन्तु वे केवल वर्णमात्र के आश्रित नहीं हैं। गुण वस्तुतः पाठक के मन के ऊपर पड़े हुए प्रभाव हैं। शौर्य, दीप्ति, विस्तार, धृति आदि कविता द्वारा पाठक के मन के ऊपर पड़े हुए प्रभावों के भेद हैं। "कविस्तु सामाजिका इव" के अनुसार कविता लिखते समय कवि की मानसिक अवस्था भी वैसी ही होनी चाहिए जैसी कविता आस्वादन करते समय पाठक के मन की होती है, किन्तु इसका विचार

वामन ने नहीं किया। रीति में मानसशास्त्रीय विवेचन की नींव का एक प्रधान तत्त्व गुण-विचार में था किन्तु रीति के आचार्य गुण-तत्त्व को पकड़ कर के भी रीति का विवेचन मनोवैज्ञानिक भूमिका पर नहीं कर सके। इसका मूल कारण उनकी गुण सम्बन्धी धारणा है जो ठीक दिशा में नहीं बन सकी। गुण, वस्तुतः रसधर्म हैं अतः वे रसिकगत या कविगत हैं। शब्दों में या पदों में वे गुण हैं, यह हम केवल लक्षणा से कहते हैं। यदि रीतिसम्प्रदाय के प्रतिनिधि आचार्यद्वय को यह तथ्य सूझ गया होता कि गुण, कवि अथवा रसिक के मन की स्थितिविशेष हैं, उनका सम्बन्ध वास्तविक रूप में रस से है; तो निश्चय ही वे रीति का विवेचन मनोविज्ञान की प्रौढ़ भूमिका पर करने में समर्थ हुए होते। दण्डी और वामन दोनों को रस-तत्त्व का ज्ञान था किन्तु रस-प्रक्रिया से दोनों अपरिचित थे; रस और गुण के यथार्थ सम्बन्ध-ज्ञान से दोनों अनभिज्ञ थे; इसीलिए वे दोनों गुण और रस की मनोवैज्ञानिक धारणा बनाने में समर्थ नहीं हो सके। इसमें सन्देह नहीं कि रीतिवादी आचार्यों ने काव्य-तत्त्वों का स्फुरण अलंकारवादी आचार्यों से अधिक किया किन्तु उनके द्वारा भी काव्य का पूर्ण स्वरूप, उसके सभी तत्त्व, सभी पक्ष समानुपातिक रूप में स्फुट नहीं हो सके; काव्य का आत्मतत्त्व भी समुपस्थित नहीं हो सका। अब तक की विवेचनाओं में कवि को उचित स्थान नहीं मिल सका था। रीति-विवेचन में कवि को उचित स्थान आगे चल कर कुन्तक ने दिया और तार्किक ढंग से बतलाया कि कवि के प्रकृतप्रदत्त या निजनिर्मित स्वभाव से ही कवि के काव्य की पद्धति या रीति निसृत होती है।

रुद्रट

रीति-सम्प्रदाय के विवेचन के प्रसंग में रीति-तत्त्व के ऊपर विचार करने वाले अन्य आचार्यों का मत तथा उनकी समीक्षा का ज्ञान अप्रासांगिक विषय न होगा। रुद्रट के विचार से रीतियाँ शब्द-संघटना रूप हैं। प्रत्येक रस की निष्पत्ति के लिए विशिष्ट प्रकार के शब्दों की संघटना

आवश्यक है और इसका सम्पादन रीतियों द्वारा होता है। इस प्रकार विभिन्न रीतियाँ विभिन्न रसों की प्रतिनिधि बन जाती हैं। रुद्रट की दृष्टि में रीतियों का चुनाव रसौचित्य के अनुसार होना चाहिए। उनके मत में रीतियों की सफलता की कसौटी है रसाभिव्यक्ति, इस प्रकार रुद्रट के समय से रीतियाँ विभिन्न प्रान्तों या गुणों की प्रतिनिधि न बन कर विभिन्न रसों अथवा विषयों की प्रतिनिधि बन गई[1]। रुद्रट ने वामन की तीन रीतियों वैदर्भी, गौड़ी तथा पाञ्चाली के अतिरिक्त लाटीया नाम की रीति का आविष्कार किया और इन चारों रीतियों को दो विभागों में बाँटा। काव्य में माधुर्य एवं सौकुमार्य द्योतक होने के कारण वैदर्भी तथा पाञ्चाली को एक वर्ग में रखा तथा ओजस्विता-प्रदर्शक होने के कारण गौड़ी तथा लाटीया को दूसरे वर्ग में। वैदर्भी तथा पांचाली के नैसर्गिक सम्बन्ध की चर्चा वामन ने एक प्रकार से की थी किन्तु रुद्रट ने उन दोनों के इस सम्बन्ध को और स्फुट तथा घनिष्ठ कर दिया।

रुद्रट ने रीतियों का विभाजन प्रान्तों या गुणों के आधार पर न करके पदों की समस्तता तथा असमस्तता के आधार पर किया और इस प्रकार समास को रीतियों का विभाजक तत्त्व घोषित किया। वैदर्भी को समास रहित[2] कहा। समस्त पदों के तीन प्रकार मान कर उन्हीं पर अन्य तीनों रीतियों को अवलम्बित किया। इस प्रकार दीर्घ समास से युक्त पदों वाली को गौड़ी, दो या तीन सामासिक पदों वाली को पांचाली, पाँच या सात सामासिक पदों वाली को लाटी के नाम से अभिहित किया।[3] वैदर्भी तथा पाञ्चाली, माधुर्य एवं सौकुमार्योपपन्न

---

१ वैदर्भी-पाञ्चाल्यौ प्रेयसि करुणेभयाकाद्भुतयोः।
लाटीया-गौड़ ये रौद्रे कुर्याद् यथौचित्यम्। (रुद्रट)।

२ वृत्तेरसमासायावैदर्भीरीतिरेकैव। काव्यालंकार (रुद्रट)

३ द्वित्रिपदा पाञ्चाली लाटीया पञ्च सप्त वा यावत्।
शब्दाः समासवन्तो भवति यथाशक्ति गौड़ीया। (वही)

होने के कारण श्रृंगार, प्रेय, करुण, भयानक, अद्भुत रसों के लिए उपयुक्त होती हैं एवं ओज तथा गाढ़बन्धता के कारण लाटीया तथा गौड़ी रौद्र रस के उपयुक्त होती हैं।[1] रुद्रट के विचार से अन्य रसों में रीतियों का नियम नहीं होता। रीति का रस या वर्ण्य विषय से सम्बन्ध होने के कारण एक ही कवि द्वारा या उसकी एक ही कृति के विभिन्न अंशों में विभिन्न रीतियों का प्रयोग संभव माना जाने लगा। विषयौचित्य रीतियों का नियामक तत्त्व बन गया। अब वैदर्भी या पांचाली का प्रयोग वर्ण्य विषय के सौन्दर्य, सौकुमार्य, माधुर्य आदि की प्रेरणा का परिणाम माना जाने लगा एवं गौड़ी या लाटीया का प्रयोग विषय की उदात्तता या ओजस्विता की प्रेरणा का फल। रस को रीति का नियामक तत्त्व मानने का अर्थ था कवि की भावात्मक परिस्थिति को रीति-स्वरूप अथवा प्रकार का नियामक तत्त्व घोषित करना[2]। कवि की भावात्मक परिस्थिति उसके व्यक्तित्व का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। इस प्रकार रुद्रट ने सर्वप्रथम बल-पूर्वक तथा स्पष्टतया रीति का सम्बन्ध कवि के व्यक्तित्व से स्थापित किया; किन्तु वे भी इसका निर्वाह पूर्णतया अपने प्रतिपादन में नहीं कर सके। अब रुद्रट के रीति विचार के पश्चात् उनके रीति सम्बन्धी दोष-गुण पर भी विचार करना चाहिए। रुद्रट की रीति की परिभाषा बहुत ही साधारण एवं स्थूल कोटि की है। उससे रीति के सम्यक् स्वरूप का बोध नहीं होता। 'शब्दसंघटना' रीति का एक बाह्य तत्त्व मात्र है जिसके भीतर रुद्रट ने अपनी रीति की परिभाषा केन्द्रित कर दी है। रस को रीति का नियामक तत्त्व मानकर विभिन्न रीतियों से विभिन्न रसों का सम्बन्ध-स्थापन बहुत कुछ अंशों में वैज्ञानिक कहा जा सकता है पर भयानक का वैदर्भी या पांचाली से स्वाभाविक सम्बन्ध स्थापित करना

---

१ वैदर्भीपाञ्चाल्यौ प्रेयसि करुणभयानकाद्भुतयोः।
लाटीया गौड़ीये रौद्रे कुर्याद् यथौचित्यम्। (रुद्रट)

२. *Visayauchitya began to regulate the nature of Riti—Thus the emotional situation came to determine the mode of expression.* (Some Concepts of Alankar Shastra).

असंगतपूर्ण प्रतीत होता है। वैसे तो किसी भी रस का वर्णन किसी भी रीति में हो सकता है परन्तु किसी रीति का किसी रस से स्वाभाविक सम्बन्ध और बात है। भयानक कठोर भाव है; अत: इसका स्वाभाविक सम्बन्ध गौड़ी या लाटीया से ही हो सकता है, वैदर्भी या पांचाली से नहीं। इसी प्रकार वीर रस को भी रुद्रट ने गौड़ी या लाटी के स्वाभाविक सम्बन्ध के भीतर नहीं रखा; यह भी एक असंगत पूर्ण बात है। विषय या रस को नियामक तत्त्व घोषित कर समास को रीति-विभाजक तत्त्व घोषित करना एक विरोधपूर्ण तथ्य प्रतीत होता है; समास के अनुसार रीतियों का वर्गीकरण आलोचक की स्थूल कोटि का परिचायक है। दण्डी के समय में ही यह बात सिद्ध हो चुकी थी कि रीतियों की संख्या अनन्त हो सकती हैं, किन्तु इस पूर्व प्रतिपादित सिद्धान्त से भी रुद्रट ने लाभ नहीं उठाया। दूसरे, रस या वर्ण्य विषय को रीतियों का नियामक तत्त्व घोषित करके भी रीतियों की संख्या चार ही निश्चित करना रुद्रट के रीति सम्बन्धी विचार की स्थूलता का द्योतक है।

राजशेखर का रीतिविषयक ग्रन्थ-रीतिनिर्णय लुप्त हो गया है। अत: उनके रीतिविषयक सिद्धान्तों का सम्यक् ज्ञान करना कठिन है। उनके साहित्य-शास्त्र विषयक ग्रन्थ-काव्य मीमांसा, तथा उनके नाटक—बालरामायण तथा कर्पूरमंजरी की भूमिका से रीति सम्बन्धी जो सिद्धान्त ज्ञात होते हैं उनमें कोई खास विशेषता या नवीनता नहीं है। राजशेखर की रीतिविषयक परिभाषा "वचनविन्यासक्रमो रीति:" में कोई विशिष्ट नवीनता नहीं है। रीति के साथ प्रवृत्ति और वृत्ति का सामंजस्य इन्होंने भरत से लिया है। रीतियों के लक्षण-कथन में—उपचार, योगवृत्ति योगवृत्तिपरम्परा आदि कतिपय नूतन तत्त्वों का निर्देश किया गया है। यह नीचे की तालिका से स्पष्ट हो जायगा।

वैदर्भी	पाञ्चाली	गौड़ी
समास रहित	कतिपय सामासिक पद	सामासिक पद युक्त
यत्र तत्र अनुप्रास	ईषदनुप्रास	अनुप्रासाधिक्य
योगवृत्ति	उपचार	योगवृत्तिपरम्परा

राजशेखर के उपर्युक्त रीति-लक्षण, परम्परा से एक दम निर्मुक्त नहीं हैं। दण्डी और वामन दोनों समास तथा अनुप्रास को रीति का नियामक तत्त्व मानते हैं। उपचार का भी अभाव प्राचीन लक्षणों में नहीं है। दण्डी के समाधि गुण में उपचार की ही प्रधानता है। इनके रीति-लक्षणों में केवल योगवृत्ति तथा योगवृत्तिपरम्परा ये ही दो नये तत्त्व दिखाई पड़ते हैं। राजशेखर के समय में रुद्रट द्वारा निरुपित ४ रीतियाँ प्रचचलित थीं। उनमें से तीन ही को उन्होंने रीतिप्रकार के रूप में स्वीकार किया।[१] रुद्रट ने दो चार पदों से पाञ्चाली; पाँच सात पदों से लाटीया की सत्ता मानी थी। पाञ्चाली तथा लाटीया में विशेष पार्थक्य न होने के कारण उन्होंने लाटीया की पृथक सत्ता स्वीकार नहीं की। इन तीनों के अतिरिक्त मागधी[२] और मैथिली[३] का उल्लेख उनके नाटकों में मिलता है। कर्पूरमंजरी के मंगलाचरण में तीन रीतियों का उल्लेख मिलता है। वच्छोमी, मागधी और पाञ्चालिका। वच्छोमी, वैदर्भी का प्राकृत रूपान्तर है। मागधी नाम गौड़ी रीति का ही नामान्तर जान पड़ता है। मैथिली रीति के स्वरूप का परिचय बालरामायण के निम्नाङ्कित श्लोक से मिल जाता है :—

यत्रार्थातिशयोऽपि सूत्रित जगत् मर्यादया मोदते।
सन्दर्भश्च समासमासलववत् प्रस्तार विस्तारितः।
उक्तियोंग परम्परा—परिचिता काव्येषु चक्षुष्मतां।
सा रम्या नवचम्पकाङ्गि भवतु त्वन्नेत्रयोः प्रीतये।

उपर्युक्त श्लोक से मैथिली के निम्नाङ्कित गुण विदित होते हैं—(१) अर्थ का अतिशय, लौकिक मर्यादा की सीमा का उल्लंघन नहीं करता (२)

---

१ वैदर्भी गौड़ीया पाञ्चाली चेति रीतयस्तिस्रः।
आसु च साक्षान्निवसति सरस्वती तेन लक्ष्यन्ते। काव्य-मीमांसा

२ कर्पूरमंजरी—प्रस्तावना

३ बालरामायण—दशम अंक

अल्प सामासिक पदों की स्थिति (३) योगपरम्परा का निर्वाह। लौकिक मर्यादा की सीमा को उल्लंघन न करनेवाला अर्थातिशय 'कान्ति' नामक गुण में पाया जाता है जो दण्डी, वामन, भोजराज आदि की दृष्टि से वैदर्भी का प्राण है। योगपरम्परा का निर्वाह गौड़ी की विशेषता है। इससे यह स्पष्ट है कि मैथिली रीति, वैदर्भी तथा गौड़ी की मध्यवर्ती रीति है इसीलिए इसमें उक्त दोनों रीतियों के गुणों का मिश्रण पाया जाता है। श्रीपाद नामक आलंकारिक के अतिरिक्त मैथिली रीति का नाम रीति विशेष के रूप में कहीं अन्यत्र नहीं मिलता। इनके मत को केशव ने अपने अलंकारशेखर में उद्धृत किया है :—

> गौड़ी समासभूयस्त्वात् वैदर्भी च तदल्पतः।
> अनयोः संकरो यस्तु मागधी सातिविस्तरा।
> गौड़ीयैः प्रथमा, मध्या वैदर्भैः मैथिलैस्तथा।
> अन्यैस्तु चरमारीतिः स्वभावादेव सेव्यते।
>
> (काव्यमाला) पृष्ठ ६

उक्त श्लोक से यह जान पड़ता है कि मागधी, गौड़ी तथा वैदर्भी की संकर रीति है और मैथिली मागधी का ही नामान्तर है। काव्यमीमांसा में वर्णित काव्यपुरुष तथा साहित्यवधू के पौराणिक ढंग के रूपक से यह सिद्ध होता है कि राजशेखर विभिन्न रीतियों का विभिन्न प्रान्तों से घनिष्ठ सम्बन्ध मानते थे[1]। राजशेखर ने विदर्भ प्रान्त में काव्यपुरुष और साहित्यवधू का गान्धर्व रीति से विवाह कराकर वैदर्भी रीति को अन्य रीतियों से श्रेष्ठ सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। ये दोनों ही मत अत्यन्त पुराने थे, फिर भी राजशेखर ने इनका पिष्टपेषण किया। इन दोनों सिद्धान्तों की आलोचना पहले की जा चुकी है अतः उन्हें यहाँ दुहराने की आवश्कता नहीं।

भोज

भोजराज की दृष्टि में रीति, लेखक की विशेषतायुक्त अभिव्यक्ति प्रणाली

---

१. काव्यमीमांसा पृष्ठ ८, ६, १०

है, उसकी साहित्य सर्जना का एक विशिष्ट मार्ग है। भोज ने अपने ग्रन्थ शृंगार-प्रकाश में रीति, वृत्ति और प्रवृत्ति का समावेश 'बुद्धयारम्भ' नामक अनुभाव के अन्तर्गत किया है। 'बुद्धयारम्भ' नामक अनुभाव कवि के व्यक्तित्व का सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। यही तत्त्व उसके अन्य तत्त्वों को सुसंगठित करके उन्हें एक अन्विति का रूप देता है। इसके अभाव में अन्य तत्त्व शून्यावस्था को प्राप्त हो जाते हैं। 'बुद्धयारम्भ' नामक अनुभाव के अन्तर्गत रीति का समावेश होने से रीति का सम्बन्ध कवि के व्यक्तित्व से अपने आप हो जाता है। इससे यह बात स्पष्ट हो गई कि भोजराज भी रीति का सम्बन्ध व्यक्तित्व से मानते थे। प्रान्तों के आधार पर उनकी रीतियों का नामकरण तो दिखाई देता है किन्तु वे किसी रीति विशेष का सम्बन्ध किसी प्रान्त विशेष से नहीं मानते। भोजराज ने अपने समय से पूर्व प्रचलित रीतियों की संख्या में दो नाम आवन्तिका तथा मागधी और जोड़ दिये हैं। इसप्रकार उन्होंने रीतियों की छः संख्या मानी है—वैदर्भी, गौड़ी, पाञ्चाली, आवन्तिका, लाटीया तथा मागधी। इन रीतियों के लक्षण, भोज के ग्रन्थ सरस्वती कंठाभरण तथा शृंगार प्रकाश के आधार पर नीचे दिए जा रहे हैं साथ ही प्रत्येक रीति के नूतन लक्षणों का उल्लेख भी किया जा रहा है जिससे उनकी रीति-सम्बन्धी मौलिकता का भी परिचय हो जाय :—

वैदर्भी :—असमास, श्लेषादि नव गुणों से गुम्फित, स्थानानुप्रास, श्रुतिमधुरता, योगवृत्ति, अति सुकुमारबन्ध, एवं अनुपचार वृत्ति।

अन्तिम दो लक्षण—अतिसुकुमारबन्ध एवं अनुपचारवृत्ति भोजराज द्वारा आविष्कृत है।

गौड़ी :—अतिदीर्घसमास, पादानुप्रास, योगरूढ़िपरम्परा, ओज, तथा कान्ति गुणयुक्त, परिस्फुटबन्ध और नात्युपचारवृत्तिम्।

अन्तिम दो लक्षण—परिस्फुटबन्ध तथा नात्युपचारवृत्तिम् भोज के मौलिक लक्षण हैं।

पाञ्चाली :—अनतिदीर्घसमास (५ या ६ पदों के समास) पादानुप्रास, उपचार वृत्ति ओजकान्ति गुण से विवर्जित तथा माधुर्य एवं सौकुमार्य से उपपन्न, **अनतिस्फुटबन्ध** और **योगरूढ़ि** ।

अन्तिम दो लक्षण नवीन हैं ।

वैदर्भी तथा पाञ्चाली की मध्यवर्तिनी रीति को भोज आवन्तिका रीति मानते हैं तथा अन्य समस्त रीतियों के मिश्रण को लाटी । लाटी रीति के पूर्णरूपेण निर्वाह न होने पर खण्ड रीति मागधी कही जाती है ।

शारदातनय की रीतियों के पार्थक्य लक्षण—समास, सौकुमार्य-गुणादि, उपचार विशेष, प्रास, अनुप्रास आदि भोजराज के अनुसार ही हैं । इन्होंने द्राविड़ी तथा सौराष्ट्री दो नवीन रीतियों का उल्लेख किया है । फिर रीतियों की प्रमुख संख्या एक सौ पाँच घोषित कर दी है इससे भी उन्हें जब सन्तोष नहीं हुआ तो उन्होंने प्रत्येक व्यक्ति या लेखक के साथ रीति की भिन्नता मान ली[१] । बहुरूप मिश्र के रीति विभेदक लक्षण—समासतारतम्य, उपचार तारतम्य, बन्धसौकुमार्यतारतम्य, अनुप्रासभेद, योगादिभेद प्रायः शारदातनय के अनुसार ही दिखाई पड़ते हैं ।

कुन्तक रीति को कविप्रस्थान हेतु मानते हैं, इसीलिए उसे 'मार्ग' नाम से अभिहित करते हैं । उनके रीति सम्बन्धी विषय-विवेचन एवं तदगत् प्रतिपादित प्रधान तत्त्व की दृष्टि से तो रीति का शैली नाम ही अधिक उपयुक्त था क्योंकि उन्होंने अपने रीति-विवेचन में कवि के शील (स्वभाव) को सबसे अधिक महत्त्व दिया है; उसे ही रीति का सब से अधिक निर्माणकारी तत्त्व सिद्ध किया है और इस प्रकार रीति का सबसे घनिष्ठतम सम्बन्ध कवि के स्वभाव अर्थात् व्यक्तित्व से स्थापित किया है । रीतियों के ऊपर से प्रान्तिक या भौगोलिक छाप को सब प्रकार से

---

१ प्रतिवचनं प्रतिपुरुषं तदवान्तरजातितः प्रतिप्रीति ।
आनन्त्यात् संक्षिप्य प्रोक्ता कविभिश्चतुर्विधेत्येषा ।

समूलोन्मीलित करने के लिए कुन्तक ने रीतियों के प्रान्त सूचक नामों को बदल कर कवि के स्वभाव के अनुसार उनका नाम रखा और इसकी पुष्टि के लिए साथ ही यह बतलाया कि कवि-स्वभाव-भेद के अनुसार विशिष्ट रूप से रीतियों की अनन्त संख्या होना अनिवार्य है[१] तथापि गणना की अशक्यता के कारण सामान्य रूप से उसके तीन भेद किए जा सकते हैं—सुकुमार, वैचित्र्य तथा मध्यम[२] मार्ग। रीति-निर्माण में कवि का स्वभाव या व्यक्तित्व सबसे अधिक कार्य करता है; यही आचार्य कुन्तक का रीति सम्बन्धी सबसे प्रसिद्धतम सिद्धान्त था; और यह साहित्यिक सिद्धान्त उनके जीवन दर्शन से निकला हुआ था। जीवन-चर्या में उनका विश्वास था कि व्यक्ति का स्वभाव या शील, देश, काल आदि की अपेक्षा उसके कार्य-कलापों का नियंत्रण सबसे अधिक मात्रा में करता है।

देश या प्रान्त भेद के आधार पर रीतियों के वर्गीकरण के सिद्धान्त का तार्किक एवं वैज्ञानिक खंडन भी रीति-क्षेत्र में कुन्तक की मौलिक देन है। उनका कहना है कि रीति तो कवि के व्यक्तित्व या स्वम्भाव की अभिव्यक्ति का एक साधन मात्र है, देश या प्रान्त विशेष से उसका सम्बन्ध नहीं। प्रान्त-प्रान्त के अनुसार प्रान्त धर्म बदलते हैं, जो वहाँ की व्यवहार-परम्परा पर अवलम्बित रहते हैं परन्तु रीति के विषय में यह बात सत्य नहीं हो सकती। क्योंकि प्रान्त विशेष से ही यदि किसी विशिष्ट रीति का सम्बन्ध रहता, तो किसी प्रान्त विशेष में जन्म लेने से कोई कवि किसी विशिष्ट रीति के पालन में समर्थ होता तो फिर उसके लिए प्रतिभा, व्युत्पत्ति, अभ्यास आदि की आवश्यकता ही न होती। यदि

---

१ कवि स्वभावभेद निबन्धनत्वेन काव्यप्रस्थानभेदः समञ्जसतां गाहते।

(व० जी० पृ० ४६)

२ यद्यपि कविस्वभावभेदनिबन्धनत्वाद् अनन्तभेदभिन्नत्वम् अनिवार्यं तथापि परिसंख्यातुम् अशक्यत्वात् सामान्येन त्रैविध्यमेवोपपद्यते।

(व० जी० पृष्ठ ४७)

किसी प्रान्त विशेष की जलवायु, उपज, प्राकृतिक दशा आदि में ही विशिष्ट प्रकार की काव्यशैली उत्पन्न करने की विशेषता होती तो वहाँ के निवासी उस शैली में रचना करते[1] या दूसरे प्रान्त के कवि उस प्रान्त विशेष की रीति को अपनाने में बिल्कुल ही असमर्थ होते। परन्तु तथ्य बात ऐसी नहीं है। विदर्भ या गौड़ प्रान्त के सभी निवासी वैदर्भी या गौड़ी के प्रयोग में समर्थ नहीं हुए। गौड़ देश में उत्पन्न होकर भी गीत-गोविन्दकार जयदेव वैदर्भी रीति के प्रयोग में पूर्ण सफल हुए। इसी प्रकार विदर्भ देश में रह कर भी भवभूति गौड़ी रीति के प्रयोग में समर्थ हुए। तात्पर्य यह कि रीतियों का सम्बन्ध किसी प्रान्त विशेष से स्थापित करना न्यायसंगत नहीं है।

कुछ समीक्षकों की दृष्टि में वैदर्भी उत्तम रीति है, गौड़ी मध्यम तथा पाञ्चाली अधम। परन्तु कुन्तक इस मत का समर्थन नहीं करते। इनकी दृष्टि में शास्त्र का उद्देश्य उत्तम तत्त्वों का विवेचन ही होता है। यदि गौड़ी और पाञ्चाली मध्यम तथा अधम कोटि की रीतियाँ हैं तो साहित्य शास्त्र में इनके विवेचन की क्या आवश्यकता है? तो फिर वैदर्भी रीति की ही विवेचना जिज्ञासुओं के लिए पर्याप्त होती; क्योंकि ये सभी साहित्य शास्त्री अपने-अपने ग्रन्थों का प्रणयन कवि-शिक्षा की ही दृष्टि से अधिक मात्रा में कर रहे थे। इनका विवेचन मानों कवियों के लिए आदर्श पाठ था। सभी दृष्टियों से ये तीनों रीतियाँ अनुकरणीय, आदरणीय, स्तुत्य एवं प्रामाणिक थीं। यदि गौड़ी और पाञ्चाली रीतियाँ वैदर्भी के समान सौन्दर्य-सम्पादन में सफल न होतीं, रसाभिव्यक्ति में समर्थ न होतीं तो सहृदयानन्ददायी काव्य के विवेचन में उनका विचार करना सार्थक न होता। यदि ऐसा मान लिया जाय कि वामन आदि ने तीनों रीतियों का विवेचन इसीलिए किया है कि वहीं पर यह भी कह

---

१ न च दाक्षिणात्यगीत विषयसुस्वरतादिध्वनिरामणीयकवत् तस्य स्वाभाविकत्वं वक्तुं पार्यते। तस्मिन् सति तथाविधकाव्यकरणं सर्वस्य स्यात्।

(व० जी० पृ० ४६)

दिया है कि "तासां पूर्वा ग्राह्या गुणसाकल्यात्" तो भी यह कथन न्याय-संगत नहीं प्रतीत होता क्योंकि स्वयं उन्होंने गौड़ी और पाञ्चाली का ग्रहण किया है[1]; तात्पर्य यह कि रीति के भेदों में उत्तम, मध्यम, अधम भेद करना निराधार एवं अप्रामाणिक है।

कुन्तक के स्वभाव का स्वरूप बड़ा व्यापक है क्योंकि इसी के अनुसार कवि की प्रतिभा होती है और इसी के अनुसार वह व्युत्पत्ति तथा अभ्यास करता है। व्युत्पत्ति और अभ्यास दोनों उसके स्वभाव की अभिव्यंजना करने में सफल माने[2] जाते हैं। इस प्रकार कुन्तक ने स्वभाव की व्यापकता मानव जीवन के प्रत्येक स्तर, प्रत्येक क्रिया कलाप तक पहुँचा दी है। कुन्तक के अनुसार जब जीवन के प्रत्येक कार्य, शक्ति, विचार, चेष्टा में स्वभाव आधार रूप में कार्य कर रहा है तो काव्य-रचना-प्रणाली में उसे आधार मानना स्वाभाविक ही है। कुन्तक की दृष्टि में कवि-स्वभाव के प्रकार अनन्त हैं। वे इतने सूक्ष्म एवं गूढ़ हैं कि उनके अन्तर का वर्णन करना अत्यन्त कठिन हैं। सामान्य दृष्टि से कवियों में तीन प्रकार के स्वभाव देखे जाते हैं :—सुकुमार, वैचित्र्य तथा मध्यम[3]। कहने की आवश्यकता नहीं कि स्वभाव के इस वर्गीकरण में कुन्तक का वक्रोक्ति-दर्शन ही काम करता हुआ दिखाई पड़ रहा है, कोई मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त नहीं।

---

१ न च रीतिनामुत्तमाधममध्यमत्वभेदेन त्रैविध्यमव्यवस्थापयितुं न्याय्यम्। यस्मात् सहृदयाह्लादकारिकाव्यलक्षणप्रस्तावे वैदर्भीसदृशसौन्दर्यासम्भवात् मध्यमाधमयोरुपदेशवैयर्थ्यमायाति परिहार्यत्वेनापि उपदेशो न युक्ततामवलम्बते, तैरेवानभ्युपगतत्वात्। (व० जी० पृष्ठ ४६)

२ आस्तां तावत् काव्यकरणं, विषयान्तरेऽपि सर्वस्य कस्यचित् अनादि-वासनाभ्यासाधि—वासितचेतसः स्वभावानुसारिण्यावेव व्युत्पत्त्यभ्यासौ प्रवर्तेते। तौ च स्वभावाभिव्यञ्जनेनैव साफल्यं भजतः। व० जी० पृ० ४७

३ यद्यपि कविस्वभावभेदनिबन्धनत्वाद् अनन्तभेदभिन्नत्वं अनिवार्यं तथापि परिसंख्यातुमशक्यत्वात् सामान्येन त्रैविध्यमेवोपपद्यते।

कुन्तक के अनुसार कुछ कवि प्रकृत्या सुकुमार स्वभाव के होते हैं। सुकुमार स्वभाव वाले कवि की शक्ति भी तदनुरूप सहजा होती है। शक्ति एवं शक्तिमान के अभेद सम्बन्धानुसार उसकी व्युत्पत्ति भी उसी प्रकार सौकुमार्य तथा रमणीयता से मंडित होती है। इसी सुकुमार शक्ति तथा व्युत्पत्ति के कारण वह सुकुमार मार्ग के अभ्यास में प्रवृत्त होता है[1]। इसी प्रकार विचित्र स्वभाव वाले कवि की शक्ति भी उसके स्वभाव के अनुसार विचित्रता तथा उद्दीप्तता धारण करती है। इसीलिए वह अपनी काव्य-रचना के अभ्यास में विचित्र मार्ग का अनुसरण करता है[2]। मध्यम स्वभाव वाले कवि में उक्त दोनों प्रकार के स्वभावों का सम्मिश्रण रहता है अतः उसकी शक्ति तथा व्युत्पत्ति भी पूर्वोक्त प्रकारों की मध्य-गामिनी रहती है। फलतः उक्त दोनों मार्गों के विशेषता-ग्राहक अभ्यास से उसकी कृति निष्पन्न रहती है। अतः यह नवीन मार्ग अर्थात् मध्यम मार्ग, दोनों मार्गों के मिश्रित चमत्कार से व्याप्त रहता है[3]।

कुन्तक ने भी दण्डी, वामन आदि के समान गुणों को मार्गों का व्यावर्तक तत्त्व माना है, किन्तु उनकी गुण विषयक धारणा उनके पूर्ववर्ती आचार्यों से भिन्न है। अतः इनके रीति स्वरूपों का सम्यक् ज्ञान करने के लिए इनके गुणों का भी संक्षेप ज्ञान आवश्यक है। वे दो प्रकार के

---

१ सुकुमार स्वभावस्य कवेस्तथाविधैव सहजाशक्तिः समुद्भवति शक्ति-शक्तिमतोरभेदात्। तथा तथाविध सौकुमार्य रमणीयां व्युत्पत्तिं आबध्नाति। ताभ्यां च सुकुमारवर्त्मनाभ्यास तत्परः क्रियते। व० जी० पृ० ४६

२ तथैव चैतस्माद् विचित्रः स्वभावो यस्य कवेस्तद्विदाह्लादकारि काव्य लक्षणकरणप्रस्तावात् सौकुमार्यव्यतिरेकिणा वैचित्र्येण रमणीय एव, तस्य च काचिद्विचित्रैव तदनुरूपा शक्तिः समुल्लसति।

(वही)

३ एवमेतदुभयकवि निबन्धनसंवलित स्वभावस्यकवेस्तदुचितैव शबल-शोभातिशय शक्तिः समुदेति। तथा च तदुभयपरिस्पन्द सुन्दरव्युत्पत्त्युपार्जन-माचरति। ततस्तच्छायाद्वितयपरिपोष पेशलाभ्यास परवशः सम्पद्यते। व० जी० पृ० ४६।

गुणों को स्वीकार करते हैं—सामान्य तथा विशेष। सामान्य गुणों का सम्बन्ध प्रत्येक मार्ग से स्वरूपतः तथा कार्यतः एक ही प्रकार का होता है किन्तु विशेष गुण प्रत्येक मार्ग में स्वरूपतः तथा कार्यतः विभिन्न रूप धारण करते हैं। सामान्य गुणों के २ भेद हैं :—औचित्य और सौभाग्य। औचित्य गुण द्वारा उचिताख्यान का समावेश होता है। इससे श्रोता तथा वक्ता के शोभातिशायी स्वभाव द्वारा वाच्यार्थ आच्छादित रहता है। सौभाग्य गुण अलौकिकचमत्कारकारी तथा 'काव्यैकजीवितम्' होता है। इस गुण की सत्ता काव्य में मुख्य शोभा की प्रतीक है। सामान्य गुणों के नाम हैं :—माधुर्य, प्रसाद, लावण्य एवं आभिजात्य। इनकी विशेषतायें निम्नाङ्कित प्रकार की होती हैं :—

माधुर्य :—असमस्तपदता (समास का स्वल्प प्रयोग) दीर्घ समास का अभाव, मनोहर पदों का विन्यास।

कुन्तक के पहले वामन ने भी कहा था—पृथकपदत्वं माधुर्य[1]। इनकी दृष्टि में माधुर्य सुकुमार मार्ग का प्रधान गुण है[2]।

प्रसाद :—जिस शब्द की शक्ति जिस अर्थ के प्रगट करने में प्रसिद्ध है उस शब्द का उसी अर्थ में प्रयोग[3]। इसके पूर्व भी प्रसाद गुण का यही स्वरूप था (प्रसिद्धाभिधानत्वंपदं)।

लावण्य :—वर्ण-विन्यास, पदसंधान की सम्पत्ति विशेष रूप में रहती है।

इसमें बन्ध की सुन्दरता पर दृष्टि पहले जाती है, अर्थ तथा रस की चर्वणा पर बाद को। इसमें कवि की दृष्टि काव्य के अन्तरंग की अपेक्षा बहिरंग के सौन्दर्य सम्पादन पर अधिक रहती है।[4]

---

१ असमस्त मनोहारिपदविन्यास जीवितम्

२ माधुर्यम् सुकुमारस्य मार्गस्य प्रथमो गुणः।

३ अक्लेश व्यञ्जिताकूतं झगित्यर्थसमर्पणम्।
रसवक्रोक्ति विषयं यत् प्रसादः स कथ्यते। व. जी. पृ० ३१

४ वर्णविन्यास विच्छित्ति पदसन्धानसम्पदा।
स्वल्पया बन्धसौन्दर्यं लावण्यममधीयते। व. जी. पृ० ३२

आभिजात्य :—यह भी लावण्य कोटि का ही गुण है। इसमें श्रुतिपेशलता अधिक रहती है।[1]

विचित्र मार्ग में उपर्युक्त चारों गुण पूर्वापेक्षा अतिशय रूप में विद्यमान रहते हैं।[2] वे प्रयत्न साध्य होते हैं। अतएव वे अधिकांश मात्रा में काव्य की बाह्य शोभा का निष्पादन करते हैं। इस प्रकार विचित्र मार्ग में उक्त चारों प्रकार के गुणों का स्वरूप तथा कार्य दोनों भिन्न प्रकार का होता है। जैसे, माधुर्य गुण विचित्र मार्ग में पदों की मधुरता से अधिक विचित्रता प्रगट करता है।, प्रसाद गुण विचित्र मार्ग में प्रसिद्धाभिधानत्व के अतिरिक्त समासबहुलता ला देता है। लावण्य गुण पदों के सौन्दर्य के अतिरिक्त विसर्ग की विशिष्ट सत्ता, ह्रस्व स्वर की अधिकता ला देता है। आभिजात्य गुण विचित्र मार्ग में कवि-कौशल का चमत्कार अधिक प्रगट करता है। इसमें न तो अत्यन्त कोमलता रहती है न अत्यन्त कठिनता। मध्यम मार्ग में भी ये ही गुण रहते हैं, पर इसमें उभय मार्गों में आने वाले इन गुणों के स्वरूपों का मिश्रण रहता है।
कुन्तक के गुणों के ज्ञान के पश्चात् इनके मार्गों का लक्षण भी संक्षेप में जानना आवश्यक है।

सुकुमार मार्ग :—सरलता, सरसता, स्वाभाविकता, कोमलता, मधुरता, प्रसादता, असमस्तपदता आदि इसकी मुख्य विशेषतायें हैं। इस मार्ग का अनुयायी कवि सहज सौन्दर्य का उपासक होता है। इस मार्ग में यदि कहीं कुछ वैचित्र्य रहता है तो वह सदा प्रतिभोद्भूत रहता है। उसकी दृष्टि रस या भाव की अभिव्यक्ति पर मुख्य रूप से रहती है। इस मार्ग में

---

१ श्रुतिपेशलताशालि सुस्पर्शमिव चेतसा।
स्वभावमसृणच्छायमभिजात्यं प्रचक्षते॥ व० जी०

२ आभिजात्यप्रभृतयः पूर्वमार्गोदिता गुणाः।
अत्रातिशयमायान्ति जनिताहार्यसम्पदः॥ व० जी०

शब्दार्थ से भाव लावण्य का अभेद रहता है। अलंकारों का प्रयोग भी इस मार्ग में होता है पर प्रयत्न साध्य रूप में नहीं, स्वाभाविक प्रेरणा के रूप में। वह रस का विघातक नहीं होता। उसके प्रयोग से वस्तुसौन्दर्य निखर उठता है। पाठकों की दृष्टि वर्ण्य या भाव को छोड़कर कला-तत्त्व की ओर नहीं जाती। वर्ण विन्यास वैचित्र्य, बन्धसौन्दर्य, स्वभावमसृणता, श्रुतिपेशलत्व, हृदयसंवादित्व, लावण्य आदि इसके मुख्य गुण हैं। इस मार्ग के प्रतिनिधि कवि वाल्मीकि, कालिदास आदि हैं।[1]

विचित्र मार्ग :—इसमें अलंकारों की सजावट, उक्तियों का वैचित्र्य, पद योजना का वैदग्ध, भाव-अतिशयोक्ति का विलास, पद सन्धान का वैचित्र्य, समस्तपदता, पद प्रौढ़िता, विसर्ग की विशिष्ट सत्ता, ह्रस्व स्वर का आधिक्य तथा अन्य कला-तत्वों का भी वैभव रहता है पर ये सभी विशेषतायें प्रयत्न प्रसूत होती हैं। इसमें कवि की दृष्टि जीवन दर्शन की अपेक्षा कलाचमत्कार के प्रदर्शन पर अधिक रहती है। विचित्र मार्ग में

---

१ अम्लानप्रतिभोद्भिन्ननवशब्दार्थबन्धुरः।
अयत्नविहितस्वल्पमनोहारिविभूषणः।
भावस्वभावप्राधान्यन्यक्कृताहार्यकौशलः।
रसादिपरमार्थज्ञमतः—संवादः सुन्दरः।
अविभावितसंस्थानरामणीयक रञ्जकः।
विधिवैदग्ध्यनिष्पन्ननिर्माणातिशयोपमः।
यत् किञ्चनापि वैचित्र्यं तत्सर्वं प्रतिभोद्भवम्।
सौकुमार्यपरिस्पन्दस्यन्दि यत्र विराजते।
सुकुमाराभिधः सोऽयं येन सत्कवयो गताः।
मार्गेणोत्फुल्लकुसुमकाननेव षट्पदाः। व० जी० श्लोक २५-२६

लिखा काव्य प्रायः विद्वत्तायुक्त रहता है। इसके प्रतिनिधि कवि बाण, भवभूति, राजशेखर आदि हैं।[१]

मध्यम मार्ग :—इसमें उभयविध मार्गों की विशेषतायें एक साथ भासित होती हैं अर्थात् इसमें स्वाभाविक उक्ति चमत्कार, अलंकारों की सजावट, समस्तपदता, कहीं कहीं समासाभाव आदि गुण रहते हैं इसके प्रतिनिधि कवि मातृगुप्त, मयुरराज, मञ्जरी आदि हैं।[२]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट विदित होता है कि कुन्तक का रीति-विचार बहुत दूर तक परम्परामुक्त, वैज्ञानिक तथा मौलिक कोटि का है, किन्तु उनके रीति-विवेचन में गुणों के साथ साथ कतिपय दोष भी हैं। कुन्तक मानस-शास्त्र के अध्ययन के अभाव में कवि स्वभाव के स्वरूप तथा भेदों के मनोवैज्ञानिक विवेचन में समर्थ नहीं दिखाई पड़ते। उनका स्वभाव-भेद मनोवैज्ञानिक आधार पर न होकर उनके वक्रोक्ति दर्शन के आधार पर हुआ है। इसी कारण उनका स्वभाव भेद बहुत ही स्थूल कोटि का है, अतः उनका रीति-विभाजन भी बहुत ही सामान्य कोटि का हुआ है। कवि के स्वभाव या व्यक्तित्व निर्माण में प्रतिभा का अधिक स्थान है या व्युत्पत्ति का—इसे भी कुन्तक निश्चित रूप

---

१ अलंकारस्य कवयो यत्रालंकरणान्तरम्।
असन्तुष्टा निबध्नन्ति हारादेर्मणिबन्धवत्॥
यद्यप्यनूतनोल्लेखं वस्तु यत्र तदप्यलम्।
उक्तिवैचित्र्यमात्रेण काष्ठां कामपि नीयते॥
स्वभावःसरसाकूतो भावानां यत्र बध्यते।
केनापि कमनीयेन वैचित्र्येणोपबृंहितः॥
विचित्रो यत्र वक्रोक्तिवैचित्र्यं जीवितायते॥
परिस्फुरति यस्यान्तः सा काप्यतिशयाभिधा॥ व० जी० श्लोक ३५-३८

२ वैचित्र्यं सौकुमार्यं च यत्र संकीर्णतां गते।
भ्राजेते सहजाहार्यशोभातिशयशालिनी।
माधुर्यादिगुणग्रामो वृत्तिमाश्रित्य मध्यमाम्॥
यत्र कामपि पुष्णाति बन्धच्छायातिरिक्तताम्॥
मार्गोऽसौ मध्यमो नाम नानारुचिमनोहरः।
स्पर्धया यत्र वर्तन्ते मार्गद्वितयसम्पदः॥ व० जी० श्लोक १।४९-५१

से नहीं बता सके। इसका परिणाम यह हुआ कि वे रीति का सम्बन्ध व्यक्तित्व से ढूँढ़ने में समर्थ होकर भी उसे पूर्णतः स्पष्ट नहीं कर सके। किन्तु इसे हम आचार्य कुन्तक का निजी दोष नहीं कह सकते, क्योंकि उस समय मनोविज्ञान का उतना विकास नहीं हुआ था जितना आज हुआ है जिसके बल पर आज हम कवि व्यक्तित्व का सूक्ष्मातिसूक्ष्म अध्ययन करने में समर्थ होते हैं; व्यक्तित्व निर्मिति में सहायक सभी तत्त्वों का पता लगा लेते हैं। कुन्तक का गुण-विवेचन पूर्व परम्परा से बहुत कुछ मुक्त होते हुए भी वैज्ञानिक कोटि का नहीं हो सका। गुण वस्तुतः रस धर्म हैं, पाठक की चित्तवृत्तियों की विशेष अवस्थाओं के प्रतिनिधि हैं; उनका सम्बन्ध वर्ण-विन्यास, अनुप्रास-पदसंधान, समस्तपदता या असमस्तता से नहीं है। कुन्तक गुण के इस मनोवैज्ञानिक स्वरूप को नहीं पहचान सके। रीति-विवेचन में कुन्तक का प्रस्थान तो सबसे अधिक मनोवैज्ञानिक कहा जा सकता है किन्तु बीच का विवेचन या प्रतिपादन मानस-शास्त्र के अध्ययन के अभाव में उतना यथार्थ, गंभीर एवं सूक्ष्म कोटि का नहीं हो सका।

उपर्युक्त आचार्यों के मतों के विवेचन से रीति-सम्प्रदाय के सैद्धान्तिक पक्ष के विषय में हम निम्नाङ्कित परिणाम निकाल सकते हैं।

१—दण्डी, वामन आदि आचार्यों ने विशिष्ट प्रकार की शब्द-संघटना के रूप में रीति का उल्लेख किया है जिसमें विशिष्ट प्रकार के वर्णों, अनुप्रासों, समासों का प्रयोग होता है। परोक्ष रूप से विषय से भी इसका सम्बन्ध जोड़ा गया है। रीति का सम्बन्ध सभी आचार्यों ने किसी न किसी प्रकार रस या विषय से स्थापित किया है। वैदर्भी तथा गौड़ी को क्रमशः मधुर और कठोर कहने का अर्थ ही है—दोनों विशेष प्रकार के विषयों या भावों के लिए उपयुक्त हैं; पर इस मतके विवेचन में सभी रीतिवादी अशक्त दिखाई पड़ते हैं। सभी आचार्यों ने रीति को गुणों की भित्ति पर खड़ा करने का प्रयत्न किया है।

२—सत्काव्य की कसौटी रीति मानी गई और वह भी अधिकांश आचार्यों द्वारा वैदर्भी; गुण रीति के आत्मतत्त्व के रूप में स्वीकृत

हुए। रीति के प्रतिनिधि आचार्य वामन ने गुणों के २ भेद किये—शब्द गुण एवं अर्थ गुण। इनमें अलंकार, वर्ण्य, वस्तु, लक्षणा, बक्रोक्ति, औचित्य आदि का भी समावेश हो गया है। इस प्रकार रीति एवं गुण में अन्योन्य सम्बन्ध स्थापित किया गया।

३—काव्य को अन्य वाङ्मयों से अलग करनेवाला तत्त्व रीति तत्त्व घोषित हुआ और वह काव्य में आत्म-तत्त्व के रूप में स्वीकृत हुआ।

४—रीतियों का वर्गीकरण रीतिवादी आचार्यों द्वारा प्रान्तों या गुणों के आधार पर हुआ। आगे चलकर बक्रोक्तिवादी कुन्तक ने कवि-स्वभाव के आधार पर भी उनका विभाजन किया।

५—यद्यपि रीति-सम्प्रदाय के भीतर अधिक से अधिक तीन ही रीतियाँ प्रचलित हो सकीं परन्तु बाद में उनकी संख्या निरन्तर बढ़ती गई।

६—अधिकांश आचार्यों का मत यही था कि वैदर्भी उत्तम, गौड़ी मध्यम तथा पाञ्चाली अधम रीति है।

७—सभी रीतिवादी आचार्यों ने रीति का सम्बन्ध किसी न किसी प्रकार कवि के व्यक्तित्व से स्थापित किया पर उसका ठीक विवेचन या निर्वाह पूर्वापर सम्बन्ध के साथ कोई नहीं कर सका।

८—रीति का विवेचन रसिक की दृष्टि से अधिक हुआ कवि की दृष्टि से कम। इसका परिणाम यह हुआ कि रीति का मानस शास्त्रीय विवेचन बहुत ही कम हुआ।

९ रीतिवादी आचार्यों की रीति सम्बन्धी धारणा नितान्ततः बाह्याङ्ग निरूपक ही नहीं है उसमें अन्तरङ्ग तत्त्वों का भी उल्लेख हुआ है (जैसे,—रस, कल्पना, वस्तु, अनुभूति आदि का) किन्तु प्राधान्य है बाह्याङ्ग तत्त्वों के विवेचन का ही। रीति के इन अन्तरंग तथा बहिरंग तत्त्वों को एक संश्लिष्ट सूत्र में बाँधनेवाले तत्त्व व्यक्तित्व (Personality) का विवेचन ठीक ढंग से किसी ने नहीं किया।

१० किसी रीति का प्रयोग अध्ययन, अध्यापन, अनुकरण से नहीं आ सकता क्योंकि वह संस्कार क्षम है।

सैद्धान्तिक-निरूपण के पश्चात् अब रीति सम्प्रदाय के मूल्याङ्कन के लिए उसके गुण-दोषों पर भी विचार करना चाहिए:—

इसमें सन्देह नहीं कि रीतिवादी आचार्यों ने काव्य-तत्त्वों का स्फुरण अलंकारवादी आचार्यों से अधिक मात्रा में किया पर वे इन सबका संश्लिष्ट-सूत्र ठीक रूप में नहीं उपस्थित कर सके। इनके द्वारा भी काव्य का पूर्ण स्वरूप; उसके सभी तत्त्व, समानुपातिक रूप में स्फुट नहीं हो सके। काव्य का आत्म-तत्त्व इनके विवेचन में न तो उचित स्थान पा सका और न ठीक रूप में उपस्थित ही हो सका और न इस विवेचन में कवि को ही उचित स्थान मिल सका। रीति-प्रतिपादन में अवयव और अवयवी का उचित सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सका। इन आचार्यों की रीति-सम्बन्धी परिभाषा भी प्राय: स्थूल या साधारण कोटि की ही रही। रीति-सम्प्रदाय के प्रतिनिधि आचार्यों में से किसी भी आचार्य विशेष का रीति-सम्बन्धी अध्ययन करने पर उनकी रीति-धारणा में अतिव्याप्ति या अव्याप्ति दोष दिखाई पड़ता है।

रीति और गुणों के अन्योन्य सम्बन्ध को स्वीकार करते हुए भी दण्डी तथा वामन निरूपित गुणों को रीति का आत्मतत्त्व मानने से अनेक स्थानों पर रीति का स्वरूप संकुचित हो जाता है; और रीति के ऐसे संकुचित स्वरूप में काव्य के आत्म-तत्त्व को देखना मानों काव्य की सीमा को संकुचित कर देना है। काव्य में आत्म-तत्त्व स्थापन की शक्ति रस में है; या और व्यापक दृष्टि से इसे कहना चाहें तो हम कह सकते है कि वह कवि के व्यक्तित्व में है रीति में मानस शास्त्रयी विवेचन की नींव का एक तत्त्व गुण-विचार में·था परन्तु रीति के आचार्य गुण-तत्त्व को पकड़ कर भी रीति-विवेचन मनोविज्ञान के अनुसार नहीं कर सके। इसका मूल कारण यही था कि गुण सम्बन्धी उनकी धारणा ठीक दिशा में नहीं थी। रीति के जीवनाधार या आत्मतत्त्व, गुण हो सकते हैं, किन्तु कब? जब उचित दिशा में उनका निरूपण हो अर्थात् जब वे रस-धर्म के रूप में निरूपित किये जायँ या चित्तवृत्ति विशेष के रूप में माने जायँ। किन्तु वामन के अनुसार कुछ ऐसे गुण

हैं जो केवल शब्द गुण या बंध गुण माने जाते हैं। उनका सम्बन्ध विशिष्ट प्रकार की पदावली, वर्ण-योजना, समास या अनुप्रास-योजना, अलंकार-प्रयोग आदि से है; तब केवल उस एक शब्द-गुण या अनेक शब्द-गुणों को ही धारण करनेवाली रीति, काव्य की आत्मा कैसे होगी ? वस्तुतः शैली के जीवनाधायकतत्त्व कवि के भावनात्मक अनुभव या चित्तवृत्तियों से निर्मित होते हैं। रीति को जीवन-दान देने का श्रेय कवि की भावात्मक प्रवृत्ति को है, न कि शब्द या अर्थ गुण को। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि गुणों की सत्ता वर्ण विशेष में नहीं, पद-विशेष में नहीं, बंध-गुण-विशेष में नहीं, सामासिक या असामासिक पदावली में नहीं वरन् रसिक के हृदय में है। अथवा, 'कविस्तु सामाजिका इव" के अनुसार कवि के हृदय में है। विशिष्ट पदों में ही ये गुण हैं यह हम लक्षणा से ही मान सकते हैं। क्योंकि वे गुण वर्णों से व्यक्त होते हैं। किन्तु वे केवल वर्णों के आश्रित नहीं हैं। गुण वस्तुतः रसिक या कवि के हृदय में हैं; यह रीति के आचार्यों को नहीं सूझा; इसे आगे चलकर आचार्य मम्मट ने स्पष्ट किया। गुणों का विभाजन शब्द गुण या अर्थ गुण के रूप में करना अवैज्ञानिक है क्योंकि शब्द और अर्थ दोनों के कलात्मक संश्लेषण से कविता बनती है। कविता न तो केवल शब्द में बसती है और न केवल अर्थ में।

दण्डी और वामन दोनों को रस का ज्ञान तो था पर रस-निर्मिति की प्रक्रिया का ज्ञान उन्हें नहीं था। गुण और रस के यथार्थ सबन्ध से दोनों अपरिचित थे; इसलिये ये आचार्य गुण तक पहुँच करके भी गुण और रस की मनोवैज्ञानिक धारणा बनाने में सफल नहीं हो सके।

रीतिवादी आचार्यों द्वारा रीति में काव्य की आत्मा देखने के प्रयत्न का अर्थ था किसी अवयवी के साधकतम तत्त्व का विच्छेदन करके उसमें आत्मा ढूँढ़ने का प्रयत्न। आगे चल कर ध्वनिकार ने रीति में काव्य की आत्मा देखने के मत को बदल दिया और बतलाया कि रीति, रस ध्वनित करने का एक उपकरण मात्र है। अतः काव्य में उसका गौण स्थान होना चाहिये।

वामन ने आदेश दिया है कि समग्र गुण होने के कारण वैदर्भी रीति का ही प्रयोग कविगण करें। किन्तु कोई कवि किसी रीति का प्रयोग आदेश या प्रयत्न से नहीं करता। यदि कभी वह करता भी है तो उसकी रचना कृत्रिम हो जाती है। किसी विशिष्ट रीति का प्रयोग किसी कृति में किसी कृतिकार के विशिष्ट प्रकार के व्यक्तित्व या उसके किसी एक तत्त्व—प्रतिभा, अनुभूति, भावना, मनोवृत्ति, व्युत्पत्ति आदि के कारण होता है; प्रयत्न के कारण नहीं। रीतियों के प्रयोग अथवा उनके भीतर गुणों के समावेश के विषय में कोई निश्चित नियम नहीं बनाया जा सकता। किसी विशिष्ट रीति के प्रदर्शनार्थ या उसमें कतिपय गुणों के समावेशार्थ वास्तविक कविता नहीं की जाती। सच्चा कवि अपने व्यक्तित्व या मनोवृत्ति की प्रेरणा, प्रभाव या प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति के लिए काव्य-सृष्टि करता है। कवि-स्वभाव या उसकी वृत्ति-विशेष की भिन्नता के अनुसार उसके द्वारा प्रयुक्त रीति भी विभिन्न प्रकार की हो सकती है। कोई कवि सदा एक ही प्रकार की रीति या शैली में रचना नहीं करता; यह दूसरी बात है कि उसकी सभी रचनाओं में किसी एक रीति या शैली का प्राधान्य पाया जाता हो। श्रेष्ठ कवियों तथा कृतियों में विषय, परिस्थिति, कवि की मनोवृत्ति, रस आदि के अनुकूल अनेक प्रकार की शैलियाँ पाई जाती हैं। सदा एक ही रीति में रचना करने से या किसी लम्बी कृति में एक ही रीति के प्रयोग से रोचकता का अभाव हो जाता है। जायसी के महाकाव्य में सदा एक ही रीति के प्रयोग से रोचकता की कमी हो गई है। विभिन्न रसों के वर्णन, जैसे—वीर, भयानक, रौद्र आदि रस वैदर्भी रीति के प्रयोग से उतनी मात्रा में खिल नहीं सके हैं जितनी मात्रा में वे तुलसी के रामचरित मानस में खिले हैं। श्रेष्ठ कवियों तथा कृतियों में अनेक प्रकार की शैलियाँ मिलती हैं अथवा अनेक शैलियों के अच्छे गुण मिलते हैं। वस्तुतः शैली के प्राण का सम्बन्ध कवि की भावात्मक स्थिति, मनोवृत्ति, अनुभूति, तत्त्वज्ञान, जीवन-परिस्थिति आदि से है। उसके शरीर का संबंध पद, बंध-गुण, अलंकार, समास आदि से है। सच्ची शैली भाषा या पदावली से

प्रभावित या परिवर्तित नहीं होती; वह भाषा को प्रभावित एवं परिवर्तित करती है। झूठी शैली वाले या प्रारंभिक लेखक भाषा से प्रभावित होकर अपना लेखन कार्य करते हैं। भाषा को प्रभावित करने की सामर्थ्य रीति में लेखक की भावात्मक प्रवृत्ति से आती है। जब भावात्मक प्रवृत्ति से भाषा का अभिसिंचन होता है तब सच्ची शैली का अंकुर स्फुरित होता है; तब वह नवीनता से अनुप्राणित होकर आत्मीयता से कवि के अंतर्जगत को व्यक्त करती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि शैली की नवीनता या भिन्नता का मूल स्रोत कवि के व्यक्तित्व में अंतर्निहित है, किसी बाह्य प्रयत्न या उपदेश में नहीं।

शैली स्वभाव की द्योतक है—इसका स्वतंत्र रूप से विवेचन रीतिवादी आचार्यों ने नहीं किया। इनके ग्रंथ प्रायः कवि-शिक्षा-पद्धति की दृष्टि से लिखे जान पड़ते हैं; उनमें कवि की दृष्टि से वास्तविक विवेचन कम है, यत्किंचित् है भी; वह आदर्श कवि-निर्माण की दृष्टि से। रसिक की दृष्टि से ही इन लोगों ने काव्य-तत्त्वों का विवेचन अधिक किया है। कुंतक के पूर्व की रीति-विवेचना में कवि प्रायः बाहर ही बाहर दिखाई पड़ता है। कवि के निसर्ग-सिद्ध तथा उपार्जित स्वभाव के आधार पर ही काव्य के मार्ग स्थिर होते हैं। इसका स्पष्टीकरण रीति-सम्प्रदाय-वादियों ने नहीं किया। कालिदास को वैदर्भी क्यों अधिक पसंद है तथा भारवि को गौड़ी क्यों अधिक प्रिय है; इसका विश्लेषण किसी ने नहीं किया। कवि का चरित संबंधी अध्ययन रीति-विवेचन में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है—इसे रीतिवादी आचार्य नहीं पहचान सके। रीति के कवि-निष्ठ रूप में उल्लिखित करके भी आचार्य उसका यथोचित विश्लेषण नहीं कर सके। रीति-विचार कवि-स्वभाव के मनोवैज्ञानिक अनुशीलन के बिना सम्यक् रूप में विवेचित नहीं हो सकता। इस दृष्टि से रीति वादियों का रीति-विवेचन अधूरा ही कहा जायगा, किन्तु इसके लिए हम रीतिवादी आचार्यों को अधिक दोष नहीं दे सकते, क्योंकि संस्कृत भाषा के कवियों की जीवनी उस समय उन्हें उपलब्ध नहीं थी। दूसरे मनो-विज्ञान सम्बन्धी सामग्री हमें जितनी आज सुलभ है उतनी प्राचीन काल

में प्राप्त नहीं थी। ऐसी परिस्थिति में रीतिवादी आचार्यों को उनकी मनोविज्ञान सम्बन्धी भूल या अभाव के लिए हम उन्हें अधिक दोष नहीं दे सकते। उपर्युक्त विवेचन का तात्पर्य यह भी नहीं है कि रीति सम्प्रदाय-वादियों के रीति-विवेचन में काव्य के बाह्यांग तत्त्वों की ही विवक्षा है। उसमें अंतरंग तत्त्वों का भी समावेश है किन्तु प्राधान्य है बाह्यांग तत्त्वों के निरूपण का ही। रीति कवि की वाङ्मय-मूर्ति है; उसके व्यक्तित्व की शब्दमयी प्रतिमा है; उसमें प्राण-प्रतिष्ठा का श्रेय काव्य के बाह्य तत्त्वों को नहीं अंतरंग तत्त्वों—रस आदि को ही है, किन्तु इसे रीतिवादी आचार्य पहचान नहीं सके। रीतिवादी आचार्यों का किसी रीति को उत्तम, किसी को मध्यम और किसी को अधम कहना अमनोवैज्ञानिक है। वस्तुतः सभी रीतियाँ पाठक या कवि को रसधाम तक पहुँचाती हैं, रस का द्वार खोलती हैं; कवि की आत्मा का दर्शन कराती हैं। जो रीति इन कार्यों में असफल या असमर्थ सिद्ध हो वह मध्यम या अधम है चाहे वह वैदर्भी ही क्यों न हो। रीतियों की संख्या निश्चित करना भी असंगत पूर्ण बात है। प्रत्येक कवि के साथ रीति में भिन्नता आ सकती है क्योंकि वह उसके स्वभाव पर आश्रित है।

काव्य में रीति को सर्व मानने का अर्थ है अभिव्यंजना-सौन्दर्य को काव्य में सर्वप्रमुख मानना। व्यावहारिक दृष्टि से इस प्रकार समीक्षा का मानदंड अभिव्यंजना-सौन्दर्य घोषित करना है; किन्तु समीक्षा का मानदंड केवल अभिव्यंजना का सौन्दर्य नहीं माना जा सकता। रीति-वादी आचार्यों ने काव्य में रीति-तत्त्व को अनुशासक तत्त्व के रूप में उपस्थित करने का प्रयत्न किया है। काव्य में रीति तत्त्व को अनुशासक कहने का अर्थ है अवयव द्वारा पूर्ण अवयवी का अनुशासन; किन्तु किसी अवयव द्वारा अवयवी के अनुशासन से अवयवी स्वस्थ नहीं रह सकता। अतः रीति तत्त्व द्वारा काव्य के अनुशासन से साहित्य या समीक्षा का स्वरूप स्वस्थ नहीं रह सकता।

ध्वनि-सम्प्रदाय

सामान्य दैनिक जीवन तथा साहित्य दोनों में भाषा के दो प्रकार के प्रयोग दिखाई पड़ते हैं—सूचनात्मक तथा भावात्मक। प्रथम प्रकार की भाषा सामान्य-कथन, वस्तु-विवरण, प्रमाणोल्लेख, प्रस्ताव-कथन, तथ्य-विश्लेषण तर्क आदि में दिखाई पड़ती है, विज्ञान, व्याकरण, भूगोल, इतिहास, आलोचना आदि में प्रयुक्त होती है। इस प्रकार की भाषा का उद्देश्य सूचना देना, तथ्य-कथन, ज्ञानप्राप्ति आदि है। भाषा के इस प्रकार के प्रयोग में शब्द अपने प्रचलित या रूढ़ अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। उनका एक निश्चित अर्थ होता है, किसी उक्ति में जितना कहा जाता है उतना ही अर्थ उन शब्दों से निकलता है। भाषा के इस पक्ष का प्रयोजन अर्थ बोध कराना मात्र रहता है[१]। किसी प्रकार की कल्पना का चित्र खड़ा करना नहीं, किसी प्रकार के भाव का उद्बोधन कराना नहीं। सूचनात्मक भाषा के प्रयोग में पद अपने पदार्थों का बोध जिस शक्ति-द्वारा कराते हैं उसे संकेतग्रह या अभिधा शक्ति कहते हैं[२]। यह शक्ति अर्थात् शब्द-अर्थ का यह सम्बन्ध लोक-व्यवहार से संकेत-ज्ञान होने पर उद्बुद्ध होता है। इसे वाच्य-वाचक भाव भी कहते हैं। पद-पदार्थ के सम्बन्ध का बोधक तत्त्व अर्थात् उनमें तादात्म्य स्थापित करनेवाला तत्त्व संकेत है[३]। इसी संकेत के सहारे शब्द अपने अर्थ की प्रतीति करता है। इसी कारण

---

१ *Psychology recognises two modes of mental operation in language :—the one comprehension of meaning and the other the formation of images.*

२ अस्मात् पदात् अयमर्थो बोद्धव्य इति ईश्वरेच्छा (संकेतः) शक्तिः।

(कारिकावली)

३ पदपदार्थयोः सम्बन्धान्तरमेव शक्तिः वाच्यवाचकभावापरपर्याया। तद्ग्राहकश्चेतरे तराध्यासमूलं तादात्म्यम्। तच्च संकेतरूपम् (मञ्जूषा)

इस शक्ति को संकेत-संग्रह भी कहते हैं। इस संकेत-ग्रह या अभिधाशक्ति की प्रक्रिया से जिस शब्द का जो अर्थ मान्य हो जाता है वह उस अर्थ का वाचक कहा जाता है और उससे निकलने वाला अर्थ वाच्य। यह अर्थ, योग्यता, आकांक्षा और आसत्ति से युक्त पदसमूहरचित वाक्य को सुनते ही उसी द्वारा ज्ञात हो जाता है[१]। वाच्यार्थ में रूढ़, या प्रमुख अर्थ निहित रहता है। जाति शब्द, गुण शब्द, क्रिया शब्द तथा यदृच्छा शब्द का बोध अभिधा शक्ति द्वारा होता है।

वाचक शब्द तीन प्रकार के होते हैं। रूढ़, यौगिक, योगरूढ़। मानव मस्तिष्क की जिगमिषा वृत्ति से अभिधा शक्ति उत्पन्न हुई तथा भावना-प्रधान सौन्दर्यप्रिय वृत्ति से लक्षणा एवं व्यंजना शक्तियों का विकास हुआ। मनुष्य ने अपने मस्तिष्क की भावना वृत्ति के कारण ही भावनात्मक भाषा का प्रयोग अपने दैनिक जीवन में आरम्भ किया जिसमें शब्द अपने रूढ़िगत अर्थों को छोड़कर नवीन अर्थों से ओत प्रोत हुए; कल्पना के नवीन दृश्य-विधान में समर्थ हुए; उसकी चमत्कारप्रिय सौन्दर्योपासक वृत्ति का साहचर्य पाकर कलात्मकता से समलंकृत होकर अर्थ-प्रसार के क्षेत्र को सुविस्तृत करने में समर्थ हुए। इस प्रकार वाचक शब्दों का अपने वाच्य अर्थों से भिन्न अर्थों में प्रयोग होने लगा; अर्थों के निश्चित शब्दगत प्रतिनिधित्व की शृंखला टूटने लगी। जब अभिधा शक्ति वाच्य से भिन्न अर्थ के बोध कराने में असमर्थ सिद्ध हुई तब अन्य अर्थ में उपचरित होनेवाली शब्द शक्ति अर्थात् लक्षणा शक्ति का आश्रय लेना पड़ा। इस प्रकार कुछ अन्यार्थक शब्द अन्य अर्थ में प्रयुक्त होने लगे और कुछ शब्द अपना विशेष अर्थ बोध कराने के लिए अपना मुख्य अर्थ खो बैठे। अन्य अर्थ में प्रयुक्त होने वाले शब्दों का जब तक मुख्य अर्थ से कुछ न कुछ सम्बन्ध रहा तब तक वे लाक्षणिक शब्द कहलाये और जब वे वाच्यार्थ या लक्ष्यार्थ से भिन्न विशिष्ट अर्थ को ध्वनित करने लगे और इस ध्वन्यार्थ का वाच्यार्थ से कोई सम्बन्ध नहीं रहा तब वे व्यंजक शब्द कहलाने लगे। इस प्रकार ध्वनि का अस्तित्व

१ वाक्यं स्याद्योग्यताकांक्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः। (साहित्यदर्पण)

मानव की वाणी में आदि काल से ही अन्तर्हित रहा है क्योंकि वह आरम्भ से ही भावनाशील रहा है। काव्याङ्गना के लावण्यशील देह में आत्म रूप में प्रतिष्ठित होकर वह अधिक महनीय सिद्ध हुई है। काव्यात्मक भाषा, भाषा के इसी दूसरे प्रकार के प्रयोग के विकास से उत्पन्न हुई[१]। इसीलिए काव्य में अभिधा की नहीं, वरन् लक्षणा और व्यंजना की प्रधानता मानी गई; लक्षणा और व्यञ्जना के प्राधान्य के कारण काव्य में कल्पना, चिन्तन, अनुभूति तत्त्वों का समावेश हुआ। यह मैं पहले कह चुका हूँ कि लक्षणा और व्यञ्जना शक्तियाँ भाषा के भावात्मक प्रयोग से सदा कल्पना का चित्र उपस्थित करती हैं। कल्पना के अभाव में लक्षणा या व्यंजना का प्रयोग संभव ही नहीं। चिन्तन के बिना शब्द, रूढ़ अर्थ को त्याग कर किसी नये या विशिष्ट अर्थ को धारण ही नहीं कर सकते। वास्तविक अनुभूति के बिना वक्ता या लेखक में भावाकुलता उत्पन्न नहीं हो सकती और भावाकुलता के बिना लक्षणा या व्यंजना का स्वाभाविक प्रयोग संभव नहीं। व्यंजना शक्ति, कविता में प्रभविष्णुता का ही नहीं वरन् रमणीयता एवं रागात्मकता का भी सन्निवेश कर देती है; हमारी भावनाओं एवं प्रवृत्तियों को उद्‌बुद्ध ही नहीं करती वरन् उन्हें तीव्रतर रूप में सक्रिय एवं सचेष्ट करने में सफल होती है; किसी विषय पर निरवधि काल तक निस्सीम काव्य के लिखने का अवसर प्रदान करती हैं; शब्दों में 'क्षणेक्षणेनवतामुपैति' वाली तरल कान्ति भर देती है; काव्य की आत्मा रस को ध्वनित करती है; कवि की प्रतिभा के सौरभ को दिगदिगन्त तक प्रसरित करती है; इसी लिए ध्वनि या व्यंग्यार्थ ध्वनिवादियों द्वारा काव्य की आत्मा रूप में स्वीकृत हुआ एवं उत्तम काव्य की कसौटी माना गया। जिस प्रकार ऊषा में ज्योति छिपी है, चन्द्रमा में चाँदनी बसती है, बादल में बिजली की कौंध छिपी है, रमणी के देह में लावण्य

---

१. *Language has two uses, the evocative and indicative; it evokes feelings or emotions and indicates objects. Poetic language, it is held, is a development of the former*

Language & Reality—by W. M Urban

अवगुंठित रहता[1] है, कली के परिस्फुटन में उसकी शोभा अन्तर्निहित है; उसी प्रकार कविता में ध्वनि बसती है। यह ध्वनि-तत्त्व न तो काव्यांङ्गना का कोई अवयव है और न उसका चारुत्व हेतु, वरन् यह उसका आत्म तत्त्व है जिससे वह रमणीय जीवन प्राप्त करती है।

निष्कर्ष यह कि शब्द की तीन शक्तियाँ हैं—अभिधा लक्षणा और व्यंजना। इन्हीं के अनुसार इन्हें ग्रहण करने वाले शब्द भी तीन प्रकार के होते हैं :—वाचक, लक्षक और व्यंजक। इन शब्दों के अनुसार ही अर्थ भी तीन प्रकार के होते हैं[2] :—वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ। वाच्य अर्थ कथित या अभिहित होता है। किसी वाक्य के सुनते ही उसी क्षण ज्ञात हो जाता है। वाच्यार्थ बोधक शब्द लोक-प्रचलित या रूढ़ अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। किसी शब्द के वाच्यार्थ का ज्ञान व्याकरण, उपमान, कोष, आप्तवाक्य, व्यवहार प्रसिद्धपदसान्निध्य, वाक्यशेष, विवृत्ति आदि अनेक कारणों से होता है[3]। यही अर्थ मुख्यार्थ कहा जाता है। इसी से उसको सिद्ध करने वाली शक्ति भी मुख्या या अग्रिमा मानी गई है। मुख्यार्थ के सहारे ही लक्ष्य और व्यंग्य अर्थों का बोध होता है। लक्षणा में मुख्यार्थ का बाध होने पर जो अन्य अर्थ ग्रहण किया जाता है उसका और मुख्यार्थ का कुछ योग या सम्बन्ध अवश्य रहता है। इसी को मुख्यार्थ का योग कहते हैं। जैसे, वह गधा है, नामक वाक्य में गधे के मुख्यार्थ के साथ गधे सदृश मनुष्य की बुद्धिहीनता, बेवकूफी, नासमझी का सादृश्य के कारण योग है।

---

१ प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु।
(ध्वन्यालोक) आनन्दवर्धन

२ अर्थाः वाच्यलक्ष्यव्यंग्याः। (मम्मट)

३ शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोषाप्तवाक्याद्व्यवहारतश्च।
सान्निध्यतः सिद्धपदस्य धीरा वाक्यस्य शेषाद्विवृतेर्वदन्ति।
(मुक्तावली)

मुख्यार्थ या अभिधा से लक्षणा का उपयुक्त प्रकार का योग होने के कारण ही इसे अभिधापुच्छभूता कहते हैं। कतिपय आचार्य लक्षणा को अभिधा का शक्य-सम्बन्ध मानते हैं[१]। मुकुलभट्ट लक्षणा की स्थिति अभिधा से पृथक नहीं मानते[२]। अभिधा ही व्यंजना का मूल आधार है। इसी के बल पर व्यंजना अपने साध्य अर्थ को व्यञ्जित करती है ध्वनिकार भी इस मत का समर्थन करते हुए दिखाई पड़ते हैं :—

आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवान जनः।
तदुपायतया तद्वदर्थे वाच्ये तदादृतः॥
यथा पदार्थद्वारेण वाक्यार्थः सम्प्रतीयते।
वाक्यार्थपूर्विका तद्वत्प्रतिपत्तस्य वस्तुनः॥

जैसे, आलोक की इच्छा रखनेवाला, आलोक के कारण-स्वरूप दीपशिखा की उपस्थिति के लिए यत्न करता है तद्वत् व्यंग्यार्थ चाहने-वालों को उसके (व्यंग्यार्थ के) पिता वाच्यार्थ बोध के लिए सर्वप्रथम प्रयत्न करना चाहिए। जिस प्रकार पदार्थोपस्थिति वाच्यार्थ-बोध के लिए कारण स्वरूप है उसी प्रकार व्यङ्गार्थ-बोध के लिए वाच्यार्थ प्रतीति भी। शुक्लजी काव्य में अभिधा की प्रधानता को स्वीकार करते हैं उनकी दृष्टि में वाच्यार्थ ही अयोग्य और अनुपपन्न होने पर लक्षणा या व्यञ्जना द्वारा योग्य तथा बुद्धिग्राह्य रूप में परिणत होकर हमारे सामने आता है[३]। इसीलिए बिम्बग्रहण का कार्य भी वे अभिधा द्वारा संभव[४] बतलाते हैं। महाकवि देव की दृष्टि में भी अभिधा उत्तम, लक्षणा मध्यम तथा व्यंजना अधम काव्य है[५]। कुछ आचार्य लक्ष्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ

---

१ लक्षणा शक्यसम्बन्धः। (मुक्तावली)

२ अत्र हि स्वार्थद्वारेण लक्ष्यमाणार्थाभिनिवेशिता शब्दानामुक्ता।
(अभिधावृत्तिमातृका)

३ इन्दौर का भाषण :—।

४ काव्य में रहस्यवाद।

५ अभिधा उत्तम काव्य है, मध्य लक्षणालीन।
अधम व्यञ्जना रसविरस, उलटी कहत प्रवीन॥ (देव)

को अभिधेयार्थ का तात्पर्य मानकर जहाँ तक शब्द द्वारा अर्थ बोध होता है वहाँ तक वे अभिधा का ही व्यापार मान लेते हैं। किसी भी वाक्य के शब्दों में अभिधा की शक्ति-योग्यता आकांक्षा, आसक्ति के संयोग से आती है। अभिधा शक्ति की इस विशेषता को यदि लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ बोधक वाक्यों से निकाल दिया जाय तो फिर उनसे लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ नामधेय अर्थों की उत्पत्ति नहीं हो सकती। जब लक्ष्यार्थ, व्यंग्यार्थ अभिधा की विशेषता से अनुप्राणित हैं, इसके बिना उनका अस्तित्त्व संभव ही नहीं तब उन्हें अलग मानने की क्या आवश्यकता है। व्यंजना के समर्थनार्थ इसका बड़ा सरल उत्तर दिया जा सकता है। जोड़ या बाकी से ही गणित या बीज गणित के सब प्रश्न तथा सूत्र बनते हैं किन्तु हम उन्हें जोड़ या बाकी ही तो नहीं कहते। माना कि अभिधा का व्याहत अयोग्य या अनुपपन्न होना ही लक्षणा या व्यंजना के उदय का कारण है किन्तु लाक्षणिक तथा व्यंजक अर्थों की स्थिति अभिधा से अलग मानी ही जायगी क्योंकि इनके साध्य, प्रक्रिया, स्थिति आदि में अन्तर है। व्यंजना के स्वतंत्र अस्तित्व-स्थापन का विचार आगे ध्वनि-विरोधी आचार्यों के मतों के खण्डन के समय किया जायगा। अतः उसका विस्तृत विवेचन यहाँ अनावश्यक समझकर दूसरे प्रसंग पर आता हूँ।

लाक्षणिक शब्द के अर्थ को बोध करानेवाली शक्ति को लक्षणा कहते हैं। लक्षणा शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से की जाती है। एक भाव प्रधान व्युत्पत्ति; जैसे लक्षणं लक्षणा। और दूसरी करण प्रधान व्युत्पत्ति; जैसे लक्ष्यते अनया इति लक्षणा। भावप्रधान व्युत्पत्ति से लक्ष्यार्थ ज्ञान की और करण प्रधान व्युत्पत्ति से लक्ष्यार्थ ज्ञान के उत्पादक व्यापार की प्रतीति होती है। भाव प्रधान व्युत्पत्ति ही अलंकार शास्त्र में ग्राह्य है। यह शक्ति शब्द में आरोपित है एवं अर्थ में स्वाभाविक रूप में बसती है। किसी व्यक्ति को उल्लू कहा जाय तो सामान्य बोध का बालक चकरा जायगा क्योंकि उल्लू शब्द से अर्थ का ज्ञान उसे एक पक्षी के रूप में अब तक प्राप्त है। यहाँ उल्लू शब्द, उल्लू जैसा मूर्ख, बेवकूफ अर्थ

देता है जो वाचक शब्द की शक्ति के बाहर है। यह काम लक्षक शब्द रूप में वही शब्द करता है। सादृश्य आदि सम्बन्ध से ऐसा करने में वह समर्थ होता है। उपर्युक्त विवेचन से तात्पर्य यह निकला कि मुख्यार्थ में बाधा या असंभवनीयता उत्पन्न होने पर रूढ़ि या प्रयोजन के आधार पर जिस शक्ति से मुख्यार्थ से सम्बन्ध रखनेवाला अन्य अर्थ लक्षित हो उसे लक्षणा कहते हैं। लक्ष्यार्थ के लिए तीन कारण आवश्यक हैं :—मुख्यार्थ की बाधा; मुख्य अर्थ से योग अथवा सम्बन्ध; रूढ़ि अथवा प्रयोजन। जिस प्रकार वाक्यगत शब्द के सुनते ही उसका वाच्यार्थ तुरत उपस्थित हो जाता है उस प्रकार लक्ष्यार्थ उपस्थित नहीं होता। वह तो उपर्युक्त कारणों के समुपस्थित होने पर ही उत्पन्न होता है। अर्थात् जब मुख्यार्थ से वक्ता या लेखक का अभिप्राय नहीं निकलता तब उस अभिप्राय को समझने के लिए रूढ़ि अथवा किसी विशिष्ट प्रयोजन से कोई ऐसा दूसरा अर्थ लिया जाय जिसका मुख्य अर्थ से सम्बन्ध हो वहाँ इसी दूसरे अर्थ को लक्ष्यार्थ कहते हैं। कहीं लक्ष्यार्थ रूढ़ि के कारण होता है और कहीं प्रयोजन के कारण। इस आधार पर लक्षणा के दो भेद किये गये हैं :—रूढ़ि लक्षणा और प्रयोजनवती। यदि कहा जाय कि भारत वीर है तो इस वाक्य में भारत का अर्थ देश न लेकर भारत के निवासी लेना लक्ष्य अर्थ है। इस वाक्य में भारत को रूढ़ अर्थ के आधार पर भारत के निवासी अर्थ लिया गया है। प्रयोजनवती लक्षणा का सुन्दर उदाहरण 'गंगायांघोषः' नामक संस्कृत की प्रसिद्ध उक्ति में मिलता है। 'गंगायांघोषः' का वाच्यार्थ गंगा पर (प्रवाह में) गाँव है। इस अर्थ में यह बाधा प्रतीत होती है कि गंगा पर (प्रवाह में) कोई गाँव कैसे हो सकता है। ऐसा गाँव कहीं देखा या सुना तो नहीं गया जो गंगा पर अर्थात् गंगा नदी की धारा पर स्थित हो। इस अर्थ सम्बन्धी कठिनाई को दूर करने के लिए गंगा पद का अर्थ लेते हैं गंगा का तट; यही लक्ष्यार्थ है। यहाँ गंगा शब्द अपने सामीप्य सम्बन्ध द्वारा अपने निकट तट का लक्षणा से बोध कराता है। 'गंगा का तट' यह अर्थ जिसे हम लक्ष्यार्थ कहते हैं—गंगा से सम्बद्ध है। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि

गंगा पर कहने के स्थान पर गंगातट ही क्यों नहीं कहा गया। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्यों ने बताया है कि 'गंगातट पर घोष है' इस वाक्य से उस घोष की पवित्रता, शान्ति और शीत की उतनी प्रतीति नहीं होती जितनी गंगा पर घोष कहने से होती है। अत्यधिक पवित्रता, शान्ति तथा शैत्य की प्रतीति कराने के प्रयोजन से ही गंगातटेघोषः न कह कर गंगायांघोषः कहा गया। यहाँ इस अधिकता का बोध कराना ही लक्षणा का प्रयोजन है। अतः यह प्रयोजनवती लक्षणा है।

लक्षणा शक्यार्थ या वाच्यार्थ के प्रचलन या प्रयोजन के अनुसार, उससे सम्बन्ध रखनेवाले अर्थ को व्यञ्जित कराती है। इसी लिए कुछ आचार्य शक्य सम्बन्ध को ही लक्षणा नाम से पुकारते हैं। किन्तु सम्बन्ध जोड़ने में सदा तात्पर्य पर दृष्टि रहनी चाहिए। जहाँ तात्पर्य सिद्ध नहीं होगा वहाँ सम्बन्ध को खींच खाँच कर लाने से नेयार्थत्व दोष आ जायगा। इससे यह सिद्ध हुआ कि वाच्यार्थ से यथायोग्य सम्बन्ध लक्षणा का शरीर है। जब किसी एक अभिधेयार्थ का सम्बन्ध दूसरे अर्थ से जुड़ेगा तभी वह दूसरा अर्थ पहले अभिधेयार्थ के वाचक शब्द का लक्ष्यार्थ कहा जायगा। अतः लक्षणा के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए उसके सम्बन्ध-स्वरूप को स्पष्ट करना अत्यन्त आवश्यक है। किन्तु किस रूढ़ि या प्रयोजन से वक्ता या लेखक किस प्रकार का सम्बन्ध जोड़ बैठेगा इसका ठीक निश्चय नहीं किया जा सकता। अतः वाच्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ के सम्बन्धों की निश्चित संख्या नहीं दी जा सकती तथापि आचार्यों ने कुछ प्रसिद्ध संभावित सम्बन्धों का उल्लेख किया है:— जैसे; तात्स्थ्य (उस पर स्थित होने का सम्बन्ध) मचान हँसते हैं। २— ताद्धर्म्य, (उसके धर्म रखने का सम्बन्ध) लड़का सिंह है। ३—तत्सा-मीप्य—(उसके समीप रहने का सम्बन्ध) गंगा में गाँव है। ४— तत्साहचर्य (उसके साथ होने का सम्बन्ध) जैसे लाठियों को आने दो। भर्तृहरि ने इनके अतिरिक्त तादर्थ्य (किसी व्यक्ति या वस्तु का किसी व्यक्ति या वस्तु के लिए होना) नामक पाँचवें सम्बन्ध का उल्लेख किया है। इनके अतिरिक्त तात्कर्म्य, वैपरीत्य, सामान्य

विशेषभाव, प्रेयप्रेरकभाव, आधाराधेयभाव स्व-स्वामिभाव, कार्य-कारणभाव आदि भी प्रसिद्ध लक्षणा-साधक सम्बन्ध हैं। सम्बन्ध-भेद, अर्थभेद पर निर्भर करता है। अतः अर्थभेद से सम्बन्ध भेद होना निश्चित है। इन सम्बन्ध भेदों के आधार पर लक्षणा के अनेक भेद किये जाते हैं।

ध्वनि सम्प्रदाय का सम्पूर्ण भवन व्यञ्जना शक्ति के आधार पर खड़ा है, अतः इसका विस्तृत एवं स्पष्ट ज्ञान आवश्यक है। व्यंजन शब्द वि उपसर्ग अञ्ज धातु अन प्रत्यय से बना है जिसका अर्थ है प्रगट करना, स्पष्ट करना (प्रकाशन), शब्द-शक्ति वाचक होने से इसका स्त्री लिङ्ग रूप व्यञ्जना है। जिसका अर्थ हुआ प्रगट करने वाली या प्रगट होनेवाली। साधारण अञ्जन आँख की ज्योति को बढ़ा देता है, अप्रगट वस्तु को प्रगट कर देता है उसी प्रकार व्यंजना का अभ्यास रसिक या आलोचक की तत्त्वाभिनिवेशी दृष्टि को बढ़ा देता है तथा वाच्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ के अतिरिक्त एक विशेष अर्थ का बोध कराता है। अभिधा और लक्षणा के अपना अपना कार्य कर चुकने पर अर्थात् अपना अपना अर्थ—वाच्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ का बोध करा लेने पर जिस शक्ति द्वारा अन्य अर्थ का बोध होता है उसे व्यञ्जना कहते हैं। इस व्यञ्जना-व्यापार का नाम ध्वनन, गमन और प्रत्यायन भी है। इस व्यापार से जाने हुए अर्थ के नाम व्यंग्यार्थ, ध्वन्यार्थ, सूच्यार्थ, प्रतीयमानार्थ, आक्षेपार्थ आदि हैं। यह अर्थ न तो कथित होता है और न लक्षित; किन्तु यह व्यञ्जित, ध्वनित या सूचित होता है। अभिधा और लक्षणा तो शब्द के व्यापार हैं पर व्यंजना शब्द तथा अर्थ दोनों का व्यापार हैं; इससे शब्द, वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ सभी व्यञ्जक होते हैं। व्यञ्जना शब्द या अर्थ तक ही सीमित नहीं, किन्तु वह प्रकृति, प्रत्यय, उपसर्ग, चेष्टा आदि में भी समाहित रहती है। वाचक, लाक्षणिक और व्यञ्जक शब्दों का अलग अलग होना अपेक्षित नहीं, अर्थात् जो शब्द वाचक होता है, वही लाक्षणिक और व्यञ्जक भी हो सकता है। जैसे 'गंगायाम् घोषः' में जब गंगायाम् (गंगा पर) पद प्रवाह का बोध कराता है तब वह वाचक है; जब तट का बोध कराता है तब लाक्षणिक और जब शान्ति,

पवित्रता और शैत्य की प्रतीति कराता है तब व्यञ्जक है। आचार्य मम्मट के कथनानुसार व्यंग्यार्थ (ध्वनि) को समझने के लिए विमल-प्रतिभा, विदग्ध व्यक्तियों का साहचर्य और प्रकरण, ज्ञान आदि अत्यन्त आवश्यक हैं। मम्मट ने ध्वनि-स्वरूप का निरूपण करते हुए लिखा है :—

वक्तृ बोधव्य काकूनां वाक्य वाच्यान्यसंन्निधे :।
प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात् प्रतिभाजुषाम्।
योऽर्थस्यान्यार्थधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तरेव सा।

वक्ता, श्रोता, ध्वनि का विकार, वाक्य, वाच्य, समीपवर्ती मनुष्य, प्रकरण, देश, काल आदि की विशिष्टता की ओर दृष्टिपात करते हुए प्रतिभाशाली, व्यक्ति को वाच्यार्थों और लक्ष्यार्थों के अतिरिक्त जिस अर्थ की प्रतीति होती है, उसके कारण स्वरूप जो अर्थ का व्यापार है वही व्यञ्जना है। किसी वाक्य के व्यंग्यार्थ को समझने के लिए उपर्युक्त सभी बातों पर ध्यान रखना आवश्यक है। वक्ता के व्यक्तित्त्व का व्यंग्य अर्थ पर जो प्रभाव पड़ता है, उसका परिचय तुलसीदास की निम्नाङ्कित चौपाइयों से मिलता है।

"करन चहउँ रघुपति गुन गाहा। लघु मति मोर चरित अवगाहा।।
सूझ न एकउ अंग उपाऊ। मन मति रंक मनोरथ राऊ।।
मति अति नीच ऊँचि रुचि आछी। चहिअ अमिय जग जुरइ न छाछी।।
छमिहहिँ सज्जन मोरि ढिठाई। सुनिहहिँ बालबचन मन लाई।।"

उपर्युक्त चौपाइयों का वाच्यार्थ सरल है अत: उसको लिखने की यहाँ आवश्यकता नहीं। केवल इन चौपाइयों की व्यंजना पर विचार कीजिए। इन चौपाइयों के लेखक हिन्दी के सर्व श्रेष्ठ कवि तुलसीदास हैं। अत: उनका इस प्रकार कहना कि मेरी बुद्धि अत्यन्त छोटी है, नीच है, रघुपति गुण अथाह है; वह मेरे लिए उसी प्रकार दुर्लभ है जिस प्रकार छाछ न पाने वाले के लिए अमृत। उनके चरित गान का प्रयत्न करना मेरी धृष्ठता है। फिर भी सज्जन लोग मेरी कविता को बालबचन समझ कर

अपनायेंगे। तुलसीदास जी का उपर्युक्त ढङ्ग से कहना उनकी विनय को ध्वनित करता है। यदि कोई साधारण कवि ऐसा कहता है तो ध्वनि निकलती कि वह अपनी कमी का अनुभव करते हुए अपनी त्रुटियों के लिए क्षमायाचना कर रहा है। इसी प्रकार व्यंग्य अर्थ समझने के लिए पहले गिनाई हुई अन्य बातों का ध्यान रखना पड़ता है।

व्यंजना दो प्रकार की होती हैं:—शाब्दी तथा आर्थी। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि जब शब्द और अर्थ परस्पर अन्योन्याश्रित हैं, काव्य में शब्द और अर्थ का संश्लेषण रहता है, और व्यञ्जना में शब्द और अर्थ दोनों का व्यापार रहता है तब यह शाब्दी और आर्थी व्यञ्जना का भेद कैसे संभव है? यह निर्विवाद सत्य है कि शब्द से बोधित होकर ही अर्थ अभिव्यञ्जित होता है और शब्द भी अर्थ का ही आश्रय लेकर व्यञ्जक होता है। अतः शब्द और अर्थ में जहाँ एक व्यञ्जक होता है वहाँ दूसरा अवश्य उसका सहकारी होता है। एक की व्यञ्जकता में दूसरे का सहयोग अनिवार्य है।

शब्दबोध्यो व्यनक्त्यर्थः शब्दोऽप्यर्थान्तराश्रयः।
एकस्य व्यञ्जकत्वे तदन्यस्य सहकारिता (साहित्यदर्पण।)

तात्पर्य यह कि केवल शब्द द्वारा या केवल अर्थ द्वारा व्यञ्जना का व्यापार नहीं हो सकता। शाब्दी व्यञ्जना में शब्द की प्रधानता रहती है और आर्थी में अर्थ की। प्रधानता ही इसके भिन्न भिन्न नाम का कारण है। शाब्दी व्यञ्जना विशिष्ट शब्द पर विशेष रूप से आश्रित रहती है जहाँ उस विशिष्ट शब्द के स्थान पर उसका पर्यायवाची रखा गया वहाँ वह नहीं रह जाती।

लाज गहौ बेकाज का, घेरि रहे, घर जाहिँ।
गोरसु चाहत फिरत हौ, गोरसु चाहत नाहिँ।

यहाँ गोरसु शब्द में इन्द्रिय-सुख का अर्थ बोध करानेवाली जो शक्ति है वह व्यंजना है। और यह व्यंजना गोरसु शब्द रखने पर ही संभव है। गोरसु का पर्यायवाची रखने पर यह व्यंजना खत्म हो जाती है। आर्थी

व्यंजना शब्दविशेष पर अवलम्बित नहीं रहती। इस व्यंजना से सूचित व्यंग्य अर्थ-जनित रहता है। आर्थी व्यञ्जना वक्ता, श्रोता, अन्यसन्निधि, वाच्य, प्रकरण, देश, काल, काकु (कंठध्वनि) चेष्टा आदि की विशेषताओं के कारण व्यंग्यार्थ की प्रतीति कराती है।

लखन तुम्हार सपथ पितु आना।
सुचि सुबन्धु नहि भरत समाना।

इसका अर्थ है—हे लक्ष्मण मैं तुम्हारी और पिता की शपथ खाकर कह सकता हूँ कि भरत जैसा पवित्र और अच्छा भाई और कोई नहीं है। इन बातों से प्रकरण के अनुसार यह व्यंग्य निकलता है कि तुम्हारा विचार (भरत चाहता है कि वह अयोध्या का निष्कंटक राज्य करे, आप आज्ञा दीजिए तो उसे मारडालूँ आदि) अनुचित है। तुम्हीं में अनन्य भ्रातृ भक्ति नहीं भरत में भी है। यह व्यंग्य प्रकरण विशिष्ट से उत्पन्न है। उपर्युक्त चौपाई में किसी भी शब्द को उसके पर्यायवाची से बदलने पर भी यह रहेगी।

शाब्दीके दो भेद हैं—अभिधामूला तथा लक्षणामूला। अभिधा-मूला अभिधा के आश्रित रहती है। इसमें व्यंग्यार्थ के लिए अभिधा का आश्रय लिया जाता है। लक्षणामूला लक्षणा के आश्रित रहती है। इसमें व्यंग्यार्थ के लिए लक्षणा का आश्रय लिया जाता है। अभिधा-मूला के पन्द्रह, लक्षणा—मूला के बत्तीस तथा आर्थी व्यंजना के मुख्य तीस भेद होते हैं। इनके भेदों, उपभेदों की परिभाषा, उदाहरण आदि के उल्लेख से अनावश्यक विस्तार होगा; इसलिए इस प्रसंग को यहीं समाप्त कर ध्वनि-सम्प्रदाय का प्रकरण आरम्भ करना आवश्यक है। ध्वनि-सम्प्रदाय के सम्यक् विवेचन के लिए ध्वनि शब्द की व्युत्पत्ति, ध्वनि की परिभाषा उसकाउद्गम एवं इतिहास, ध्वनि का स्वरूप, काव्य के अन्य तत्त्वों से उसका सम्बन्ध, काव्य में ध्वनि की आवश्यकता, कार्य, महत्त्व, विशेषता आदि पर विचार करना चाहिए।

ध्वनि शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ कई प्रकार से किये जाते हैं उनका ज्ञान ध्वनि सिद्धान्त के परिचय के लिए आवश्यक है। ध्वन्यते अनेन इति ध्वनिः। जिस शब्द-शक्ति द्वारा ध्वनि की उत्पत्ति होती है वह ध्वनि है। इस व्युत्पत्त्यर्थ से व्यंजना आदि शब्द शक्तियों का बोध होता है। इसमें उस अर्थ-प्रक्रिया की ओर संकेत है जिससे ध्वन्यार्थ उत्पन्न होता है।

ध्वननं (ध्वन करणे ल्युट) ध्वनिः। ध्वनित होना ध्वनि है। इससे रस, वस्तु, अलंकारादि के अभिव्यंजन-ध्वनन या सूचन का बोध होता है। यह व्युत्पत्त्यर्थ ध्वनि के कार्य की ओर संकेत करता है।

ध्वनति ध्वनयति इति वा ध्वनिः। जो ध्वनित करे या कराये वह ध्वनि है। यह व्युत्पत्त्यर्थ उन वाचक, लक्षक, व्यंजक शब्दों का बोध कराता है जो किसी व्यंग्य अर्थ के व्यंजक होते हैं।

ध्वन्यत इति ध्वनिः। जो ध्वनित हो वह ध्वनि है। यह ध्वनि शब्द रसादि व्यंग्यों का वाचक है; वस्तु, अलंकार, रस, आदि ध्वनित होते हैं अतः ये सब ध्वनि हैं।

ध्वन्यत अस्मिन्निति ध्वनिः। जिसमें वस्तु, अलंकार, रसादि ध्वनित हों। यह व्युत्पत्त्यर्थ व्यंग्य अर्थप्रधान काव्य या कृति की ओर संकेत करता है।

किसी भी वाच्यातिशायी व्यंग्य को ध्वनि कहते हैं[१]। इसमें व्यंजनावृत्ति से प्रतिपादित अर्थ अभिधा वृत्ति द्वारा प्रतिपादित अर्थ से अधिक चमत्कारजनक रहता है। किन्तु वाच्यातिशायी व्यंग्य को सूचित करनेवाला वही शब्द, वाक्य या छन्द ध्वनि काव्य कहा जायगा जो रस को मुख्य प्रयोजन बनाकर उसकी निष्पत्ति या व्यंजना के लिए शब्द और अर्थ का कलात्मक संश्लेषण करने में समर्थ हो।

---

१ वाच्यातिशयिनि व्यंग्ये ध्वनिस्तत्काव्यमुत्तमम् (साहित्यदर्पण—चतुर्थ परिच्छेद कारिका १)

यद्यपि किसी भी शब्द या वाक्य से वक्ता, श्रोता, प्रकरण, काकु, देश, काल, अन्यसाहचर्य आदि की विशिष्टता के अनुसार किसी न किसी प्रकार का व्यंग्यार्थ निकालना संभव है किन्तु सभी शब्द या वाक्य ध्वनि काव्य नहीं कहे जा सकते वरन् वे ही शब्द या वाक्य काव्य माने जायेंगे जो विशिष्ट गुणों से समन्वित होकर विशिष्ट ढंग से उपनिबन्धित हों एवं जहाँ शब्द या अर्थ अपने अभिप्राय की प्रधानता को त्याग कर स्वयं साधन बन कर चारुता प्रतिपादक किसी व्यंग्यार्थ को साध्य रूप में अभिव्यक्त[१] करें। जैसे किसी रमणी का लावण्य उसके शरीरावयवों से व्यक्त होने पर भी उनसे अलग है तद्वत् ध्वनि काव्यावयवों—शब्द, अर्थ, रीति, अलंकार आदि से व्यक्त होने पर भी उनसे सर्वथा स्वतंत्र है।[२]

यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि कोई भी व्यंग्योक्ति या व्यंग्यपूर्ण छन्द-बद्ध रचना ध्वनि काव्य नहीं मानी जायगी जब तक कि उसमें व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से प्रधान एवं अधिक चमत्कारपूर्ण[३] न हो, वह व्यंग्यार्थ सरलता से प्रतीत न होता हो[४], उसमें शब्द और अर्थ विशिष्ट गुणों से समन्वित होकर विशिष्ट ढंग से उपनिबन्धित न हों, उसका मुख्य प्रयोजन किसी न किसी रस की व्यंजना करना न हो। 'गंगायांघोष:' जैसी उक्तियाँ वक्ता, प्रकरण, देश, काल, साहचर्य आदि के अनुसार व्यंग्योक्ति कही

---

१ यत्रार्थ: शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यक्त: काव्यविशेष: स ध्वनिरिति सूरिभि: कथित:। (ध्वन्यालोक)

२ प्रतीयमानं पुनरन्यदेववस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धं अवयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु (वही)

३ चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना ही वाच्यव्यंग्ययो: प्राधान्यविवक्षा।
(ध्वन्यालोक)

४ यत्रप्रतीयमानोऽर्थ: प्रक्लिष्टत्वेन भासते।
वाच्यस्याङ्गतया वापि नास्यासौ गोचरोध्वने:॥
(साहित्य दर्पण)

जा सकती हैं, ध्वनि काव्य नहीं। ध्वनि काव्य का एक उदाहरण नीचे देखिए।

पुर तें निकसीं रघुबीर बधू धरि धीर दये मग में डग द्वै।
झलकीं भरी भाल कनी जल की पुट सूखि गये मधुराधर वै॥
फिरि बूझति हैं चलनो अब केतिक पर्नकुटी करिहौ कित ह्वै।
तिय की लखि आतुरता पिय की अँखियाँ अति चारु चलीं जलच्वै॥

उपर्युक्त सवैये में व्यंग्यार्थ (सीता और राम का एक दूसरे के प्रति प्रकृष्ट प्रेम) वाच्यार्थ (सीता जी अयोध्या से निकलते ही थक गईं; उनके ललाट पर स्वेद बिन्दु आ गये; ओठ सूख गये; इनकी थकावट को देख कर राम की आँखों में विषादपूर्ण आँसू आ गये आदि) से प्रधान एवं अधिक चमत्कारक है। व्यंग्यार्थ कठिनाई से प्रतीत नहीं होता। इस सवैये का मुख्य प्रयोजन शुद्ध श्रृंगार की व्यंजना करना है। उपर्युक्त सवैये में शब्द और अर्थ भी विशिष्ट गुणों से समन्वित होकर विशिष्ट ढंग से उपनिबन्धित हैं। अतः उपर्युक्त सवैया ध्वनि काव्य का उपयुक्त उदाहरण है।

ध्वनि का इतिहास

भारतवर्ष में अर्थ सम्बन्धी सिद्धान्तों तथा मतों का उद्भव एवं विकास मूलतः व्याकरण-दर्शन के प्रसंग में हुआ। इस विषय का सबसे प्रामाणिक ग्रन्थ भर्तृहरि का 'वाक्यपदीयम्' माना जाता है। भर्तृहरि ने स्वयं अपने मतों को प्राचीन परम्परा पर आधारित माना है[१] और इस परम्परा का स्रोत पाणिनी तक जोड़ने का प्रयत्न किया है। काश्मीर में बहुत

---

१ वाक्यपदीयम् अधिकांश मात्रा में व्याकरणाङ्गम् के सारांश पर आधारित है। (व्याकरणाङ्गम् कुछ विद्वानों की दृष्टि में भर्तृहरि के गुरु बसुरात द्वारा लिखा गया और कुछ विद्वानों की दृष्टि में रावण द्वारा)।

प्राचीन काल से ही व्याकरण का अध्ययन विज्ञान तथा दर्शन दोनों रूपों में प्रचलित था। कल्हण ने अपनी राजतरंगिणी में लिखा है कि महाभाष्य का अध्ययन काश्मीर में ईसा के ३३६ वर्ष पूर्व अभिमन्यु द्वारा प्रचलित किया गया। पुण्यराज ने अपनी टीका में वाक्यपदीय के द्वितीय अध्याय के सारांश का उल्लेख किया है जो राजानक शूरवर्मा द्वारा लिखा गया था। सोमानन्द ने अपनी शिव दृष्टि में भर्तृहरि के दोषों का उल्लेख किया है। अति प्राचीन काल से ही काश्मीर में व्याकरण के अत्यधिक अध्ययन तथा अध्यापन के प्रचलन के कारण ही ध्वनि का अनुसन्धानक आचार्य काश्मीर में उत्पन्न हुआ तथा अर्थ सम्बन्धी विभिन्न मतों एवं सिद्धान्तों का विकास प्राय: काश्मीरी आचार्यों द्वारा हुआ। ध्वनि के अनुसन्धानक आचार्य के विषय में संस्कृत आचार्यों में भले ही मतभेद हो[1] किन्तु उसके जन्म स्थान के विषय में सभी एक मत हैं और उसे काश्मीर का रहनेवाला सिद्ध करते हैं।

ध्वनि के भीतर भाषा का अर्थ-विचार सम्बन्धी प्रश्न छिपा हुआ है। यह प्रश्न भाषा विज्ञान की दृष्टि से पहले विवेचित हुआ था, काव्य शास्त्र की दृष्टि से बाद को। भाषा-विज्ञान में शब्दशक्ति के प्रसंग में भाषा सम्बन्धी व्यंग्यात्मक उक्तियों पर विचार किया जाता है किन्तु काव्य शास्त्र में व्यंग्यप्रधान रसात्मक अभिव्यक्ति पर। काव्य शास्त्र में ध्वनि का इतिहास लगभग ३०० वर्षों के बीच बिखरा हुआ मिलता है। इन तीन सौ वर्षों के लेखकों को हम तीन भागों में बाँट सकते हैं। प्रथम वे, जिन्होंने ध्वनि का अन्तर्भाव लक्षणा के भीतर किया; द्वितीय वे, जो इसके समर्थक थे; तृतीय वे, जो इसके विरोधी थे। अधिकांश विद्वानों

---

१ (क) डाक्टर कीथ और डाक्टर डे आनन्दवर्धन को ध्वन्यालोक का कारिकाकार नहीं मानते। केवल उन्हें वृत्तिकार मानते हैं।

(ख) डा० संकरन आनन्दवर्धन को कारिकाकार तथा वृत्तिकार दोनों मानते हैं।

का यह मत है कि उद्भट के किसी पूर्ववर्ती आचार्य ने आठवीं सदी के प्रथम अर्द्धकाल में ध्वनि का अनुसंधान किया होगा। आठवीं सदी से लेकर ग्यारहवीं सदी तक संस्कृत साहित्य-शास्त्र में ध्वनि का इतिहास बिखरा हुआ मिलता है। ध्वनि सिद्धान्त के अनुसन्धानक आचार्य का नाम, स्थान, काल, वृत्तान्त आदि निश्चित रूप में ज्ञात नहीं। कतिपय विद्वानों का मत है कि उसका नाम कदाचित सहृदय था और वह काश्मीर का रहने वाला था। उसने अपने समकालीन व्यक्तियों से ध्वनि की चर्चा की होगी। कुछ विद्वान उससे सहमत हुए होंगे और कुछ असहमत। इस प्रकार काव्य-शास्त्र में ध्वनि विषयक विरोध का सूत्रपात हुआ होगा।

आठवीं सदी के द्वितीय अर्द्ध काल में आचार्य उद्भट तथा वामन ने लक्षणा के भीतर व्यंजना का अन्तर्भाव किया। इनके ध्वनि सम्बन्धी ये विचार काव्यशास्त्र सम्बन्धी इनके ग्रन्थों में अंकित हैं किन्तु वहाँ ध्वनि-तत्त्व अपनी अविकसित अवस्था में दिखाई पड़ता है। ध्वनि-कारिका के पूर्व ध्वनि-समर्थक या ध्वनि-विरोधी दृष्टिकोणों को उपस्थित करने वाली कोई पुस्तक नहीं मिलती। ध्वनिवाद के अनुयायियों तथा विरोधियों का समर्थन एवं खण्डन मौखिक रूप में ही एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में चला आ रहा था। ध्वनि-सिद्धान्त के विरोधी आचार्यों के मतों का कोई व्यवस्थित रूप लिखित रूप में आनन्दवर्धन के पूर्व नहीं मिलता; यत्र तत्र कुछ अस्फुट एवं अव्यवस्थित रूप में कहीं कहीं अंकित मिल जाता है।[१] ध्वन्यालोक के पश्चात् ध्वनिविरोधी एवं

---

१ (क) मनोरथ कवि ने ध्वनि विरोधी आचार्यों के कुछ मतों का स्फुट रूप में उल्लेख किया है।

(ख) नैयायिक और मीमांसक भी व्यंजना को पृथक वृत्ति नहीं मानते। किन्तु इन दोनों संप्रदायों के विद्वानों ने ध्वनि का खण्डन प्रसंग रूप में ही किया है, किसी ग्रन्थ रूप में नहीं।

ध्वनि-समर्थक आचार्यों के अनेक मत एवं ग्रंथ व्यवस्थित रूप में निकले। किसी ग्रन्थ के रूप में ध्वनि का श्रृंखलाबद्ध और व्यवस्थित विवेचन न मिलने पर भी आनन्दवर्धन ने अपने ग्रंथ ध्वन्यालोक में सुव्यवस्थित, गंभीर तथा तार्किक विवेचन किया है तथा ध्वनि विरोधियों को मुहतोड़ उत्तर दिया है। संस्कृत काव्य-शास्त्र के सभी इतिहासकार एक स्वर से आनन्दवर्धन को ध्वन्यालोक का वृत्तिकार मानते हैं किन्तु कारिकाओं के लेखक के सम्बन्ध में मतभेद है। डाक्टर कीथ और डाक्टर डे आनन्दवर्धन को कारिकाकार नहीं मानते; और इस मत के समर्थन के लिए अभिनवगुप्त की लोचन-व्याख्या को प्रमाण-रूप में उपस्थित करते हैं। पर कुछ विद्वान, जैसे डाक्टर संकरन, अभिनवगुप्त की उसी लोचन-व्याख्या के आधार पर प्रमाणपूर्वक यह सिद्ध करते हैं कि ध्वन्यालोक के कारिकाकार तथा वृत्तिकार आचार्य आनन्दवर्धन ही हैं। इन उपर्युक्त विरोधी मतों के रहते हुए भी ध्वनि-सम्प्रदाय के प्रथम प्रामाणिक आचार्य आनन्दवर्धन ही माने जाते हैं। आनन्दवर्धन भी इस बात से सहमत हैं कि भारतीय साहित्य-संसार में ध्वनि की परम्परा उनके आगमन के पूर्व प्रचलित थी। "काव्यस्यात्माध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातः पूर्वः[१]" से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि ध्वन्यालोक के प्रणयन के पूर्व ही ध्वनि-तत्त्व विद्वानों द्वारा मान्य हो चुका था। ध्वन्यालोक की वृत्ति में भी आनन्द ने इस सिद्धान्त को परम्परा से मान्य कहा[२] है। अभिनवगुप्त ने ध्वनि-सिद्धान्त पर ध्वन्यालोक के पूर्व किसी ग्रन्थ का होना स्वीकार नहीं किया है; पर ग्रन्थ के अभाव में सिद्धान्त-परम्परा मानी है।

---

१ ध्वन्यालोक — कारिका नं० १

२ बुधैः काव्यतत्त्वविद्भिः काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति संज्ञितः परम्परया यः समाम्नातः समाख्यातः (ध्वन्यालोक वृत्ति)

ध्वनि शब्द का प्रयोग काव्य शास्त्रियों के पूर्व वैयाकरण कर चुके थे। महाभाष्य का "प्रतीतिपदार्थकोलोकेध्वनिः शब्द उच्यते[१]" नामक सूत्र इस बात को प्रमाणित करता है। भर्तृहरि के अनुसार वर्णों के संयोग एवं वियोग से निर्मित शब्द से उत्पन्न स्फोट को ध्वनि कहते हैं[२]। ध्वनन से जिस अखण्ड शब्द की व्यंजना होती है उसी को ध्वनि कहते हैं। जिस प्रकार वर्णों द्वारा अभिव्यंजित स्फोट को ध्वनि कहते हैं तदवत्-काव्य में शब्दों या अर्थों द्वारा अभिव्यंजित अर्थ को ध्वनि कहा गया।

आनन्दवर्धन ने वैयाकरणों को प्रतिष्ठा प्रदान करते हुए लिखा है :—

प्रथमो हि विद्वांसो वैयाकरणाः। व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम्। तेच श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति।

अर्थात् व्याकरण के आचार्य ही प्रथम विद्वान् हैं। व्याकरण ही सब विद्याओं का मूल है। वैयाकरण मानते हैं कि सुने जाते हुए वर्णों में ध्वनि होती है। अर्थात् वे लोग प्रत्यक्षर में ध्वनि मानते हैं। वैयाकरण ने सम्भवतः ई० सदी के ५०० वर्ष पूर्व ही जिस स्फोट-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था वही काव्य-शास्त्र में ध्वनि-सिद्धान्त का आधार माना गया। इस सम्बन्ध में मम्मट की उक्ति भी ध्यान देने योग्य है:—

"बुधैर्वैयाकरणैः प्रधानभूतस्फोटरूप व्यंग्यव्यंजकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः।"

अर्थात् विद्वान् वैयाकरणों ने उस शब्द को ध्वनि बतलाया है जो प्रधानतः स्फोट स्वरूप व्यंग्य का व्यंजक होता है। कहने का तात्पर्य यह

---

१ जिसके पद का अर्थ प्रतीतिपदार्थक हो उसे ध्वनि करते हैं।
प्रतीति प्रधानं पदं इति प्रतीतिपदं। प्रतीति पदमेव अर्थोयत्र स प्रतीतिपदार्थकः। चमत्कारपूर्णपद जो है उसका अर्थध्वनि है। यहाँ प्रतीति का अर्थ चमत्कारपूर्ण अर्थ से है।

२ यः संयोग वियोगाभ्यां करणैरुपजायते।
स स्फोट शब्दजः शब्दो ध्वनिरित्युच्यते। वाक्यपदीयम्

कि ध्वनिकार तथा मम्मट दोनों ने अपने ध्वनि सिद्धान्त के विवेचन में वैयाकरणों के स्फोट सिद्धान्त से पर्याप्त सहायता ली है। व्याकरण के अतिरिक्त वेदान्तदर्शन में भी ध्वनि-सिद्धान्त की चर्चा मिलती है, जहाँ एक ब्रह्म से सारी सृष्टि की अभिव्यक्ति व्यंजना रूप में मानी गई है।

ध्वनिकार ने किसी मौलिक मत का प्रतिपादन नहीं किया है वरन् चिरपरम्परा से प्राप्त सिद्धान्त की वैज्ञानिक ढंग से स्थापना करके सुव्यवस्थित ढंग से उसका विश्लेषण कर दिया है। तात्पर्य यह कि आनन्दवर्धन को श्रेय ध्वनि सिद्धान्त के मौलिक प्रतिपादन का नहीं वरन् उसको सुव्यवस्थित करने का ही मिल सकता है। ध्वन्यालोक में कुल १२१ कारिकायें हैं। वर्ण्य की दृष्टि से इन कारिकाओं का चार उद्योतों में विभाजन है। प्रथम उद्योत में ध्वनि विरोधी आचार्यों की आलोचना करके ध्वनि-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की गई है। दूसरे तथा तीसरे में ध्वनि के भेदों का वर्णन किया गया है, चौथे उद्योत में ध्वनि की उपयोगिता का निदर्शन किया गया है।

आनन्दवर्धन के पूर्व ध्वनिवाद के विरोधी आचार्यों को हम पाँच भागों में बाँट सकते हैं: प्रथम अलंकारवादी आचार्य, जो काव्य में ध्वनि तत्त्व का अस्तित्त्व ही नहीं मानते, उसे अलंकार के भीतर परिगणित कर देते हैं; दूसरे, वे जो ध्वनि को लक्षणा के भीतर अन्तर्भूत मानते हैं; तीसरे वे जो इसे अनिर्वचनीय कहते हैं; चौथे, अभिहितान्वयवादी मीमांसक जो वाक्य में व्यंजना के स्थान पर तात्पर्य वृत्ति को स्वीकार करते हैं पाँचवें, अन्विताभिधानवादी मीमांसक जो अपने सूत्र—"यत्परः शब्दः सशब्दार्थः" के बल पर कहते हैं कि अभिधा के द्वारा व्यंग्यार्थ की प्रतीति पूर्णतया हो सकती है। आन्दवर्धन ने अपने ग्रन्थ ध्वन्यालोक के प्रथम उद्योत में ध्वनि विरोधी उपर्युक्त सभी आचार्यों के मतों का घोर खण्डन करके ध्वनि सिद्धान्त की वैज्ञानिक ढंग से प्रतिष्ठा की है। आनन्दवर्धन के पश्चात् भी अलंकारवादी ध्वनि-सिद्धान्त का विरोध करते रहे; जिनमें प्रतिहारेन्दुराज का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने काव्य में ध्वनि-तत्व मानने का विरोध किया है तथा आनन्द द्वार

प्रतिपादित-रस, वस्तु तथा अलंकार ध्वनियों को अलंकार के ही अन्तर्गत समाविष्ट किया है। प्रतिहारेन्दुराज ने आनन्द द्वारा उद्धृत ध्वनि के ही उदाहरणों को लेकर उनमें अलंकारों का निर्देश किया है और रस में अभिधेयार्थ की ही प्रधानता सिद्ध की है।

ध्वनि विरोधी आचार्यों में प्रतिहारेन्दु के पश्चात् आचार्य भट्टनायक का नाम उल्लेखनीय है। भट्टनायक सिद्धान्ततः रसवादी थे; वे रस को ही काव्य की आत्मा मानते थे। इन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ हृदयदर्पण में ध्वनि सिद्धान्त का घोर खण्डन किया है। वे ध्वनि के स्थान पर भावकत्व और भोजकत्व दो शक्तियों को मानते हैं और इन्हीं दोनों को रस निष्पत्ति का कारण समझते हैं। वे अभिधा से लक्षणा को भी भिन्न मानने के लिए प्रस्तुत नहीं। ध्वनिविरोधी आचार्यों में भट्टनायक के पश्चात् मुकुलभट्ट का नाम बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'अभिधावृत्तिमातृका' में व्यंजना शक्ति का विरोध करके अभिधा की स्थापना की है और उसी के भीतर सब प्रकार के अर्थों को समाहित किया है। ध्वनि के इतिहास में अभिनवगुप्तपादाचार्य का नाम बहुत ही उल्लेखनीय है वे ध्वनि सम्प्रदाय के प्रबल समर्थक थे। उन्होंने व्यंग्यार्थ की मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक व्याख्या करते हुए स्पष्ट रूप में यह सिद्ध किया है कि वह किस प्रकार अपने मूलभूत रूप एवं स्वभाव में अभिधेयार्थ तथा लक्ष्यार्थ से भिन्न है। उन्होंने आनन्द के ध्वनि सम्बन्धी विचारों, सिद्धान्तों, मतों आदि को स्पष्ट करने के लिए ध्वन्यालोक की टीका लिखी है जो ध्वन्यालोकलोचन के नाम से प्रसिद्ध है। अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोकलोचन में ध्वनि-सम्प्रदाय के प्रबल विरोधी आचार्य भट्टनायक के ध्वनि-विरोधी विचारों का मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक कारणों द्वारा घोर खण्डन कर के ध्वनि का स्थापन दृढ़मूल सिद्ध किया है।

अभिनवगुप्त ने ध्वनि को रस-परिपाक में सहायक बतलाकर ध्वनि और रस की एकात्मता प्रतिपादित की है। आगे चलकर अभिनव के अनेक परवर्ती आचार्यों ने भी काव्य में रसध्वनि की प्रधानता का स्वर

ऊँचा किया। अभिनव के पश्चात् ध्वनि-विरोधी आचार्यों में कुन्तक का नाम उल्लेखनीय है। ध्वनि-समस्या पर इन्होंने विषयाश्रित (objective) दृष्टि से विचार किया। शास्त्रीयदृष्टि से कुन्तक ने बक्रोक्ति सम्प्रदाय की स्थापना ध्वनि सम्प्रदाय के विरोध के लिए ही की। इसलिए इन्होंने अपने सम्प्रदाय के भीतर अभिधा की प्रमुखता स्वीकार की। इनकी दृष्टि में कवि के अभीष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति कराने में अभिधा शक्ति सर्वथा समर्थ है। इन्होंने अभिधा का क्षेत्र बहुत व्यापक कर दिया है। उसके भीतर लक्षणा और व्यंजना समाहित हो जाती हैं। वाचक शब्द द्योतक और व्यंजक दोनों प्रकार के शब्दों का उपलक्षण है। धर्म सादृश्य से द्योत्य एवं व्यंग्य शब्द भी वाच्य कहे जा सकते हैं। दोनों का सामान्य धर्म है—अर्थप्रतीतिकारिता—अर्थात् अभीष्ट अर्थ की प्रतीति कराना। बक्रोक्ति की परिभाषा, प्रक्रिया, साधन, कार्य, साध्य, आदि ध्वनि के समान ही हैं। इससे जान पड़ता है कि कुन्तक का ध्वनि के सामान्य स्वरूप से कोई विरोध प्रतीत नहीं होता। वे केवल स्पष्टतः स्वीकार न करके काव्य के अन्य सभी तत्त्वों की भाँति ध्वनि का समावेश भी बक्रोक्ति के भीतर कर देते हैं। कुन्तक के पश्चात् ध्वनि विरीधी आचार्यों में धनञ्जय और धनिक का नाम आता है। ये दोनों रस सम्प्रदाय के थे। पर उन दोनों ने व्यंजना के स्थान पर तात्पर्य शक्ति को स्वीकार किया है। इनके अनुसार रस व्यंग्य-व्यंजक भाव नहीं अपितु भाव्य-भावक सम्बन्ध है। ध्वनि-विरोधी आचार्यों में सबसे अन्तिम तथा सब से प्रसिद्ध आचार्य महिमभट्ट हैं। इन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ व्यक्तिविवेक में ध्वन्यालोक के ध्वनि मार्ग का खण्डन किया है और व्यंजना व्यापार को अनुमान में गतार्थ किया है। इनके अनुसार ध्वनि की परिभाषा अनुमान में ही घटित होती है। ध्वन्यालोक में दिये गये अधिकांश उदाहरणों को उन्होंने अनुमान के उदाहरणों में उपस्थित किया है और इस प्रकार ध्वनि को अनुमान सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। संक्षेप में उन्होंने ध्वनि को काव्यानुमिति कहा है। उन्होंने शब्द के दो भेद स्वीकृत किये

हैं :— वाच्य और अनुमेय। लक्षणा और व्यंजना की स्वतंत्र सत्ता न मान कर उन्होंने दोनों को अनुमेय में सम्मिलित कर दिया है। महिमभट्ट काव्यानुमिति को एक विशेष प्रकार का अनुमान कह कर उसे ही काव्यानन्द का कारण मानते हैं एवं रसानुभूति को अनुमान का कार्य। महिमभट्ट के पश्चात् क्षेमेन्द्र ध्वनि को रस का साधन मानते हुए दिखाई पड़ते हैं। इन्हीं के समकालिक आचार्य मम्मट ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ काव्य-प्रकाश के शब्द-शक्ति प्रकरण में ध्वनि-विरोधियों का घोर खण्डन करके ध्वनि मार्ग को प्रशस्त किया। इसके पश्चात् राजानक रुय्यक ने अपने ग्रन्थ अलंकार सर्वस्व में ध्वनि-मार्ग का अनुसरण करते हुए महिम-भट्ट के ध्वनि विरोधी सभी मतों का खण्डन किया और ध्वनि सिद्धान्त की पुनर्स्थापना की। रुय्यक के पश्चात् ध्वनि पर विचार करनेवाले विशेष उल्लेखनीय दो आचार्य हुए—विश्वनाथ महापात्र एवं पण्डितराज जगन्नाथ। ये दोनों ध्वनि मार्ग के अनुयायी हैं। इन दोनों ने महिमभट्ट के ध्वनि विरोधी मतों का खण्डन किया है।

ध्वनि का आधार

ध्वनिवादियों के ध्वनि-तत्त्व का मूल स्रोत एवं आधार वैयाकरणों के स्फोट सिद्धान्त में दिखाई पड़ता है। अतः काव्य-शास्त्रियों के ध्वनि तत्त्व के आधार को समझने के लिए वैयाकरणों के स्फोट-सिद्धान्त को समझना आवश्यक है। जिसके द्वारा अर्थ स्फुटित हो वही स्फोट है। ध्वनि-परम्परा से जिस अखण्ड शब्द की व्यंजना होती है वही स्फोट है। स्फोट की अभिव्यक्ति के लिए वैयाकरण व्यंजना वृत्ति नामक शब्द-व्यापार को मानते हैं। यही स्फोट, ध्वनि शब्द से भी व्यवहृत होता है। शब्द स्फोट का एक उदाहरण लीजिए:—बालक शब्द में ब, अ, ल अ, क, अ—ये छः वर्ण हैं। इन छओं वर्णों में से बालक का अर्थ-बोध किसके द्वारा होता है? यदि यह मान लें कि प्रत्येक वर्ण के उच्चारण द्वारा, तो एक वर्ण ही पर्याप्त होगा; अवशेष वर्णों की आवश्यकता

नहीं। और यदि यह कहें कि छत्रों वर्णों के समुदाय के उच्चारण द्वारा; तो यह असम्भव है, क्योंकि कोई भी वर्ण अपने उच्चारण-क्षण से अधिक काल तक ठहर ही नहीं सकता। इस प्रकार छत्रों वर्णों के समुदाय की ध्वनि का एक साथ होना असम्भव है। यह बात ठीक है कि वर्ण उच्चारण के अनन्तर क्षण भर रह कर दूसरे क्षण में लुप्त हो जाते हैं, किन्तु वर्णों का क्रमिक श्रावण, प्रत्यक्ष रूप से लुप्त होने पर भी श्रोता के मन में अपना संस्कार छोड़ जाता है। इस प्रकार पूर्व वर्णों के संस्कार, पर वर्णों के उच्चारण के साथ संयुक्त होकर शब्द का अर्थबोध कराते हैं—यही स्फोट है, इसी का दूसरा नाम ध्वनि भी है।[1] जैसे, वैयाकरण वर्णों द्वारा अभिव्यंजित स्फोट को ध्वनि कहते हैं, उसी प्रकार ध्वनिवादी शब्दों या अर्थों द्वारा अभिव्यंजित अर्थ को ध्वनि कहते हैं। जिस प्रकार वैयाकरण स्फोट की अभिव्यक्ति के लिए व्यंजना वृत्ति नामक शब्द-व्यापार मानते हैं तद्वत् ध्वनिवादी आचार्य भी काव्य में ध्वनि की अभि-व्यक्ति व्यंजना वृत्ति द्वारा ही संभव बतलाते हैं। जिस प्रकार किसी शब्द के वर्णों की आवाज़ अलग अलग रूप में सुन कर उसका अर्थ बोध नहीं होता, वह केवल स्फोट या आवेश द्वारा ही होता है, इसी प्रकार शब्दों का वाच्यार्थ या लक्ष्यार्थ बोधी करके काव्यात्मा ध्वन्यार्थ का अनुभव नहीं होता; वह केवल व्यंग्यार्थ से ही होता है और इस व्यंग्यार्थ का अनुभव शब्द की अभिधा, लक्षणा शक्तियों के अतिरिक्त एक तीसरी शक्ति व्यंजना द्वारा होता है। इस प्रकार वैयाकरणों के स्फोट या ध्वनि में शब्द-साम्य

---

१ यः संयोगवियोगाभ्यां करणैरुपजायते।
स स्फोट शब्दजः शब्दो ध्वनिरित्युच्यते। वाक्यपदीयम्
(क) प्रथमो हि विद्वांसो वैयाकरणाः।
व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम्। (ध्वन्यालोक)
(ख) बुधैर्वैयाकरणैः प्रधानभूतस्फोटरूप व्यंग्यव्यंजकस्य शब्दस्य ध्वनि-रिति व्यवहारः कृतः। (मम्मट)

तथा व्यापार-साम्य का आधार पाकर ध्वनिकार ने काव्य में ध्वनि तत्त्व की उद्भावना की; और वैयाकरणों के इस ऋण को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार भी किया।

ध्वनि का काव्य के अन्य तत्त्वों से सम्बन्ध

ध्वनि और रस का सम्बन्ध

ध्वनि के स्वरूप को ठीक ढंग से समझने के लिए काव्य के अन्य तत्त्वों के साथ उसका सम्बन्ध जानना आवश्यक है। काव्य में रस वाच्य नहीं होता ; वह विभाव, अनुभाव, संचारी के संयोग से या किसी एक के उत्कर्षपूर्ण वर्णन से व्यंग्य होता है। विभाव, अनुभाव, संचारी में से जब किसी एक का कथन होता है तब अन्य अंग ध्वनि या व्यंजना रूप में सहृदय के सामने चित्रित हो जाते हैं। किसी उक्ति का वाच्यार्थ रसप्रतीति नहीं कराता, केवल अर्थ-बोध कराता है। रस, सहृदय-स्थित वासना की आनन्दमय परिणति है जो वाच्यार्थ या शब्द-ज्ञान से भिन्न है। अतएव उक्ति द्वारा रस का प्रत्यक्ष वाचन संभव नहीं, अप्रत्यक्ष प्रतीति ही संभव है। शास्त्रीय पदावली में हम इसे यों कहेंगे कि रस का अभिव्यंजन या ध्वनन होता है। इसी कारण ध्वनिकार ने रस को रसध्वनि कहा है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यही बात निम्नाङ्कित ढंग से कही जा सकती है :—कवि अपनी रागात्मक अनुभूति को सहृदय के प्रति संवेद्य बनाता है, केवल बोधव्य नहीं अर्थात् उसके (सहृदय के) हृदय में कवि के समान ही मात्रा एवं गुण दोनों में रागात्मक अनुभूति उत्पन्न होती है। सहृदय की दृष्टि से रस संवेद्य होता है, वाच्य नहीं। यदि रस वाच्य होता तो भावों के वर्णन या विवेचन करनेवाले अन्य विषय—मनोविज्ञान आदि भी साहित्य के अन्तर्गत आ जाते। अतः यह सिद्ध हुआ कि काव्य में रस व्यंग्य रहता है। अब प्रश्न यह उठता है कि कवि, काव्य में रस को व्यंग्य या सम्वेद्य कैसे बनाता है? उत्तर होगा—भाषा के

विशिष्ट प्रयोग द्वारा। भाषा का यह विशिष्ट रूप कवि की प्रवेगपूर्ण भावात्मक मनस्थिति से उत्पन्न होता है। भाषा के इस भावात्मक प्रयोग काल में कल्पना अपने आप उत्पन्न होती है, तब कवि शब्दों को साधारण वाचक रूप में न रखकर विशिष्ट-चित्र-रूप में रखता है। यह चित्रात्मकता कविता के भीतर प्रभावान्विति के रूप में रस को व्यंजित करती है। कवि अपने भाव के प्रवेगपूर्ण क्षणों में कल्पना का प्रयोग करके विभाव, अनुभाव, संचारी आदि तत्त्वों को उपस्थित करता है। अतः हम विभाव, अनुभाव, संचारी आदि का नाम न लेकर जब काव्य में कल्पना का नाम लेते हैं, तब प्रकारान्तर से उसका यही अर्थ होता है कि यह तत्त्व ध्वनि का साधन है। कल्पना तत्त्व और ध्वनितत्त्व में वही संबंध है, जो संबंध साधन और साध्य में है। कवि कल्पना का प्रयोग भावना के प्रवेगपूर्ण क्षणों में या अनुभूति की तीव्रतम घड़ियों में करता है। अनुभूति का सार रूप ही रस तत्त्व के भीतर आता है। अतः अनुभूति भी ध्वनि प्रक्रिया से ही व्यंजित होती है। पारिभाषिक पदावली में कवि की अनुभूति ही अपने कलात्मक रूप में रस-ध्वनि की संज्ञा प्राप्त कर लेती है। इस प्रकार अनुभूति और ध्वनि में केवल उपाधि का अन्तर है।

काव्य में चिन्तन उसके प्रभाव, तेज तथा स्थायित्व को बढ़ा देता है। चिन्तन द्वारा ही कवि काव्य-सृष्टि काल में अनायास रूप से उठते हुए भावों और विचारों को समाधि-दशा में ले जाकर संश्लेषण और विश्लेषण-प्रक्रिया के द्वारा जीवन-संबंधी धारणा का रूप प्रदान करता है। इस जीवन-सम्बन्धी धारणा के निर्माण में कवि का पूर्व-ज्ञान भी सहायक होता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह पूर्व-ज्ञान भी कवि चिन्तन-प्रक्रिया द्वारा ही प्राप्त करता है। इसी पूर्व-ज्ञान के बल पर काव्य-प्रेरणा के क्षणों में कवि अपनी सम्वेदन-सामग्री की व्याख्या में समर्थ होता है। सम्वेदन-सामग्री की यही व्याख्या कवि के जीवन-दर्शन रूप में प्रकट होती है। इस जीवन-दर्शन का सार अंश मूल-संदेश के रूप में कविता में ध्वनित होता है। जिस कवि में जितनी अधिक चिन्तन-शक्ति होगी, उसकी व्यंजना उतनी ही व्यापक शक्तिशाली एवं तीव्रतम होगी। इस प्रकार चिन्तन

भी व्यंजना-शक्ति का एक साधन है। इस प्रकार रस के सभी तत्त्वों का सम्बन्ध किसी न किसी प्रकार ध्वनि से स्थापित किया जा सकता है।

ध्वनि और अलंकार का संबंध

अलंकार की सृष्टि शब्द और अर्थ से होती है। आनन्द-वर्धन के अनुसार शब्द और अर्थ का संबंध काव्य के शरीर से है। अतः अलंकार का संबंध काव्य के शरीर से हुआ, जिसमें उसकी आत्मा-ध्वनि विराजमान रहती है। काव्य-प्रक्रिया द्वारा ऊपर यह स्पष्ट किया जा चुका है कि अर्थालंकार प्रायः कल्पना के अन्तर्गत आते हैं। अतः उस अवस्था में भी अलंकार ध्वनि के लिए साधन का कार्य करते हैं। काव्य में अलंकार के अस्तित्व की सार्थकता ध्वनि (रसध्वनि) के उपकार करने में है। अलंकार का महत्त्व काव्य में निरपेक्ष रूप में सिद्ध नहीं किया जा सकता। उसकी महत्ता ध्वन्यार्थ या रस के कारण ही है। काव्य में जहाँ रस नहीं होगा वहाँ वे आह्लादक नहीं हो सकते; वरन् आत्म-विहीन शरीर पर आभूषण के समान निरर्थक सिद्ध होंगे। अलंकार ध्वनि से यह बात और अधिक स्पष्ट हो जाती है कि ध्वनि का सम्बन्ध अलंकार से प्रत्यक्ष रूप में है। काव्य के भीतर अलंकार कभी वाच्य नहीं होते, उनका नाम वहाँ नहीं लिया जाता अर्थात् वे व्यंग्य ही रहते हैं। इस प्रकार ध्वनि और अलंकार का सम्बन्ध अविच्छिन्न रूप में स्थापित होता है।

ध्वनि और गुण का सम्बन्ध

गुण वस्तुतः रस धर्म हैं। शौर्य, औदार्य, माधुर्य, सौमनस्य आदि मानव-गुणों का जो सम्बन्ध मानवात्मा से है वही सम्बन्ध काव्य गुणों का काव्य-रस से है। रस आनन्दवर्धन की दृष्टि में एक प्रकार से ध्वनि ही है इस प्रकार गुण ध्वनि के भी धर्म सिद्ध हुए। ध्वनि की प्रक्रिया के

समान गुण भी काव्य में वाच्य नहीं होते, व्यंग्य ही होते हैं। इस प्रकार गुण ध्वनि से अन्तरंग रूप में सम्बद्ध हैं।

ध्वनि और रीति का सम्बन्ध

रीति का सम्बन्ध केवल पद-रचना से ही नहीं वरन् शब्द और अर्थ दोनों से है—इससे भी आगे बढ़कर कवि के पूरे व्यक्तित्त्व से है। आनन्दवर्धन की दृष्टि में शब्द और अर्थ काव्य शरीर हैं। कर्ता का व्यक्तित्त्व रचना के भीतर से ध्वनि रूप में ही सदा व्यंजित होता है। यदि रीति का इतना व्यापक अर्थ लिया जाय कि वह कवि के व्यक्तित्त्व को भी अपने भीतर समाहित कर ले तो रीति काव्य के शरीर तत्त्व से ऊपर उठकर उसके आत्मतत्त्व को भी समाहित कर लेगी और तब ध्वनितत्त्व भी उसके अन्तर्गत समाविष्ट हो सकता है। किन्तु आनन्द-वर्धन रीति को इतना अधिक महत्त्व नहीं देते। वे रीति को रसादिकों की उपकर्त्री मानते हैं। वस्तुतः ध्वनि को अस्तित्व देने का श्रेय विशिष्ट प्रकार की रीति को ही है। क्योंकि रीति से ही काव्य-शरीर अस्तित्व प्राप्त करता है जिसमें ध्वनि रूपी काव्य की आत्मा विराजमान रहती है। अतः शरीर और आत्मा में जो सम्बन्ध है वही सम्बन्ध रीति और ध्वनि में है इस प्रकार रीति का सम्बन्ध ध्वनि से स्थिर कोटि का है। अतः ध्वनि को हम रीति से किसी प्रकार अलग नहीं कर सकते।

वक्रोक्ति और ध्वनि का संबंध

भामह और दण्डी की दृष्टि में वक्रोक्ति सामान्य अलंकार है। वामन और रुद्रट उसे एक विशिष्ट अलंकार मानते हैं। आचार्य कुन्तक वक्रोक्ति के भीतर पूरे काव्य-व्यापार को समाहित करते हैं। ध्वनि और वक्रोक्ति के संबंध-स्थापन के समय हमें कुन्तक की ही वक्रोक्ति-धारणा को लेकर चलना उचित है। कुन्तक की वक्रोक्ति कवि के पूरे कार्य-कलाप से संबंध रखती है। ध्वनि भी, ध्वनिवादियों की दृष्टि में पूरे कवि-

व्यापार से उत्पन्न होती है। केवल शब्द या केवल अर्थ से, केवल वस्तु-योजना या केवल अनुभूति की सामान्य अभिव्यक्ति से ध्वनि की सत्ता स्थिर नहीं हो सकती। ध्वनि का उचित प्रयोग प्रतिभाशाली व्यक्ति ही कर सकते हैं। उधर बक्रोक्ति भी प्रतिभा की देन है। इससे जान पड़ता है कि ध्वनि और बक्रोक्ति की प्रक्रिया, साधन, कार्य, कर्त्ता, साध्य आदि एक ही हैं। काव्य में जहाँ रसध्वनि रहेगी वहाँ रसत्व रहेगा और जहाँ रसत्व रहेगा वहाँ कविव्यापार अवश्य रहेगा तथा जहाँ कवि व्यापार होगा वहाँ बक्रोक्ति अनिवार्य रूप में रहेगी। इस प्रकार ध्वनि और बक्रोक्ति की प्रक्रिया एक ही प्रकार की है। दोनों के साधन भी लगभग समान ही हैं। जैसे, कल्पना, अनुभूति, अलंकार, रीति, गुण आदि दोनों के साधन हैं। दोनों का कार्य वस्तु या उक्ति में रमणीयता अथवा अभिनवता का संचार करना है। दोनों का कर्ता प्रतिभाशाली कवि होता है। दोनों का साध्य सहृदयों को आह्लाद देना है। यदि ध्यान से विचार किया जाय तो विदित होगा कि ध्वनिवाद तथा बक्रोक्तिवाद में मुख्य भेद सिद्धान्त का ही है। व्यवहार में ध्वनि तथा बक्रोक्ति को हम एक दूसरे से सर्वथा पृथक नहीं कर सकते। क्योंकि इन दोनों की परिभाषायें तथा व्याप्तियाँ इतनी अधिक हैं कि किसी एक का भी रूप दूसरे से बाहर नहीं पड़ सकता[१]।

कुन्तक की बक्रोक्ति-परिभाषा में ध्वनि के बहुत से तत्त्व आ जाते हैं। बक्रोक्ति के कई भेदों के भीतर ध्वनि के कई भेद दिखाई पड़ते हैं। जैसे, उपचार बक्रता, रूढ़िवैचित्र्य बक्रता, पर्याय बक्रता के भीतर क्रमशः अत्यन्ततिरस्कृत वाच्यध्वनि, अर्थान्तरसंक्रमित वाच्यध्वनि, शब्दशक्ति-मूलअनुरणनरूपव्यंग्यभूतपदध्वनि आदि भेद सिमट जाते हैं। कुन्तक ने ध्वनि के अनेक उदाहरणों को बक्रोक्ति के उदाहरणों के भीतर रखा है। इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध हुआ कि ध्वनि और बक्रोक्ति में घनिष्ठ सम्बन्ध है।

---

१ उपचार बक्रतादिभिः समस्तोध्वनिप्रपञ्चो स्वीकृत एव (रुय्यक)

ध्वनि और औचित्य का सम्बन्ध

औचित्य और रसध्वनि में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। औचित्य के कारण ही रससृष्टि होती है। आनन्दवर्धन की दृष्टि में औचित्य भंग ही रसभंग का कारण है।[१] ध्वनिकार के मत में रस-ध्वनि ही सर्वश्रेष्ठ ध्वनि है और इसकी सत्ता औचित्य के द्वारा ही संभव है। अलंकार ध्वनि भी औचित्य की ही रक्षा से संभव है; क्योंकि अलंकार का अनुचित प्रयोग न तो काव्य में ही ग्रहीत है और न ध्वनि की सृष्टि में समर्थ। ध्वनिवादी आचार्यों ने काव्य की परीक्षा अलंकारवादी, रीतिवादी, गुणवादी, बक्रोक्तिवादी आचार्यों से भिन्न दृष्टिकोण से की। काव्य-सौन्दर्य विषयक उनकी परिवर्तित धारणा ने काव्य के विभिन्न तत्त्वों की संयोजना को नये दृष्टिकोण से सोचने के लिए बाध्य किया। फलत: ध्वनिवादी आचार्यों ने ध्वनि-काव्य विषयक अपनी धारणा के भीतर काव्य के विभिन्न तत्त्वों की औचित्यपूर्ण व्यवस्था की और काव्य के इन तत्त्वों की औचित्यपूर्ण व्यवस्था के अभाव में ध्वनि-काव्य की सृष्टि असंभव बतलाई। इस प्रकार ध्वनिवादियों ने ध्वनि और औचित्य में घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किया।

ध्वनि काव्य की विशेषताएँ

काव्य में ध्वनि-तत्त्व का प्रभाव, कार्य, महत्त्व, स्वरूप आदि समझने के लिए ध्वनि-काव्य की विशेषताओं पर विचार करना आवश्यक है। ध्वनि-काव्य की विशेषताओं के विवेचन के आरम्भ में ही यह स्मरण दिला देना आवश्यक है कि ध्वनि में जब रमणीयता होगी, जब वह काव्य के उचित गुणों से संयुक्त रहेगी तभी वह काव्य कोटि में परिणत होगी अन्यथा वह व्यंग्यार्थ का रूप धारण कर सकती है, ध्वनि काव्य

१ अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परो।

का नहीं। ध्वनि, रस गर्भित होने से ही काव्य की आत्मा होने का दावा कर सकती है। रस ध्वनि में रस तो आत्म-रूप में रहेगा ही; वस्तु ध्वनि तथा अलंकार ध्वनि में भी भाव या रस का स्पर्श किसी न किसी रूप में रहता ही है[1]; अन्यथा, श्रोता, वक्ता, प्रकरण, स्थान आदि के अनुसार ,'सैन्धवमानय" से निकलने वाली ध्वनि भी काव्य हो जायगी। ध्वनिकार की दृष्टि में कवि का मुख्य कर्तव्य है—रस को काव्य का मुख्य प्रयोजन बनाकर उसके निष्पत्यर्थ शब्दों एवं अर्थों का उपनिबन्धन करना।[2] ध्वनि काव्य, अर्थमय शब्दों की वह कलात्मक रचना है जो शब्दों एवं अर्थों के उचित गुणों तथा अलंकारों से युक्त रहती है तथा जिसमें शब्द एवं अर्थ व्यंग्यार्थ को व्यंजित करते हैं और यही व्यंग्यार्थ उस रचना में सबसे अधिक प्रधान, रमणीय चमत्कारक एवं प्रभावशाली रहता है; अन्य अर्थ व्यंग्यार्थ से गौण स्थान रखते हैं। ध्वनिकार की ध्वनि काव्य की परिभाषा भी इसी मत का समर्थन करती हुई दिखाई पड़ती है—

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥

जहाँ शब्द या अर्थ अपने अभिप्राय की प्रधानता का परित्याग करके जिस किसी विशेष अर्थ को व्यक्त करते हैं वही वाच्यवाचकातिरिक्त काव्यतत्त्व ध्वनि है। यही विशेष अर्थ व्यंग्यार्थ कहा जाता है जो वाच्यार्थ से अधिक रमणीय, चमत्कारक, प्रभविष्णु एवं मार्मिक होता है। ध्वनि काव्य का एक उदाहरण लीजिए :—

१—(क) अलंकार ध्वनि में भाव या रस अलंकार रूप में ध्वनित होता है।
(ख) वस्तु ध्वनि में वस्तु निरूपण से रसोद्दीप्ति होती है।
(ग) वस्तुतः ये दोनों ध्वनियाँ रसाभिव्यक्ति के दो भिन्न स्वरूप हैं।

२ अयमेव हि महाकवेर्मुख्यो व्यापारो यद्रसादीनेव मुख्यतया काव्यार्थीकृत्य तदव्यक्त्यनुगुणत्वेन शब्दानामर्थानां चोपनिबन्धनम्। (ध्वन्यालोक)

नन्द ब्रज लीजै ठोँकि बजाय।
देहु बिदा मिलि जाहिं मधुपुरी जहँ गोकुल के राय।

उक्त छन्द में "ठोँकि बजाय" से निर्वेद, तिरस्कार, अमर्ष आदि अनेक भावों की व्यंजना हो रही है जो वाच्यवाचकातिरिक्त है तथा जो वाच्यार्थ से अधिक रमणीय, चमत्कारक एवं मार्मिक है। ध्वनि काव्य में वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ दोनों रहते हैं पर सदा व्यंग्यार्थ ही प्रधान रहता है और वही अधिक रमणीय तथा चमत्कारक होता है। इसकी स्पष्टता के लिए उदाहरण लीजिए :—

सीस जटा उर बाहु बिसाल विलोचन लाल तिरीछी सी भौहैं।
तून सरासन बान धरे, तुलसी बन-मारग में सुठि सोहैं॥
सादर बारहिं बार सुभाय चितै तुम त्यौं हमरो मन मोहैं।
पूछति ग्राम-बधू सिय सों "कहौ साँवरे से सखि रावरे को हैं॥"

वैसे तो व्यंजना 'उर बाहु विसाल'[1] 'विलोचन लाल'[2] 'तिरछी सी भौंहैं[3]' 'बन-मारग में सुठि सोहैं'[4] आदि में भी है; किन्तु "चितै तुम त्यों हमरो मन मोहैं" में तुम शब्द में जितनी पवित्र भाव-व्यंजना है उतनी किसी में नहीं। तुम शब्द से यह व्यंजना हो रही है कि राम एक नारिव्रती हैं; वे 'पर तिय मात समान' सिद्धान्त का जीवन में पालन करते हैं। उपर्युक्त छन्द का वाच्यार्थ—राम के सिर पर जटा आदि, ग्राम बन्धुओं का, उनके सीता की ओर देखने के ढंग तथा उनके रूप आदि

१ आजानबाहु अर्थात् महामानव, महापराक्रमी आदि।
२ ब्रह्मचारी हैं स्त्री के साथ रहते हुए भी।
३ राम में स्वाभाविक सौन्दर्य है।
४ वनवास की अवस्था में भी राम प्रसन्न हैं, उदास या निराश नहीं हैं, इसीलिए सुशोभित लग रहे हैं।

पर मोहित होकर सीता से पूछना कि ये तुम्हारे कौन हैं; उसके व्यंग्यार्थ के समक्ष बहुत ही गौण लगता है। इस छन्द का व्यंग्यार्थ उसके वाच्यार्थ से बहुत ही अधिक रमणीय, चमत्कारक एवं मार्मिक है। यहाँ शब्द और अर्थ (वाच्यार्थ) साधन बनकर साध्य विशेष (व्यंग्यार्थ) को व्यंजित कर रहे हैं। ध्वनि काव्य में व्यंग्यार्थ, वाच्यार्थ से अधिक रमणीय होता है। यहाँ रमणीयता का तात्पर्य है पाठक की चित्तवृत्तियों को अपनी ओर खींचने की शक्ति, पाठक के मन को अन्य अर्थों की ओर से हटा कर अपने में रमाने की शक्ति। जिस अर्थ में यह गुण नहीं वह रमणीय नहीं कहा जा सकता। कहने की आवश्यकता नहीं कि तुम शब्द से निकली भाव-व्यंजना, एक नारिव्रतीपन, 'पर तिय मात समान' आदि में वाच्यार्थ की अपेक्षाकृत अधिक रमणीयता है। ध्वनि काव्य में व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से अधिक चमत्कारक होता है। यहाँ चमत्कार का अभिप्राय चित्त का विस्फार, विस्तार या विकास है। इस अर्थ के मनन या प्रत्यक्षीकरण से संकुचित चित्त द्रुत होकर साधारणीकृत भावों में ढलकर अपने में विस्तार का अनुभव करता है। तुलसी के उपर्युक्त सवैये में 'तुम' शब्द के व्यंग्यार्थ को समझकर किस रसिक का हृदय विकास या विस्तार का अनुभव नहीं करेगा? अब प्रश्न यह उठता है कि ध्वनि काव्य में यह चमत्कार कैसे उत्पन्न होता है? क्या कोरे उक्तिवैचित्र्य से, या भणिति भङ्गी से अथवा कथन के अनूठे ढंग से। नहीं, उक्ति के अनूठेपन के साथ उसमें रस या भाव की झलक रहने से, उक्ति के अनुभूति-जन्य होने से। ध्वनिकाव्य लिखनेवाला कवि केवल कल्पना की उड़ान से या कोरे बुद्धिकौशल से व्याहत वाच्यार्थ या उक्ति-चमत्कार नहीं लाता वरन् हृदय तथा मस्तिष्क दोनों की संयोगात्मक क्रिया से लाता है। तुलसीदास अपने उपर्युक्त सवैये में व्यंग्यार्थ का चमत्कार असंगति अलंकार के चमत्कार के बल पर नहीं लाये हैं, वरन् मस्तिष्क तथा हृदय दोनों की संयोगात्मक क्रिया से उपर्युक्त चमत्कार उत्पन्न करने में वे समर्थ हुए हैं। प्रतिभाशाली कवि ही ध्वनि काव्य लिख सकता है अर्थात् कल्पनाशील कवि ही ध्वनि काव्य लिखने में समर्थ हो सकता

है। कल्पना, हृदय और बुद्धि दोनों की अन्तर्वर्तिनी शक्ति है। वह सक्रिय होने के लिए दोनों की ओर देखती है; दोनों की प्रकृति एवं शक्ति को ग्रहण करके वह आगे बढ़ती है। कल्पना अपनी चरम स्थिति में नीति के प्रबल आधार पर खड़ी होती है। हृदय और बुद्धितत्व कल्पना-क्रिया के भीतर परस्पर अपनी क्रिया, प्रतिक्रिया एक दूसरे पर प्रकट करते रहते हैं। गहरे भाव कल्पना को उत्तेजित करके दृश्य-विधायक रूप में प्रकट होते हैं तथा कल्पनात्मक दृष्टि गहरे भावों को जगाकर उन्हें ज्योतिर्मय कर देती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि तुलसीदास को अपने उपर्युक्त सवैये के चमत्कार-निर्माण में हृदय और बुद्धि दोनों तत्त्वों की संयोगात्मक क्रिया से काम लेना पड़ा है। इसी कारण उनका व्यंग्यार्थ नीति के प्रबल आधार पर स्थित दिखाई पड़ता है।

ध्वनि काव्य में व्यंग्य गूढ़ रहता है। गुणीभूत व्यंग्य काव्य में वह अगूढ़ रहता है। ध्वनि काव्य में व्यंग्यार्थ, कामिनीकुचकलश के समान गूढ़ होने के कारण कुतूहलबर्द्धक होता है;[१] कुतूहलबर्द्धक होने के कारण ही वह रुचिकर भी होता है। "नन्द ब्रज लीजै ठोँ कि बजाय" में व्यंग्यार्थ के गूढ़ होने का सुन्दर उदाहरण मिलता है। अगूढ़ व्यंग्य का एक उदाहरण लीजिए :—

पुत्रवती जुवती जग सोई।
रामभक्त सुत जाकर होई॥

उपर्युक्त चौपाई का व्यंग्यार्थ है रामभक्त पुत्रवाली युवती संसार में सराहनीय है। यह व्यंग्य वाच्यार्थ ही के समान स्पष्ट है इसीलिए गुणीभूतव्यंग्य काव्य उतना कुतूहलवर्द्धक, रुचिकर नहीं होता जितना ध्वनि काव्य होता है। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि जो वस्तु कुछ देर के लिए आँखों से ओझल रखकर गूढ़ रखी जाती है उसमें आकर्षण,

१ कामिनी कुचकलशवत् गूढ़म् सत् चमत्करोति, अगूढं तु स्फुटतया वाच्यमानमिति गुणीभूतमेव। (काव्यप्रकाश)।

मनोज्ञता एवं कुतूहल का परिमाण बढ़ जाता है[१]। वह सौन्दर्य जो प्रगल्भ रूप में समक्ष न आकर उचित ढंग से प्रच्छन्न करके कुछ आवरण द्वारा उपस्थित होता है वह बहुत ही आकर्षणयुक्त होता है। ध्वनि काव्य में इतना अधिक आकर्षण, मनोज्ञता तथा कुतूहल भरने का एक कारण उसकी गूढ़ता भी है।

कविता जीवन की अनुरूपता की रक्षा से उतनी प्रभविष्णु नहीं होती जितनी अभिव्यक्ति में लोकोत्तरता प्राप्त करने से होती है। काव्याभि-व्यक्ति में लोकोत्तरता भरने वाले तत्त्वों में ध्वनि का स्थान बहुत ही उच्च है। जैसे, नीचे के छन्द में देखिए, ध्वनि के कारण साधारण अभिव्यक्ति किस प्रकार लोकोत्तर हो गई है :—

"जीवन-निशीथ का अन्धकार।
भग रहा क्षितिज के अंचल में मुख आवृत कर तुमको निहार।
(कामायनी)

मनु को इड़ा से इतना ही कहना है कि तुम्हारे दर्शन से मेरे जीवन का अज्ञान दूर हो रहा है। इसको कवि संलक्ष्यक्रमव्यंग्य-ध्वनि द्वारा लोकोत्तर अभिव्यक्ति का रूप देकर कहता है कि तुमको देखकर मेरे जीवन रूपी रात्रि का अन्धकार अपना मुख ढककर (मारे क्षोभ के) मेरे जीवन क्षितिज के अंचल से भाग रहा है।

---

१. (क) *Some thing is concealed for the time being and concealed for a moment and withholding from your view might tend to enhance the degree of charm.*
(*The Highways &Byways of Ltterary* Criticism in Sonskrit)

२ सरब ढके सोहत नहीं, उघरे होत कुबेस।
अरध ढके छवि देत अति, कवि आखर, कुच, केस।

ध्वनि काव्य में जीवन के ऐसे सुझाव भरे रहते हैं जो पाठक को चिरन्तनता की ओर प्रेरित करते हैं। कामायनी ध्वनि काव्य है। उस में जीवन के ऐसे अनेकों सुझाव भरे हैं जो सहृदय को शाश्वतता की ओर उन्मुख करते हैं। जैसे, मनुष्य को आनन्द, श्रद्धा तत्त्व के अपनाने से ही मिल सकता है, केवल बुद्धि तत्त्व के अपनाने से नहीं। आस्तिक भाव जगने से शान्ति मिल सकती है केवल बुद्धिवादी बनने से नहीं। कोरा बुद्धिवाद मनुष्य को विप्लव, संघर्ष, अशान्ति तथा दुख की ओर ले जाता है; आत्मवाद उसे सामंजस्य, एकता, प्रेम, शान्ति, आनन्द की ओर उन्मुख करता है आदि। जिस काव्य में जितनी अधिक सूचकता की शक्ति होगी उसमें उतनी ही अधिक नवनवोन्मेषशालीनता रहेगी। जो कृति जितनी अधिक नवनवोन्मेषशाली होगी वह उतने ही अधिक देशों तथा युगों के लिए प्रभावशाली सिद्ध होगी। हिन्दी के आधुनिक काव्यों में कामायनी में सबसे अधिक सूचकता की शक्ति भरी है; इसलिए उसमें अधिक से अधिक युगों तथा देशों में समादृित होने की संभावना वर्तमान है। रसध्वनि काव्य का उद्देश्य पाठक या श्रोता के ऐसे भावों को उद्बुद्ध करना है जो उसमें पारिवारिक, नागरिक, सामाजिक तथा विश्वात्मक सम्बन्धों के औचित्यपूर्ण निर्वाह की प्रवृत्ति उत्पन्न कर सकें; जिनमें मग्न होकर वह अपनी पृथक सत्ता को भूलकर संसार के द्वन्द्वात्मक भावों की अनुभूति स्वार्थमुक्त रूप में कर सके। रसध्वनि काव्य में साधारणीकरण का विशद तत्त्व सर्वाधिक मात्रा में वर्तमान रहता है। यह तत्त्व ध्वनि काव्य को देश-काल की सीमा से ऊपर उठा देता है। शकुन्तला नाटक रसध्वनि काव्य है। उसमें साधारणीकरण का तत्त्व भी अधिकाधिक मात्रा में वर्तमान है; इसलिए वह जर्मनी, इँगलैण्ड, भारतवर्ष आदि सभी देशों के सहृदयों द्वारा बहुत दिनों से समादृित हो रहा है। सभी सभ्य देशों के सहृदयों में स्वस्थ सौन्दर्य के आस्वादन की शक्ति वर्तमान रहती है; अतः जिस काव्य में जहाँ कहीं ऐसा सौन्दर्य उपलब्ध होगा उसका आस्वादन सभी देश एवं सभी काल के सहृदय लोग करेंगे। ध्वनि काव्य स्वस्थ सौन्दर्य से युक्त रहता है क्योंकि उसमें अभिव्यक्ति को

व्यवस्थित रूप प्राप्त रहता है। ध्वनि काव्य में ध्वनि, आत्मा रूप में प्रतिष्ठित रहती है, शब्दार्थ शरीर रूप में रहते हैं। गुण, अलंकार, रीति, वृत्ति आदि काव्य के अन्य तत्त्व तथा अंग अपने उचित स्थान पर उचित मात्रा में अन्य अवयवों के समान रहते हैं। ध्वन्यालोककार ने स्पष्ट रूप में यह बतला दिया है कि सच्चा कवि ऐसी कविता के रचने में अपना समय नष्ट नहीं करता जिसका रस से सम्बन्ध न हो[1]। आनन्द-वर्धन के शब्दों में महाकवि का मुख्य कर्तव्य है कि वह रस को काव्य का मुख्य प्रयोजन बनाकर उसकी निष्पत्ति के लिए शब्दों एवं अर्थों का उपनिबन्धन करे[2]। आगे चलकर उन्होंने स्पष्ट शब्दों में यह कह दिया है कि रस, काव्य और नाटक दोनों का प्राण है[3]। तात्पर्य यह कि ध्वनि काव्य में रस, प्राण रूप में रहता है; रीति, रसादि की उपकारक या सहायक रूप में रहती है। वह प्रयत्न प्रसूत नहीं होती वरन् बल-शाली भावनाओं की स्वाभाविक अभिव्यक्ति का साधन बनकर आती है। ध्वनि अधिकांश मात्रा में अलंकारों के माध्यम से प्रकाशित होती है। ध्वनि काव्य में अलंकार सदा रस या भाव के आश्रित होकर आते हैं। वे प्रयत्न प्रसूत नहीं होते, अयत्नविहित रहते हैं। ध्वन्या-लोककार की दृष्टि में अलंकार-काव्य में सदा साधन का ही स्थान प्राप्त

---

१ एतच्च चित्रं कवीनां विशृंखलगिरां रसादितात्पर्यमनपेक्ष्यैव काव्यप्रवृत्ति-दर्शनादस्माभिः परिकल्पितम्। इदानींतनानां तु न्याय्ये काव्यनवव्यवस्थापने—एव न शोभते। (ध्वन्यालोक पृ० २२)

२ अयमेव हि महाकवेर्मुख्यो व्यापारो यद्रसादीनेव मुख्यतया काव्यार्थीकृत्य तदव्यक्त्यनुगुणत्वेन शब्दानामर्थानां चोपनिबन्धनम्। (वही)

३ रसादयो हि द्वयोरपि तयोः काव्यनाट्ययोः जीवितभूताः। (वही)

कर सकते हैं, साध्य का नहीं[१]। भारतीय साहित्य-शास्त्र की अलंकार-कल्पना के भीतर प्रायः सभी प्रकार की काव्यात्मक कल्पनाओं का समावेश हो जाता है; गुण एवं रीति-धारणा के भीतर साहित्योकर्ष की विशेषताओं तथा शैलियों का उल्लेख दिखाई पड़ता है। इस प्रकार ध्वनि-काव्य के भीतर प्रायः सभी प्रकार की काव्यात्मक कल्पनाओं, रूप-सम्पदायों एवं साहित्योकर्ष की सभी मुख्य विशेषताओं एवं शैलियों का समावेश हो जाता है।

ध्वनि काव्य का सत्य, भौतिक तथ्यों, वैज्ञानिक सूचनाओं या दैनिक जीवन की सामान्य अनुभूतियों से सम्बन्ध नहीं रखता; उसका सत्य स्वयंप्रकाश ज्ञान (intuition) या जीवन की किसी मार्मिक अनुभूति के दर्शन से सम्बन्ध रखता है। ध्वनि काव्य में जो तथ्य गूढ़ रहता है वह साधारण दैनिक जीवन का नहीं होता; वह सामान्य भौतिक जगत् से सम्बन्ध नहीं रखता; वह यांत्रिक ढंग का नहीं होता; वरन् वह बहुत ही नवीन, सूक्ष्म, अलौकिक एवं मार्मिक कोटि का होता है। क्योंकि ध्वनिकाव्यकार या तो किसी सूक्ष्म बलशाली भावना के प्रवेग के कारण ध्वनिकाव्य की रचना करता है, अथवा जीवन के किसी दार्शनिक रहस्य की मार्मिक अनुभूति के कारण। इसीलिए कभी-कभी ध्वनि काव्य कवि की बलशाली भावनाओं के प्रवाह की स्वाभाविक अभिव्यक्ति कहा जाता है। ध्वनि काव्य लिखते समय बलशाली भावनाओं के प्रवेग के साथ ही कर्ता के मस्तिष्क में कल्पना का कार्य आरम्भ हो जाता है। कल्पना के इस कार्य में उसकी तीन शक्तियाँ काम करती हुई दिखाई पड़ती हैं :—

---

१ रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः। ध्वन्यालोक
रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम्
अलंकृतीनां सर्वासामलंकारत्व साधनम्। (वही)
ततो (रस) प्रकाशिनो वाच्यविशेषा एव रूपकादयोऽलंकाराः।
(वही)

१—तलस्पर्शिनी २—व्याख्या करनेवाली ३—संश्लेषण करनेवाली। कल्पना की तलस्पर्शिनी शक्ति के सक्रिय होने पर कवि किसी वस्तु, दृश्य, व्यक्ति, परिस्थिति, घटना के बाह्य आवरण को भेदकर उसके अन्तर्जगत में प्रवेश करता है तथा उसके सारभूत महत्त्वपूर्ण अंश को ग्रहण कर आनन्द से विह्वल हो जाता है; वस्तु, परिस्थिति, घटना या दृश्य के सत्य या संदेश को प्राप्त कर अलौकिक आनन्द में मग्न हो जाता है; कल्पना की इसी शक्ति के सक्रिय होने पर कवि स्वयंप्रकाश ज्ञान (intuition) की प्राप्ति में समर्थ होता है।

कल्पना की दूसरी शक्ति से कवि संसार की वस्तुओं, परिस्थितियों, दृश्यों को मानव जीवन के सम्बन्ध रूप में देखता है, जीवन के लिए उनके अभिप्राय को समझता है, उनकी उपयोगिता की व्याख्या करता है। कल्पना की तीसरी शक्ति से कर्ता अपने मन में स्थित सौन्दर्य-धारणा के अनुसार अपनी कलाकृति के असम्बद्ध तत्त्वों एवं वृत्तों को संश्लिष्ट रूप में सुसम्बद्ध करता है। कलाकृति के प्रयोजन की दृष्टि से अनावश्यक एवं अनुपयोगी प्रतीत होने वाले तत्त्वों को छोड़ देता है; आवश्यक एवं उपयोगी तत्त्वों को समानुपातिक एवं संगतिपूर्ण ढंग से व्यवस्थित रूप देकर अपने में पूर्ण एक सुसंश्लिष्ट कृति की रचना में समर्थ होता है। अब प्रश्न यह उठता है कवि की कल्पना कब ऐसा कार्य करने में समर्थ होती है। कवि की कल्पना निरपेक्ष या निराधार रूप में ऐसी शक्तियों से आपूरित नहीं हो सकती और न ऐसी कल्पना

---

१. *Emotion, then, from first to last inseperably attends the exercise of imagination, preeminently in him who creates*

२. *It (peneterative imagination) is that subtle and mysterious gift, that intense intuition, which, piercing beneath all surface appearance goes straight to the core of an object .... lays hold of the inner heart, the essential life of a scene, a character, a situation; and expresses it in a few immortal words.*

इलहाम के रूप में कवि के मस्तिष्क में पैदा होती है। कल्पना में उपर्युक्त तीनों प्रकार की शक्तियों को लाने के लिए कवि का जगत, जीवन एवं प्रकृति का निरीक्षण, अध्ययन एवं श्रवण बहुत विस्तृत होना चाहिए। उसके मस्तिष्क में जगत, जीवन एवं प्रकृति के विविध क्षेत्रों के नाना प्रकार के दृश्यों, रूपों, भावों, विचारों, धारणाओं की अपार राशि संचित रहनी चाहिए। जीवन के विस्तृत अनुभव, सूक्ष्म एवं विशद निरीक्षण, अध्ययन, चिन्तन तथा अनुशीलन के आधार पर उसे जीवन सम्बन्धी अपना एक दर्शन बना लेना चाहिए। तात्पर्य यह कि कवि का व्यक्तित्व बहुत विशद होना चाहिए और जीवन के किसी महान सत्य की उसे मार्मिक अनुभूति होनी चाहिए। जब कवि का व्यक्तित्व उपर्युक्त सभी तत्त्वों से निर्मित रहेगा तभी उसकी कल्पना में उक्त तीनों शक्तियाँ आ सकती हैं और तभी वह ऐसी कलाकृति की रचना में सफल हो सकता है कि जिसमें इतनी अधिक सूचकता की शक्ति रहेगी कि वह सभी देशों तथा सभी कालों के लिए जीवन के उत्कर्षपूर्ण निर्माण का सन्देश दे सकती है।

ध्वनि काव्य में उपदेश और आनन्द का ही नहीं वरन् काव्य के अन्य प्रयोजनों का भी समन्वय रहता है। ध्वनि काव्य में प्रयोजन सदा प्रच्छन्न रहता है। उपदेश सदा कान्तासम्मित ढंग से रहता है। कविता का सबसे पहला प्रयोजन है वास्तविक भावों (genuine feeling) को प्रेषणीय बनाना। ध्वनि काव्य में कवि की अनुभूति वैयक्तिक होती है; इसलिए काव्यान्तर्गत प्रतिष्ठित भावना वास्तविक होती है। कवि कलात्मक रूप में उसे अभिव्यक्त कर रसमयी बना देता है; फलतः वह प्रेषणीय हो जाती है। गद्यकाव्य (Prose) का प्रयोजन कथन या तथ्यनिरूपण है किन्तु पद्य काव्य (Poetry) का प्रयोजन किसी भाव, विचार या सत्य को ध्वनित (Suggest) करना होता है[१]। ध्वनि काव्य, पद्यकाव्य (Poetry) के इस प्रयोजन

---

१. *The business of Prose is primary to state, of poetry not only to state but primarily to suggest* (Livingston)

को सबसे अधिक सफलता से पूर्ण करता है। पं०राज जगन्नाथ की दृष्टि में कविता का प्रयोजन रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करना है[1]। ध्वनि काव्य में व्यंग्यार्थ की उपमा ललनालावण्य से दी गई है। जिस प्रकार किसी सुन्दर ललना का लावण्य उसके सभी अंगों अवययों की अपेक्षा सबसे अधिक रमणीय, चमत्कारक एवं आकर्षक होता है तद्वत् ध्वनि काव्य का व्यंग्यार्थ उसके अन्य अर्थों (अभिधेयार्थ-लक्ष्यार्थ) अवयवों (अलंकार, गुण रीति आदि) की अपेक्षा सबसे अधिक रमणीय, चमत्कारक एवं आकर्षक होता है। ध्वनि काव्य व्यंग्यार्थ के अभाव में अस्तित्व हीन हो जाता है अतः ध्वनि काव्य को अस्तित्व में लाने के लिए सबसे पहला प्रयोजन—व्यंग्यार्थ की अभिव्यक्ति में सफलता प्राप्त करना है। साहित्यदर्पणकार की दृष्टि में काव्य का मुख्य प्रयोजन रस निष्पत्ति करना है। ध्वनि काव्य में ध्वनि तत्त्व उसकी आत्मा है और ध्वनित होने वाला तत्त्व रस या भाव है। रस या भाव का संस्पर्श जिस व्यंग्यार्थ पूर्ण अभिव्यक्ति में रहेगा वही काव्य की श्रेणी में स्थान पा सकेगी। ध्वनि, रस-गर्भित होने से ही काव्य की आत्मा होने का अधिकार प्राप्त कर सकती है। नाटकों में रस का तत्त्व भरतादि के द्वारा मान लिया गया था, पर श्रव्य काव्यों अथवा उनके किसी स्फुट छन्द या पद्य में रस की सत्ता स्वीकृत नहीं हुई थी। श्रव्य काव्य अथवा उसके किसी एक फुटकल छन्द में रस की सत्ता के सिद्ध करने के लिए ही ध्वनि-सम्प्रदाय की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार ध्वनि सम्प्रदाय के सिद्धान्तानुसार ध्वनि काव्य का मुख्य प्रयोजन भाव या रस की व्यंजना करना है, यह दूसरी बात है कि ध्वनिवादियों द्वारा रस या भाव के ध्वनि या व्यंजना प्रक्रिया द्वारा प्रेषणीय बनाने की बात सिद्ध की गई। किन्तु इससे ध्वनि काव्य के मुख्य प्रयोजन (रस निष्पत्ति में कोई अन्तर नहीं पड़ता। ध्वनि-मत रस-निष्पत्ति या रस-प्रतीति के प्रयोजन पर इतना अधिक बल देता है कि इस प्रयोजनपूर्ति में

---

१ रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।

कम सफल या अशक्त रचना को क्रमशः गुणीभूत व्यंग्य तथा चित्र-काव्य की श्रेणी में रखकर उन्हें मध्यम तथा अधम काव्य की संज्ञा देता है। ध्वनि-काव्य का प्रयोजन रसप्रतीति मान लेने पर काव्य या कला का तात्कालिक प्रयोजन सद्यःपरनिर्वृति या अलौकिकानन्द अथवा सत्वोद्रेक उसके अन्तर्गत परिणाम रूप में अपने आप आ जाता है। काव्य का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रयोजन शिवेतर तत्त्वों से मनुष्य की रक्षा करना है। रस-दशा प्राप्त करने पर पाठक का हृदय अशिवत्व से शिवत्व, अनुचित से उचित, तमोगुण तथा रजोगुण से सतोगुण की भूमि में प्रविष्ट करता है, उसके संकुचित भावों का उदात्तीकरण होता है, उसके मनोविकारों का परिष्कार होता है, उसमें पारिवारिक, नागरिक, सामाजिक तथा विश्वात्मक सम्बन्धों के औचित्यपूर्ण निर्वाह की प्रवृत्ति जगती है: उसका हृदय वैयक्तिक स्वार्थों की संकुचित सीमा से ऊपर उठकर लोकसामान्य भावभूमि में विचरण करने लगता है, उसके मन में करणीय के प्रति रुचि तथा अकरणीय के प्रति अरुचि उत्पन्न हो जाती है। शिव या शिवेतर कार्यों की जानकारी मात्र से ही हम उन्हें करने या न करने के लिए तैयार नहीं होते; वरन् जब उन कार्यों के स्वरूप या परिणाम की ऐसी बात हमारी भावना में आती है कि जिससे हमारे हृदय में प्रसन्नता, करुणा, उत्साह, क्रोध, भय आदि का वेग उत्पन्न हो तब हम उस शिव या शिवेतर कार्य को करने या न करने के लिए तत्पर होते हैं। किसी भी कर्म की ओर प्रवृत्त करने के लिए मन में तत्सम्बन्धी भाव का वेग आना आवश्यक है। ध्वनि काव्य अपनी रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया से उचित या शिव कार्य की ओर ही हमारे मन के भावावेग को उत्पन्न करता है। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि भावाभास तथा रसाभास से शिव कार्य की ओर कैसे प्रवृत्ति होगी? रस का सिद्धान्त पहले नाटक से निकाला गया। वहाँ भावाभास, रसाभास आदि की परिणाम सहित योजना इस उद्देश्य से की जाती थी कि उसके दुष्परिणाम को जानकर असत् से अरुचि उत्पन्न हो तथा साथ ही उसकी तुलना में भावों एवं रसों की परिणाम सहित योजना देख कर सत् के

प्रति रुचि उत्पन्न हो। दूसरे, काव्य शास्त्र की रूढ़ियों के पालनार्थ नाटक अथवा महाकाव्य में भावाभास अथवा रसाभास की योजना आवश्यक हो जाती थी। जैसे, महाकाव्य में नायक को उपदेशक रूप में आना चाहिए। इस रूढ़ि के पालनार्थ केशव ने राम से कौशल्या को भी उपदेश दिलवाया। ऐसे स्थलों पर भावाभास को रूढ़ि का पालन-मात्र समझना चाहिए। फिर भी इस प्रकार के भावाभासों से व्यवहारविदता नामक काव्य-प्रयोजन तो सिद्ध ही होता है। रसाभास की परिणाम सहित योजना प्रतिनायक या तत्सम्बन्धी पात्रों के कार्यों, वृत्तियों आदि के वर्णन से होती थी। काव्यों के भीतर इनकी योजना के दो ही मुख्य उद्देश्य जान पड़ते हैं। एक तो यथार्थ की प्रतिष्ठा; दूसरे, जीवन के असत् पक्ष का परिणाम सहित चित्रण कर सत्पक्ष का प्रकर्ष सिद्ध करना तथा असत् के प्रति घृणा उत्पन्न करना। ध्वनि सम्प्रदाय ने भावाभास तथा रसाभास को रस सिद्धान्त से ग्रहण किया। अतः इन्हें रस सम्प्रदाय के सिद्धान्त की दृष्टि से देखना चाहिए। कहने की आवश्यकता नहीं कि भावाभास तथा रसाभास को प्रबन्ध काव्य के सन्दर्भ में देखने से व्यवहार-विदता तथा शिवेतररक्षा नामक काव्य प्रयोजन अवश्य ही सिद्ध होंगे। आचार्य मम्मट की दृष्टि में काव्य का एक महत्त्वपूर्ण प्रयोजन पाठक को व्यवहारविद् बनाना है। दूसरे शब्दों में उसे सभ्य एवं सुसंस्कृत बनाना है। कोई मनुष्य सभ्य तथा सुसंस्कृत तभी कहा जायगा जब वह अपने परिजन, पुरजन, सम्बन्धी, पड़ोसी, देशवासी किम्बहुना प्राणिमात्र के साथ सामंजस्य स्थापित करते हुए जगत के साथ तादात्म्य का अनुभव कर सके; अशेष सृष्टि के साथ अपने रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा करने में समर्थ हो सके। अब प्रश्न यह है कि क्या ध्वनि काव्य पाठक को ऐसी सभ्यता एवं संस्कृति का व्यवहार सिखा सकता है? इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि ध्वनि काव्य में व्यंजना-प्रक्रिया द्वारा रस-परिपाक होता है; और पाठक के हृदय में रसनिष्पत्ति होने से ही वह सभ्यता एवं संस्कृतिगत कार्यों की ओर उन्मुख हो सकता है। रसनिष्पत्ति औचित्य रक्षा की स्थिति में ही संभव है; अनौचित्य

के अतिरिक्त रसभङ्ग का कोई दूसरा कारण नहीं। और सभ्यता तथा संस्कृति सम्बन्धी सभी प्रकार के व्यवहार औचित्य के भीतर समाहित हो जाते हैं। इस प्रकार ध्वनि काव्य 'व्यवहार विदता' नामक काव्य-प्रयोजन की पूर्ति में भी सफल दिखाई पड़ता है। आर्नोल्ड के मत से काव्य का प्रयोजन जीवन की व्याख्या या आलोचना करना है। ध्वनि-काव्यकार अपने स्वयंप्रकाश ज्ञान (intuition) द्वारा व्यंजनात्मक ढंग से अपने काव्य में सूत्रात्मक पद्धति से जीवन की व्याख्या या आलोचना उपस्थित करता है। उसकी एक एक पंक्ति से इतने अधिक विचार या भाव सूचित (suggest) होते हैं कि उसकी व्याख्या के लिए कई पृष्ठ रँगने पड़ते हैं। ध्वनिकाव्यकार सदा जीवन की नयी सूझ, नयी दृष्टि, नव्य दर्शन, नये ढंग से कहता है। ध्वनिकाव्य लिखनेवाला कवि अपने नये संदेश या नये सुझाव अथवा नव्य जीवन दृष्टि के विषय में इतने अधिक विचार या भाव रखता है कि उन सबको व्यक्त करने में उसकी वाणी असमर्थ हो जाती है इसलिए वह व्यंजना (suggestion) का सहारा लेता है। पर वह व्यंजना-पद्धति द्वारा अपने ढंग से जीवन की आलोचना ही करता है। कविता का भव्यतम प्रयोजन पाठक के हृदय को मानवता की उस विशद तथा उच्च भूमि में पहुँचाना है जहाँ पहुँच कर वह जाति, धर्म, देश आदि की सीमाओं से ऊपर उठकर मानव मात्र के सुख, दुःख, आनन्द-क्लेश, विजय, हार का स्वार्थमुक्त रूप में अनुभव करता हुआ अपने हृदय को विश्व-हृदय बना देता है। विभिन्न रसों के स्थायी भावों रति, उत्साह, क्रोध, शोक, करुणा, जुगुप्सा आदि का सम्बन्ध मानवमात्र से है। अतः जो भी कविता इन रसों या भावों से युक्त रहेगी वह अवश्य ही सहृदय पाठक को स्पर्श करेगी चाहे वह किसी देश या जाति का हो; यदि वह कविता की भाषा से सुपरिचित है तो। कहने की आवश्यकता नहीं कि रसध्वनि काव्य विभिन्न रसों या भावों से संपृक्त होने के कारण कविता के उक्त प्रयोजन की पूर्ति, सफल ढंग से करता है। ध्वनि काव्य सूचकता की शक्ति से आपूर्ण होने के कारण, अपने शब्दों में नवनवोन्मेषशाली अर्थ शक्ति रखने के कारण किसी

विशिष्ट देश, युग, जाति की कृति होते हुए भी वसुधा मात्र के लिए सभी युगों में उत्कर्षपूर्ण जीवन-निर्माण का सन्देश देता रहता है। इसी प्रकार ध्वनिकाव्य के प्रयोजनों के भीतर काव्य के अन्य प्रयोजनों—दुखार्तों, श्रमार्तों आदि को सन्तोष देना, पाठकों को धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की प्राप्ति कराना आदि का समाहार दिखाई पड़ता है।

ध्वनिकाव्य में कवि की अनुभूति वैयक्तिक (subjective) होती है; उसका अनुभूत सत्य या जीवन-दर्शन भी वैयक्तिक कोटि का होता है; उसके प्रतीक, कल्पना, दृश्यविधान आदि भी निजी ढंग के होते हैं; इसलिए ध्वनिकाव्य में विचार, भाव, भाषा आदि अनेक दृष्टियों से कवि का व्यक्तित्व बहुत उभरा हुआ दिखाई पड़ता है। वैयक्तिकता कल्पना की विराटता, भव्यता, सूचकता, बलशाली भावना, प्रेरणा, विचारों की सघनता, शब्दों तथा अर्थों में व्यंजनात्मकता आदि के कारण ध्वनिकाव्य प्रगीत काव्य की प्रवृत्ति के अधिक निकट तथा अनुकूल दिखाई पड़ता है। दूसरे शब्दों में इसे हम यों कह सकते हैं कि प्रगीत काव्य में अन्य काव्यों की अपेक्षाकृत ध्वनि काव्य की विशेषतायें अधिक मात्रा में मिलती हैं।

काव्यकला की उच्चतम कसौटी भाषा में व्यंजना शक्ति को अधिकाधिक प्रभावशाली, स्पष्ट, सूक्ष्म, बहुव्यापिनी एवं रमणीय बनाने में है। ध्वनि काव्य इस कसौटी पर सबसे खरा उतरता है[1]। ध्वनि काव्यकार रूढ़ अर्थ रखनेवाले सामान्य शब्दों को अपने अन्तर्ज्ञानोपलब्ध अर्थ से अभिनवता से संपृक्त कर देता है और पुराने शब्द कवि की अभिनव

---

1 *The hight of literary art is to maks the power of suggestion in language as Commonding, as far reaching, as Vivid, as subtle, as possible*

(*Principles of Literary Criticism*—I.A. Richards)

वाणी का स्पर्श पाकर एक नया व्यक्तित्व धारण कर लेते हैं, वे ऐसे सूक्ष्म अर्थों से भर जाते हैं जो किसी शब्दकोष में नहीं मिल सकते, उनमें दूरव्यापी बहुल अर्थ की शक्ति आ जाती है। यह अभिनवता जितनी ही अधिक बहुव्यापिनी होती है उतनी ही अधिक दूराधिरूढ़ व्यंजना शब्दों में आती है। इस विशेषता से युक्त होने पर भाषा के मूल अवयव—संज्ञा, क्रिया, विशेषण आदि सूचनात्मक, भावात्मक एवं अन्तर्ज्ञानोपलब्ध अर्थ से युक्त हो जाते हैं, किन्तु इनमें साध्य या प्रधान अर्थ कवि का अन्तर्ज्ञानोपलब्ध अर्थ ही होता है। जिस काव्य में कवि का अन्तर्ज्ञानोपलब्ध अर्थ जितना अधिक भरा होगा वह ध्वनि-सिद्धान्त की दृष्टि से उतना ही अधिक कलात्मक माना जायगा। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से काव्य में अन्तर्ज्ञानोपलब्ध अर्थ अधिकांश मात्रा में कल्पना के माध्यम से ही आता है। ध्वनिकाव्यकार कल्पनाशील हुए बिना ध्वनिकाव्य लिख ही नहीं सकता। कल्पना की अधिकता होने के कारण ही ध्वनिकाव्य अधिक चित्रात्मक हो जाता है; उसे अन्य काव्यों की अपेक्षा मूर्त आधार अधिक प्राप्त हो जाता है।

ध्वनि-तत्त्व को काव्य की आत्मा कहने का अर्थ है रस को काव्य का आत्मतत्त्व घोषित करना; काव्य में जीवन पक्ष को महत्त्वपूर्ण समझना, काव्य के अन्य तत्त्वों एवं अवयवों की समानुपातिक एवं संगतिपूर्ण व्यवस्था। "काव्यस्यात्मा ध्वनिः" का अर्थ है काव्य में सब कुछ विवरण द्वारा नहीं कहा गया है; कुछ गूढ़ भी रखा गया है; कुछ पाठकों की कल्पना पर भी छोड़ा गया है। ध्वनि को काव्य की आत्मा कहने का अभिप्राय है—सूचकता, गूढ़ता या दुराव में किसी कला का मर्म निहित है। काव्य में जब कुछ अर्थ या भाव अथवा वस्तु दबा कर, छिपा कर सूचकता या व्यंजना के रूप में रखी जाती है तब उसे सुनकर उसके प्रति अधिकाधिक जानने के लिए जिज्ञासा उत्पन्न होती है, उसमें हमारी रुचि केन्द्रित हो जाती है; वह काव्य अधिक आकर्षक प्रतीत होने लगता है। काव्य-सौन्दर्य का केन्द्र ध्वनि कहने का अर्थ, रुचि या रमणीयता को काव्य में महत्तम स्थान देना है।

वस्तुतः जो काव्य हमें रुचिकर प्रतीत नहीं होगा, जो हमारी वृत्तियों को रमा नहीं सकेगा, उससे पाठक तादात्म्य कैसे स्थापित कर सकेगा उससे रसानुभूति कैसे प्राप्त होगी।

ध्वनि को काव्य की आत्मा कहने का तात्पर्य है काव्य में अन्तर्ज्ञानोपलब्ध अर्थ को सबसे मूल्यवान मानना। अन्तर्ज्ञानोपलब्ध अर्थ को काव्य की आत्मा कहने का अर्थ है काव्य को आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति मानना जिसका सम्बन्ध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है। ध्वनि काव्य में ध्वनित होने वाला कवि का अन्तर्ज्ञानोपलब्ध अर्थ जीवन के किसी महान सत्य, दार्शनिक संदेश, मार्मिक तथ्य की अनुभूति से उत्पन्न होता है। कवि जीवन के इस श्रेय तत्त्व को रस ध्वनि की प्रक्रिया द्वारा प्रेय रूप देता है। इस प्रकार ध्वनि को काव्य में सर्वश्रेष्ठ तत्त्व मानने का अर्थ हुआ चारु सम्बन्ध द्वारा संश्लिष्ट रूप में प्रतिष्ठित जीवन के श्रेय और प्रेय तत्त्व को सर्वश्रेष्ठ मानना। ध्वनि को काव्य का सर्व समझने का अर्थ है काव्य को आत्मा की अनुभूतियों के अभिनव रहस्य खोलने का कलात्मक प्रयत्न कहना। पाठक की दृष्टि से इसका अर्थ हुआ कि काव्य जीवन की सूक्ष्म अनुभूति, मार्मिक सत्य, दार्शनिक संदेश, अभिनव सार्थकता, श्रेय एवं प्रेय रूप की संश्लिष्ट अनुभूति तथा आस्वादन के लिए पढ़ा जाता है। यहाँ पाठकों को स्मरण रखने की बात यह है कि काव्य की आत्मा काव्यात्मक ध्वनि ही हो सकती है किसी भी प्रकार का व्यंग्यार्थ नहीं। अतः काव्य की आत्मा ध्वनि कहने में ध्वनि शब्द से मेरा अभिप्राय काव्यात्मक ध्वनि से ही है जो काव्य में प्रधान स्थान प्राप्त करके बसती है।

ध्वनि के मुख्य भेद तथा उनके वर्गीकरण का आधार

ध्वनि के स्वरूप को समझने के लिए ध्वनि के मुख्य भेदों का परिचय आवश्यक है। व्यंग्यार्थ तथा व्यंजनाशक्ति का वर्गीकरण दो मुख्य आधारों पर दिखाई पड़ता है :—

१—व्यंग्य की प्रकृति के आधार पर। २—व्यंग्यार्थ के साथ रूढ़ अर्थ के सम्बन्ध-आधार पर। प्रथम आधार के अनुसार ध्वनि के चार भेद किये गये हैं—रस ध्वनि, भाव ध्वनि, अलंकार ध्वनि, तथा वस्तु ध्वनि। दूसरे आधार के अनुसार इसके दो मुख्य भेद हैं :—अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि तथा अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि। प्रथम के मूल में उपादान लक्षणा तथा द्वितीय के मूल में लक्षण लक्षणा काम करती है। इसलिए इन दोनों को लक्षणामूलक (अविवक्षित वाच्य) ध्वनि भी कहते हैं। लक्षणा मूल में रहने के कारण ही ये दोनों ध्वनियाँ व्यंग्यार्थ के साथ रूढ़ अर्थ के सम्बन्ध-आधार पर आश्रित हैं।

ध्वनि वर्गीकरण का गौण आधार ध्वन्यार्थ के साधनों में दिखाई पड़ता है। आवश्यकतानुसार एक अक्षर से लेकर पूरी कृति ध्वन्यार्थ-साधन का कार्य करती हुई दिखाई पड़ती है। ध्वन्यार्थ-साधनों के भीतर सुब्विशेष, तिङ्विशेष, वचन विशेष, लिङ्विशेष, वर्णविशेष, पद-विशेष, ध्वनि विशेष (काकु) सम्बन्ध विशेष, कारक शक्ति विशेष, कृतविशेष, तद्धित विशेष, समास विशेष, शब्दनिपात, क्रिया विशेष, काल विशेष, उपसर्ग विशेष वाक्य विशेष, रचना विशेष, प्रबन्ध विशेष आदि की गणना की गई है। इन ध्वन्यार्थ-साधनों के आधार पर उपर्युक्त दोनों आधारों के अनुसार की हुई ध्वनियों के भेदों, उपभेदों के इक्यावन भेद किये गये हैं। इनका विस्तृत वर्णन ध्वन्यालोक के तृतीय उद्योत में मिलता है।

ध्वनि के प्रमुख भेद

रस ध्वनि

रस ध्वनि में पाठक के मन में ऐसे अनेकों भाव या विचार उत्पन्न होते हैं जिनसे वह इस प्रकार की सौन्दर्यात्मक कल्पना पूर्ण रूप से अपने

मस्तिष्क में उपस्थित करने में समर्थ होता है कि जिससे वह अपने स्थायी भाव (Basic Mental State) को रस रूप में ध्वनित होता हुआ अनुभव करके पूर्ण आत्म विस्मृति दशा को प्राप्त हो जाता है। रस किसी भी दशा में शब्द विशेष या अर्थ विशेष से वाच्य या बोध्य नहीं होता। वह ध्वनित या सूचित ही होता है। शब्द विशेष से सूचित होने पर काव्य में स्वशब्दवाच्यत्व दोष आ जाता है। रसावयवों में स्थायी और संचारी व्यंग्य हो सकते हैं; विभाव एवं अनुभाव प्रायः वाच्य। कभी कभी विभाव तथा अनुभाव भी व्यंग्य हो सकते हैं; केवल संचारी का वर्णन इतना सजीव किया जा सकता है कि रस के अन्य अवयव ध्वनि रूप में पाठक के मन में आ सकते हैं और रस रूप में परिणत हो सकते हैं, जैसे, लज्जा सर्ग में लज्जा का वर्णन इतना सजीव हुआ है कि रस के अन्य अवयव ध्वनित होकर सहृदय में रस-दशा उत्पन्न कर देते हैं। इसी प्रकार केवल विभाव या अनुभाव का वर्णन भी कभी कभी इतना सजीव होता है कि उससे रस ध्वनित होने लगता है। रस ध्वनि को असंलक्ष्यक्रम ध्वनि भी कहते हैं। विशिष्ट शब्द और अर्थ की क्रमोपस्थिति जिस प्रकार वस्तु ध्वनि और अलंकार ध्वनि में दिखाई पड़ती है उस प्रकार रस ध्वनि या भाव ध्वनि में नहीं। इसी कारण वस्तु ध्वनि तथा अलंकार ध्वनि को संलक्ष्यक्रम व्यंग्य तथा रस एवं भाव ध्वनि को असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य कहते हैं। यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि संलक्ष्यक्रम तथा असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य दोनों अभिधामूलक ध्वनि के भेद हैं क्योंकि इनकी प्रतीति अभिधामूलक ध्वनि द्वारा होती है। अभिधामूला ध्वनि को विवक्षितअन्यपरवाच्य ध्वनि भी कहते हैं क्योंकि इसमें अभिधेय अर्थ की विवक्षा रहती है, अर्थात् वाच्यार्थ भी वांछनीय रहता है। वाच्यार्थ विवक्षित होने पर भी अन्यपरक अर्थात् व्यंग्यनिष्ठ होता है। असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य के विषय में मम्मट की उक्ति ध्यान देने योग्य है :—

अत्र व्यंग्यप्रतीतेर्विभावादिप्रतीतिकारणकत्वात्क्रमोऽवश्यमस्ति किन्तूत्पलपत्रशतव्यतिभेदवल्लाघवान्नसंलक्ष्यते। जैसे, सौ कमल के पत्तों

को ऊपर नीचे रखकर छेदा जाय तो ऐसा प्रतीत होगा कि सूई ने सभी को एक साथ ही छेदा है; यद्यपि पत्ते वास्तव में एक एक करके छिदते हैं; परन्तु शीघ्रता के कारण प्रत्येक पत्ते के छिदने की क्रिया का क्रम दृष्टि-गोचर नहीं होता। इसी प्रकार विभाव, अनुभाव आदि के ज्ञान के साथ इतनी शीघ्रता से रस की प्रतीति होती है कि व्यापारों के बीच क्रम होते हुए भी वह लक्ष्य नहीं होता। रस की प्रतीति इस कारण असंलक्ष्यक्रम ध्वनि के द्वारा मानी जाती है। असंलक्ष्यक्रम का अर्थ ही है कि क्रम है परन्तु अच्छी तरह जानने में नहीं आता। रस रूप कार्य तथा विभावादि कारणों का पौर्वापर्य क्रम तो अवश्य है पर यह क्रम जाना नहीं जाता। अर्थात् वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का पौर्वापर्व सम्बन्ध ठीक प्रकार से ज्ञात नहीं होता। संलक्ष्यक्रम व्यंग्य में यह बात नहीं होती इस में वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का पौर्वापर्यक्रम अच्छी तरह दिखाई पड़ता है अर्थात् वाच्यार्थ के पीछे व्यंग्यार्थ का बोध होता है।

असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य के मुख्य दो भेद हैं—रसध्वनि तथा भावध्वनि रसध्वनि के मुख्य ९ भेद माने गये हैं:—शृंगार, करुण, भयानक, अद्भुत, वीर, रौद्र आदि। भावध्वनि के मुख्य ७ भेद हैं। भाव भावाभास, रसाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि तथा भावशबलता। रसध्वनि तथा भावध्वनि में मुख्य अन्तर यह है कि रसध्वनि की अनुभूति पाठक को रस-दशा तक पहुँचाती है किन्तु भावध्वनि की अनुभूति पाठक को भावदशा तक ही रखती है। रसध्वनि की अनुभूति में सत्वोद्रेक होता है, पाठक का आश्रय के साथ पूर्णतादात्म्य होता है; भावों का साधारणीकरण तथा आस्वादन पूर्ण रूप में होता है; किन्तु भावानुभूति में भाव का आस्वादन उद्वेगजनक होता है, भाव ध्वनि की व्याप्ति रस ध्वनि की अपेक्षाकृत सीमित होती है। आश्रय के साथ पाठक का पूर्ण तादात्म्य नहीं हो पाता; भावाभास तथा रसाभास में अनौचित्य आदि तत्त्वों के रहने के कारण भावों का पूर्ण साधारणीकरण भी नहीं हो सकता। इन ध्वनियों की स्पष्टता के लिए प्रत्येक का एक एक उदाहरण नीचे देखिए:—

रसध्वनिः—दूलह श्री रघुनाथ बने दुलही सिय सुन्दर मन्दिर माहीं।
गावति गीत सबै मिलि सुन्दरि बेद जुआ जुरि विप्र पढ़ाहीं।
राम को रूप निहारति जानकी कंकन के नग की परिछाहीं।
याते सबै सूधि भूलि गयीं कर टेकि रहीं पल टारति नाहीं॥

उपर्युक्त सवैये में राम आलम्बन, नग में राम का प्रतिबिम्ब उद्दीपन, सीता आश्रय, सीता का अपलक नेत्रों से देखना अनुभाव, उनका औत्सुक्य, हर्ष, जड़ता आदि संचारी हैं। इनसे संयोग शृंगार ध्वनित हो रहा है।

विप्रलम्भ शृंगार की ध्वनि नीचे के श्लोक में देखिए :—

के यूयं वद ? नाथ नाथ किमिदम् ! दासोऽस्मि ते लक्ष्मणः।
कोऽहम् वत्स ? स आर्य एव भगवन्, आर्यः स को ? राघवः।
किम् कुर्वम् विजने वने तत् इतो ? देवीम् समुद्वीक्ष्यते।
का देवी ? जनकाधिराजतनया, हाहा प्रिये जानकी॥
(हनुमन्नाटक)

उक्त श्लोक में सीता आलम्बन, राम आश्रय, सीता का वियोग उद्दीपन, राम का उन्माद अनुभाव, राम का हा हा करके रोना संचारी भाव है। इनसे विप्रलम्भ शृंगार ध्वनित हो रहा है।

केवल अनुभाव द्वारा रस-ध्वनि :—

तोरउँ छत्रक दण्ड जिमि, तव प्रताप बल नाथ।
जो न करउँ प्रभु पद सपथ, पुनि न धरौं धनु हाथ॥

उक्त दोहे में कही गई लक्ष्मण की बातें अनुभाव हैं। यहाँ वीर रस का एक अवयव उसे ध्वनित करने में समर्थ है।

केवल उद्दीपन द्वारा रस-ध्वनि :—

घन घमण्ड नभ गरजत घोरा। प्रिया हीन डरपत मन मोरा॥

यहाँ नभ में घमण्डघन का घोर गरजन उद्दीपन है; नायक राम के भय, संताप, आदि अनुभाव हैं। उनका औत्सुक्य, चिन्ता संचारी हैं। इनसे

विप्रलम्भ शृंगार की ध्वनि हो रही है।

अकेले आलम्बन का वर्णन रस को ध्वनित करने में किस प्रकार समर्थ होता है इसका उदाहरण देखिए:—

हा-हा-कार हुआ क्रन्दन मय
कठिन कुलिश होते थे चूर।
हुए दिगन्त बधिर, भीषण रव,
बार बार होता था क्रूर।
दिग्दाहों से धूम उठे, या
जलधर उठे क्षितिज तट के!
सघन गगन में भीम प्रकम्पन,
झंझा के चलते झटके।

उक्त दोनों छन्दों में भयानक रस के आलम्बन प्रलय के वर्णन द्वारा भयानक रस की व्यंजना कराई गई है।

अकेले संचारी के वर्णन द्वारा रसध्वनि का उदाहरण लीजिए :—

नीरव निशीथ में लतिका सी,
तुम कौन आ रही हो बढ़ती।
कोमल बाहें फैलाये सी,
आलिङ्गन का जादू पढ़ती।
किन इन्द्रजाल के फूलों से
लेकर सुहागकण राग भरे।
सिर नीचा कर हो गूँथ रही
माला जिससे मधुधार ढरे।

उपर्युक्त दोनों छन्दों में श्रद्धा के हृदय में उत्पन्न लज्जा नामक संचारी भाव के वर्णन द्वारा शृंगार रस की ध्वनि कराई गई है। अकेले आश्रय की अनुभूति का वर्णन भी रस को ध्वनित करने में समर्थ हो सकता है। कामायनी में श्रद्धा का आत्मसंगीत जिसमें, शृंगार के आश्रय रूप में नायिका की अनुभूति चित्रित है, बहुत ही सुन्दर उदाहरण है :—

चिर विषाद विलीन मन की,
इस व्यथा के तिमिर वन की;
मैं उषा सी ज्योति रेखा,
कुसुम विकसित प्रात रे मन।
जहाँ मरु ज्वाला धधकती,
चातकी कनको तरसती;
उन्हीं जीवन घाटियों की,
मैं सरस बरसात रे मन।

भावध्वनि :—भावध्वनि तीन प्रकार की होती है—(१) देव, गुरु, राजा आदि में रति केवल भाव दशा को प्राप्त हो सकती है, रस दशा को नहीं क्योंकि कान्ताविषयक रति के अतिरिक्त अन्य रतियों की व्याप्ति कम है; संसार भर के सहृदय उनकी अनुभूति या आस्वादन में समर्थ नहीं हो सकते। इसीलिए कान्ता विषयक रति ही अधिकांश आचार्यों द्वारा रस दशा को प्राप्त होनेवाली मानी गई है। किन्तु नये[१] आचार्य अब पुत्र विषयक, देश-विषयक, प्रकृति विषयक तथा अतीत विषयक रति को भी रस के अन्य अवयवों से पुष्ट होने पर रसदशा में पहुँचना संभव बतलाते हैं। विभावादि के अभाव में अथवा परिस्थिति विशेष में रसावस्था को अप्राप्त उद्‌बुद्धमात्र स्थायी भाव केवल भाव-दशा को ही प्राप्त होते हैं रस-दशा को नहीं। संचारी भावों में से जब किसी एक की प्रधानता से अनुभूति होती है और उससे तत्सम्बन्धी रस की पुष्टि नहीं होती तब वह भाव ही की संज्ञा प्राप्त करके रह जाता है। अर्थात् भाव ध्वनि के तीन मुख्य भेद हैं : - (१) देवादिविषयक रति, (२) केवल उद्‌बुद्धमात्र अपरिपक्व स्थायीभाव (३) प्रधानतया ध्वनित होने वाले संचारी भाव।

देवता विषयक रति भाव-ध्वनि के रूप में :—

दरस बिनि दूखण लागे नैन।
जब के तुम बिछुरे प्रभु मोरे कबहुँ न पायो चैन।

---

१ आचार्य शुक्ल जी।

सबद सुणत मेरी छतियाँ काँपै मीठे मीठे बैन।
कल न परत पल हरि मग जोवत भई छ मासी रैन।
बिरह कथा काँसूँ कहूँ सजनी बह गई करवत ऐन।
मीराँ के प्रभु कब रे मिलोगे दुख मेटण सुख दैन।

उपर्युक्त पद में मीरा की कृष्ण विषयक रति शृंगार रस की दशा को प्राप्त नहीं हो सकती, वह भावदशा तक ही रह जाती है क्योंकि वह कामियों के मन में काम रूप से उत्पन्न होती है और भक्तों के मन में भक्ति रूप से। भक्ति को रस मानना चाहिए या नहीं यह बहुत विवादास्पद विषय है। अधिकांश आचार्य उसे भाव ही मानते हैं। आधुनिक युग में भक्ति को भाव ही मानना ठीक है क्योंकि अधिकांश पाठकों का साधारणीकरण उससे नहीं हो सकता।

उद्बुद्ध मात्र स्थायी भाव

उतर देत छाँड़ौं बिनु मारे। केवल कौसिक सील तुम्हारे॥
न तु यहि काटि कुठार कठोरे। गुरुहिं उरिन होतेउँ श्रम थोरे॥

जनकपुरी में धनुष टूटने के पश्चात् लक्ष्मण की व्यंग्यभरी कठोर बातों से क्रोधित परशुराम उपर्युक्त बातें कह रहे हैं। यहाँ आलम्बन, उद्दीपन आदि के होते हुए भी परशुराम का क्रोध रौद्ररस की व्यंजना करने में असमर्थ है। विश्वामित्र के शील के कारण क्रोध उद्बुद्ध होकर ही रह जाता है परिपुष्ट नहीं होता इसलिए भाव ध्वनि है।

प्रधानतया व्यंजित व्यभिचारी भाव से भावध्वनि—

टेढ़ी करैं भृकुटीन तऊ, दृग ये उत्कण्ठ भरे बनि जावत।
मौन गहौं रु चहौं रिस पै जरि जानो अरी! मुखहू मुसकावत।
चित्त करौं हौं कठोर तऊ पुलकावलि अङ्गन में उठि आवत।
कैसे बनै सजनी! पिय सों अब तू ही बता फिर मान निभावत॥

उक्त सवैये में मान करने की शिक्षा देनेवाली सखी को मान की दृढ़ता में असफल नायिका का उत्तर है। जहाँ अनुनय के समय तक मान नहीं ठहर सकता वहाँ विप्रलम्भ शृंगार नहीं किन्तु सम्भोग संचारी होता है। अतः उक्त सवैये में सम्भोग संचारी ध्वनित होने से भाव-ध्वनि है।

रसाभास ध्वनि

भारतीय साहित्य-दर्शन सामाजिकता की परम दिव्य भूमि पर प्रतिष्ठित है; इसी कारण सौन्दर्यानन्द अथवा रस-दशा की पूर्णता लोक मङ्गलकारी नीति, आचार, व्यवहार सम्बन्धी औचित्यों की संरक्षण-स्थिति में ही मानी गई है। अतएव काव्य में जहाँ नीति या सदाचार सम्बन्धी औचित्य का उल्लंघन हुआ वहाँ रसाभास उत्पन्न हो जाता है आभास का अर्थ है अवास्तव में वास्तव-प्रतीति। सहृदयों द्वारा अननुमोदित होने के कारण अनुचित रूप में रस का परिपाक रस-दोष माना गया है। किन्तु रसाभास में अविचार-दशा में आभासिक आनन्द मिलने के कारण क्षणैक के लिए रस की भाँति आस्वाद मिलता प्रतीत होता है; इसलिए वह ध्वनि के अन्तर्गत रखा गया है। शृंगार रस में पुरुष का परस्त्रीगत प्रेम; स्त्री का परपुरुष में प्रेम; रौद्र में गुरु, माता, पिता आदि पूज्यों पर क्रोध; हास्य में गुरु, पिता आदि पूज्य व्यक्तियों का आलम्बन होना; करुण रस में साधू, संन्यासी का विरक्त पुरुष में करुणा; भयानक में उत्तम पात्र में भय; अद्भुत रस में ऐन्द्रजालिक विस्मय; वीर रस में नीच, कायर या नपुंसक पात्र में उत्साह; अयोग्य या अपरिपक्व व्यक्ति में निर्वेद आदि की व्यंजना रसाभास ध्वनि की सृष्टि करती है। रसाभास की कोई सीमित संख्या नहीं बताई जा सकती क्योंकि सामाजिक संरक्षण, मंगल एवं विकास के विरुद्ध जानेवाले सभी कार्य साहित्य के अन्तर्गत रसाभास की ही व्यंजना करेंगे। रसाभास के कुछ उदाहरण लीजिए :—

कामायनी में गर्भवती श्रद्धा के पीले वदन, भावी सन्तति के सम्बन्ध में उसकी चिन्ता, योजना, चेष्टा आदि को देखकर मनु के हृदय में उत्पन्न ईर्ष्या सहृदय जनों को अनुचित प्रतीत होने के कारण रसाभास के ही अन्तर्गत आयेगी।

तिस पर यह पीलापन कैसा,
यह क्यों बुनने का श्रम सखेद।
यह किसके लिए बताओ तो
क्या इसमें है छिप रहा भेद॥

× × ×

यह चिर प्रशांत मंगल की क्यों,
अभिलाषा इतनी रही जाग।
यह संचित क्यों हो रहा स्नेह,
किस पर इतनी हो सानुराग॥

पर-पुरुष में पर स्त्री की रति से श्रृंगार रसाभास—

चलत घैर घर घर तऊ, घरी न घर ठहराति।
समुझि उहीं घर को चलै, भूलि उहीं घर जाति॥

घर घर में निन्दा होने पर भी नायिका परपुरुष से प्रेम नहीं छोड़ती। लोक विरुद्ध प्रेम होने से यहाँ श्रृंगार रस का परिपाक अनौचित्य से भरा है अतः यहाँ रसाभास ध्वनि है।

भावाभास ध्वनि

जहाँ भाव की व्यंजना में किसी प्रकार का अनौचित्य हो या जहाँ भाव रसाभास का अङ्ग होकर आयेगा वहाँ भावाभास ध्वनि मानी जायगी। इड़ा-मनु का प्रेम प्रसंग सारस्वत प्रदेश में भाव की ही कोटि को पहुँच कर रह जाता है क्योंकि मनु इड़ा से अपना स्वच्छ द प्रेम जनता के

समक्ष शारीरिक चेष्टाओं आदि के द्वारा भी दिखाना चाहते हैं। इड़ा इसे घोर अनुचित समझ कर उनके इस प्रेम का प्रत्युत्तर नहीं देती, वरन् घोर विरोध करती है, अतः मनु का रति नामक स्थायी भाव उद्‌बुद्ध हो कर ही रह जाता है, परिपुष्ट नहीं होता। मनु का यह भाव भी अनुचित माना जायगा क्योंकि अपनी स्त्री के प्रति नहीं है। इसलिए इस स्थल पर भाव का आभास मात्र होगा अतः यहाँ भावाभास ध्वनि मानी जायगी :—

> और एक क्षण वह, प्रमाद का फिर से आया।
> इधर इड़ा ने द्वार ओर निज पैर बढ़ाया।
> किन्तु रोक ली गई भुजाओं से मनु की वह।
> निस्सहाय हो दीन दृष्टि देखती रही वह।
>
> (संघर्षसर्ग)

भावशान्ति ध्वनि

जहाँ कोई भाव अपने किसी विरोधी भाव के उदय होने से शान्त हो जाय और वहाँ उसके शान्त होने में चमत्कार दिखाई पड़े तब ऐसे स्थलों पर भाव शान्ति की व्यंजना होती है :—

> अन्यत्र पाद गमनार्थ उठा रहीं सो,
> वो देख रूप शिव का पुलकाङ्गिनी हो,
> मार्गाविरुद्ध गिरि से सरिता गती ज्यों
> यों पार्वती चल सकीं न सकीं खड़ी हो।

पार्वती की प्रेमपरीक्षार्थ छल वेष में गए हुए श्री शंकर के वास्तविक वेष प्रकट करने पर गिरिजा की तात्कालिक मानसिक अवस्था का वर्णन है। यहाँ आवेग सञ्चारी भाव की हर्ष भाव से और हर्ष भाव की जड़ता से शान्ति दिखाई गई है। यहाँ आवेग और हर्ष की शान्ति में चमत्कार है इसलिए यहाँ भावशान्ति ध्वनि है।

भावोदय ध्वनि

यह ठीक भावशान्ति के विपरीत है। जहाँ किसी भाव की शान्ति के पश्चात् उसका कोई विरोधी भाव उदय हो और उदय हुए भाव में ही कविता का चमत्कार हो, वहाँ भावोदय ध्वनि होती है।

पिय को पाँव परावती मानवती रिसियाति।
ह्वै निराश पिय जात लखि पुनि पाछे पछताति।

यहाँ मालिनी नायिका में ईर्ष्या भाव की शान्ति के पश्चात् विषाद भाव का उदय दिखाया गया है। भावोदय में चमत्कार होने के कारण यहाँ भावोदय ध्वनि है।

भावसन्धि ध्वनि

जहाँ समान चमत्कारक दो विरोधी भावों की सन्धि में चमत्कार हो वहाँ भावसन्धि ध्वनि होती हैं।

पिय बिछुरन को दुसह दुख हरषि जात प्यौसार।
दुरजोधन लौं देखियत तजत प्रान इहिं बार।

यहाँ नायिका के मन में नैहर जाने का हर्ष तथा पति वियोग होने का विषाद—दोनों भाव सम चमत्कारक स्थिति में जुड़ रहे हैं इसलिए भावसंधि ध्वनि है। और भी—

करे चाह सों चुटकि कै खरे उड़ौहैं मैन।
लाज नवाये तरफरत करत खुँदी सी नैन॥ (विहारी)

उपर्युक्त दोहे में औत्सुक्य और व्रीड़ा दोनों की भाव संधि है।

भावशबलता ध्वनि

जहाँ विरोधी या उदासीन रहनेवाले बहुत से भावों के मिश्रण में चमत्कार हो वहाँ भावशबलता नामक ध्वनि मानी जायगी। जैसे—

या विधि की विपरीत कथा हा ! विदेह-सुता कित है अरु मैं कित।
ता मृगनैनी बिना बन में अब होइ मो प्रान-अधारहु को इत।
मोहि कहेंगे कहा सब लोग ? रु कैसे लखौगो उन्हें समुहै चित।
राज रसातल जाहु अबै है धरातल जीवन हू में कहा कित।

बनवास के समय सीता के हरण होने पर राम की कातरोक्ति है। "या विधि की विपरीत कथा' से असूया, 'विदेह-सुता कित से' विषाद, "ता मृगनैनी" से स्मृति, 'होइ मो प्रान अधारहु को' से निराशा, 'मोहि कहेंगे कहा सब लोग' से शंका, 'रु कैसे लखौगो उन्हें समुहै' से व्रीड़ा और 'राज रसातल जाहु' में निर्वेद है। अतएव उक्त बहुत से विरोधी भावों के एक स्थल पर मिलने से यहाँ भावशबलता नामक ध्वनि की व्यंजना हो रही है।

संलक्ष्यक्रम व्यंग्यध्वनि के तीन प्रकार होते हैं :—
(१) शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि (२) अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि तथा (३) उभय-शक्त्युद्भव ध्वनि। शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि के दो प्रकार हैं—वस्तु रूप तथा अलंकार रूप। अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि भी या तो वस्तु के रूप में होती है या अलंकार रूप में। इनमें से प्रत्येक या तो स्वतःसंभवी होगी या कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध अथवा कविनिबद्धपात्रप्रौढ़ोक्तिमात्र सिद्ध। इन तीनों भेदों में कहीं वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ दोनों ही वस्तु रूप में या अलंकार रूप में होते हैं और कहीं दोनों में से एक वस्तु रूप में या अलंकार रूप में होता है। इस प्रकार प्रत्येक के चार चार भेद हो जाते हैं। पुनः इन चारों में से प्रत्येक के पदगत, वाक्यगत, तथा प्रबन्धगत भेद से बारह बारह भेद हो जाते हैं। इनमें से कुछ मुख्य ध्वनियों के उदाहरण नीचे दिये जाते हैं।

शब्दशक्त युद्भव-ध्वनि

वाच्यार्थ बोध होने के पश्चात् व्यंग्यार्थ का बोध जिस शब्द द्वारा होता है वहाँ उसके पर्यायवाची शब्द में व्यंग्यार्थ बोध कराने की शक्ति न हो

तो उसे शब्दशक्त्युद्भव-ध्वनि कहते हैं। इसके २ मुख्य भेद हैं वस्तुध्वनि तथा अलंकार ध्वनि। वस्तुध्वनि उसे कहते हैं जहाँ किसी बात, घटना, परिस्थिति आदि की व्यंजना हो। अलंकार तथा भाव के अतिरिक्त अन्य व्यंग्य-विषय वस्तु ध्वनि में ही सम्मिलित हैं। जहाँ वाच्यार्थ बोध हो जाने पर किसी पद या वाक्य द्वारा व्यंग्यार्थ रूप में अलंकार ध्वनित होता हो उसे अलंकार ध्वनि कहते हैं। वस्तु-व्यंजना तथा अलंकार व्यंजना पद गत तथा वाक्य गत होने के कारण इनमें से प्रत्येक के दो दो भेद हैं। इस प्रकार शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि के चार भेद हो जाते हैं। पदगत वस्तु ध्वनि, वाक्य-गत वस्तु ध्वनि, पदगत अलंकार ध्वनि तथा वाक्यगत अलंकार ध्वनि। अब इनमें से प्रत्येक का उदाहरण नीचे दखिए।

पदगतशब्दशक्तिमूलकसंलक्ष्यक्रमवस्तुध्वनि

जो पहाड़ को तोड़ फोड़ कर बाहर कढ़ता।
निर्मल जीवन वही सदा जो आगे बढ़ता॥

उक्त पक्तियों का वाच्यार्थ है कि पहाड़ को तोड़ कर जो जीवन (पानी) बाहर निकलता है वह निर्मल होता है। इस वाच्यार्थ के पश्चात् जीवन शब्द के श्लेष से यह व्यंग्यार्थ निकलता है कि मनुष्य का वही जीवन पवित्र और प्रगतिशील माना जायगा जो पहाड़ जैसी विपत्तियों को भी चीर कर आगे बढ़े। यहाँ यदि जीवन शब्द को बदल दिया जाय तो वस्तु रूप में व्यंजित मनुष्य जीवन ध्वनित नहीं हो सकता। अतः यहाँ पदगतशब्दशक्तिमूलकवस्तुध्वनि है।

वाक्यगतशब्दशक्तिमूलकसंलक्ष्यक्रमवस्तुध्वनि

यह जोबन तरुण सु रुचिर,
पीकर पाकर पूर्ण।

यह उक्ति नायिका की है जिसके निकट उसका उपनायक भी है। वह अपनी सखियों से कह रही है—यह पीपर, पाकर वृक्षों से पूर्ण जंगल कितना सुन्दर है। सखियों ने इसका व्यंग्यार्थ समझा कि विहार के

लिए यह स्थल कितना रमणीय है। किन्तु यह वास्तविक व्यंग्यार्थ नहीं है। उपनायक ने इसका व्यंग्यार्थ समझा कि हे तरुण सुन्दर पी पर (पर पी = पराये प्रियतम) तुम्हें पाकर यह मेरा जोबन (हमारा यौवन) आज पूर्ण (सफल) हुआ और यही नायिका का वास्तविक व्यंग्यार्थ है। यह व्यंग्यार्थ वस्तु रूप है और यह वाच्यार्थ बोध के पश्चात् श्लिष्ट शब्दों की शक्ति द्वारा प्राप्त होता है, परन्तु सम्पूर्ण वाक्य से ध्वनित होता है किसी एक शब्द से नहीं। अतः यह वाक्यगत शब्दशक्ति मूलक वस्तु ध्वनि का उदाहरण है।

पदगत शब्द शक्तिमूलक संलक्ष्य क्रम अलंकार ध्वनि वहाँ होती है जहाँ वाच्यार्थ का बोध हो जाने पर किसी पद की शक्ति द्वारा अलंकार की व्यंग्यार्थ रूप में व्यंजना होती हो।

चढ़ मृत्युतरणि पर तूर्ण चरण,
कह—पितः पूर्ण आलोक वरण;
करती हूँ मैं, यह नहीं मरण,
'सरोज' का ज्योतिः शरण—तरण।

निराला

उक्त छन्द में सरोज पद द्वारा व्यंग्यार्थ बोध होता है और उस व्यंग्यार्थ से दृष्टान्त अलंकार की ध्वनि निकलती है। जिस प्रकार सूर्य की किरणों से जीने वाला सरोज (कमल) अपने जीवन देने वाली महा किरणों में मिल जाय तो उसकी मृत्यु नहीं कहनी चाहिए। उसी तरह परब्रह्म से उद्भूत यह मेरा जीवात्मा आज उसी परम प्रकाशमय ब्रह्म में मिल रहा है अतः यह मेरी मृत्यु नहीं है। यहाँ व्यंग्यार्थ अपने वाच्यार्थ द्वारा दृष्टान्त अलंकार के रूप में ध्वनित होकर प्रतीत हो रहा है। इस दृष्टान्त अलंकार ध्वनि का आविर्भावक शब्द सरोज है। अतः यह पदगत शब्दशक्तिमूलक अलंकारध्वनि है।

वाक्यगत शब्दशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रम अलंकारध्वनि

जहाँ वाच्यार्थ का बोध हो जाने पर पूरे वाक्य की शक्ति द्वारा अलंकार व्यंग्यार्थ रूप में ध्वनित होता है वहाँ वाक्यगत शब्दशक्तिमूलक अलंकार-ध्वनि होती है। जैसे,

> निरुपादान सम्भारमभित्तावेव तन्वते* ।
> जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाघ्याय शूलिने ॥

उक्त श्लोक से भगवान शंकर का सृष्टि-रचना-कला का लोकोत्तर उत्कर्ष व्यंग्य द्वारा व्यंजित किया गया है। सामान्य चित्रकार रङ्ग, कूँची आदि सामग्रियों से दीवाल आदि किसी आधार पर चित्र बना सकता है पर शंकर भगवान ने बिना सामग्री तथा आधार के शून्य स्थान पर जगत का विचित्र चित्र बनाया है। इस प्रकार इस वर्णन में पूर्ण वाक्य के व्यंग्य द्वारा व्यतिरेक अलंकार ध्वनित होता है। उक्त श्लोक में यदि चित्र और कला शब्द बदल दिये जायँ तो व्यंग्यार्थ प्रतीति नहीं हो सकता इसलिए यह वाक्यगत शब्द शक्तिमूलक अलंकार ध्वनि है।

अर्थशक्त्युद्भवध्वनि

जहाँ शब्द परिवर्तन होने पर भी—अर्थात् उन शब्दों के पर्यायवाची शब्दों के द्वारा भी जहाँ व्यंग्यार्थ का बोध हो वहाँ अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि होती है। इसके सब भेद उपभेद मिलाकर ३६ होते हैं। अतः सबका उदाहरण प्रस्तुत करने से बहुत अनावश्यक विस्तार हो जायगा। अतः उसके कतिपय प्रमुख भेदों का उदाहरण नीचे दिया जाता है।

स्वतःसंभवी अर्थमूलक वस्तु से वस्तु ध्वनि। इस बालक के पिता इस कुएँ का खारा पानी न पीयेंगे। मैं झटपट तमालाकुल सोते पर

---

* उपादान संभार बिन जगत-चित्र बिन भीत।
कला-श्लाघ्य हर ने रच्यौ बन्दौं उन्हें विनीत।
(काव्यकल्पद्रुम से)

जाती हूँ। पुराने नरसल की गाठें देह में खरोंट डालें तो डालें। यहाँ 'नरसल की खरोंट' स्वतःसंभवी वस्तु है। इस स्वतःसंभवी वस्तु से भावी रतिचिह्नगोपन नामक वस्तु की व्यंजना हो रही है।

स्वतःसम्भवी वस्तु से अलंकार व्यंग्य

रवि-प्रताप हू घटत है जब वह दच्छिन जाय।
रघु प्रताप नहिं सहि गयो नृपन तिहीं दिशि मायँ॥
रघुवंश (अनुवाद)

दक्षिण दिशा में जाकर सूर्य का प्रताप (धूप) घट जाता है पर उस दिशा में जाने पर भी रघु का प्रताप नहीं घटा। उस प्रताप को दक्षिण दिशा के (पाराड्य देश के) राजा नहीं सह सके। यह स्वतःसंभवी वस्तु वाच्यार्थ है और इसके द्वारा सूर्य के तेज से भी रघु के तेज का उत्कर्ष सूचित होता है। अतः इस व्यंग्यार्थ से व्यतिरेक अलंकार की ध्वनि हो रही है।

स्वतः सम्भवी अलंकार से वस्तु व्यंग्य

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्वाति नरोपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यनानि संयाति नवानि देही॥

इस उक्ति में उपमा अलंकार स्वतः संभवी रूप में वाच्यार्थ है। इसमें ध्वनि यह है कि जन्म मरण तो होता ही रहता है पर युद्ध में जीतने से यहाँ सुख और सुकीर्ति है और मरने से स्वर्ग प्राप्ति है। अतः उभय लोक साधक युद्ध अवश्य ही कर्तव्य है—यह वस्तु व्यंग्य है।

स्वतःसंभवी अलंकार से अलंकार व्यंग्य

देह दुलहिया की बढ़ै ज्यों ज्यों जोबन जोति।
त्यों त्यों लखि सौतैं सबै बदन मलिन दुति होति॥

दुलहिन की जोबन जोति बढ़ने से सौतों का मुख मलिन हो रहा है। एक के गुण से दूसरे का दोष वर्णित है अतः यहाँ उल्लास अलंकार है। ज्योति रूप विरुद्ध कारण से मालिन्य रूप कार्य वर्णित है अतः विभावना अलंकार ध्वनित है। नवयौवना सौत की सौन्दर्य-वृद्धि से पुरानी सौतों का मुख मलिन होना स्वतःसम्भवी है।

कविप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध वस्तु से वस्तु व्यंग्य

सिय वियोग दुख केहि विधि कहउँ बखानि।
फूल बान ते मनसिज बेधत आनि।
सरद चाँदनी सँचरत चहुँदिशि आनि।
बिधुहिँ जोरि कर बिनवत कुल गुरु जानि॥

यहाँ कामदेव का पुष्प शर से सीता को बेधना, चन्द्रमा को कुलगुरु जानकर सीता का प्रार्थना करना आदि कवि प्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध वस्तु है। किन्तु इन्हीं कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध वस्तुओं से सीता की वियोग दशा तथा प्रेमाधिक्य वस्तु ध्वनित होती है। अतः यहाँ कविप्रौढ़ोक्तिमात्र सिद्ध वस्तु से वस्तु व्यंग्य है।

कविप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध वस्तु से अलंकार व्यंग्य

निशि ही में शशि करतु है केवल भुवन प्रकाश।
तेरो यश निशि दिन करत त्रिभुवन धवल उजास॥

उक्त दोहे में राजा के यश से त्रिभुवन में प्रकाश होना कवि-कल्पना मात्र है अतः कवि प्रौढ़ोक्ति है। चन्द्रमा केवल रात्रि में ही प्रकाश करता है और तेरा यश दिन रात ? इस वस्तु से व्यतिरेक अलंकार की ध्वनि निकलती है क्योंकि उपमान से उपमेय बढ़ कर सिद्ध किया गया है। अतः यहाँ कविप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध वस्तु से अलंकार व्यंग्य है।

कवि प्रौढ़ोक्तिमात्र सिद्ध अलंकार से वस्तु व्यंग्य

सिय मुख सरद कमल किमि कहि जाइ।
निसि मलीन वह निसिदिन यह विगसाइ॥

सीता का मुख रात दिन विकसित रहता है—यह वाच्यार्थ कवि-प्रौढ़ोक्तिमात्र सिद्ध है। यहाँ उपमान में उपमेय से अधिक गुण बतलाने के कारण व्यतिरेक अलंकार है। और इस कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध व्यतिरेकालंकार से सीता के मुख का अतिशय सौन्दर्य तथा सौकुमार्य व्यंग्य है।

कविप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध अलंकार से अलंकार व्यंग्य

सुनत विहारी के ललित दोहन-मोहन मंत्र।
सहृदय हृदय न सुधि रहत लगत न जंत्र न तंत्र॥

विहारी के दोहों को मोहन-मंत्र कहने में रूपक अलंकार वाच्यार्थ है। अन्य मंत्रों की मोहन शक्ति पर जंत्र तंत्रों का प्रभाव हो सकता है किन्तु विहारी कवि के इन दोहों के मोहन-मंत्रों पर जंत्र मंत्र प्रभाव नहीं डाल सकते—यह उत्कर्ष सूचन है, उपमेय पक्ष का। अतः व्यतिरेक अलंकार यहाँ व्यंग्य है। यह कवि कल्पित वर्णन है अतः कवि प्रौढ़ोक्तिमात्र सिद्ध अलंकार से अलंकार व्यंग्य है।

कवि-निबद्ध-पात्र प्रौढ़ोक्तिमात्र सिद्ध व्यंग्य

यह ध्वनि वहीं होती है जहाँ कवि-कल्पित पात्र की कल्पित उक्ति द्वारा किसी वस्तु या अलंकार का व्यंग्य होता है। कविप्रौढ़ोक्तिमात्र-सिद्ध तथा कविनिबद्धपात्रप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध में अन्तर यह है कि पहली में कविकल्पित वस्तु या अलंकार से अलंकार या वस्तु ध्वनित होती है किन्तु दूसरी में कवि-कल्पित पात्र की प्रौढ़ उक्ति से। उपर्युक्त

ध्वनियों की तरह इसके भी बारह भेद होते हैं किन्तु मैं यहाँ केवल उसके मुख्य चार भेदों का उदाहरण दे रहा हूँ।

कवि निबद्धपात्र प्रौढ़ोक्ति मात्र सिद्ध वस्तु से वस्तु व्यंग्य

करी विरह ऐसी तऊ गैल न छाँड़त नीच।
दीन्हेऊ चसमा चखनि चाहत लखै न मीच॥

नायिका के प्रियतम से कविकल्पितपात्र नायिका की सखी कहती है कि विरह ने उसकी ऐसी बुरी हालत कर दी है कि वह मृत्यु द्वारा चश्मा लगाने पर भी नहीं दिखाई पड़ती तब भी वह अपनी गैल (प्रेम-पथ) नहीं छोड़ती मौत का चसमा लगाकर देखना, कविकल्पित पात्र की कल्पित उक्ति है इस वाच्यार्थ वस्तु से द्वितीय वस्तु व्यंग्य है कि तुम्हारे वियोग में वह मृत्युशैय्या पर पड़ी है। यहाँ नायिका की अत्यन्त कृशता-व्यंग्य है। विरह ने ऐसी बुरी दशा कर दी है तब भी वह अपना गैल नहीं छोड़ती अर्थात् प्रेम-पथ से नहीं डिगती—इस दूसरी वाच्यार्थ वस्तु से उसका प्रेमाधिक्य वस्तु व्यंग्य है। अतः यहाँ कविनिबद्धपात्रप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध वस्तु से वस्तु व्यंग्य है।

कविनिबद्धपात्रप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्धवस्तु से अलंकार व्यंग्य।

मदन बान तजि पञ्चता सखि! वे भये अनन्त।
विरहिन को अब पञ्चता आई हाय! बसन्त॥

कविनिबद्धपात्र नायिका की उक्ति है कि हे सखि! कामदेव के पुष्प बाण बसन्त ऋतु में अपनी पंचता (पाँच संख्या) छोड़कर अनन्त हो गये अतः वियोगियों को पंचता (मृत्यु) आ गई। इस वस्तु रूप वाच्यार्थ द्वारा (बाणों की पंचता मानो वियोगी जनों में आ गई से) उत्प्रेक्षा अलंकार ध्वनित हो रहा है। अतः यहाँ कविनिबद्धपात्र-प्रौढ़ोक्तिमात्र सिद्ध वस्तु से अलंकार व्यंग्य है।

कविनिबद्धपात्रप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध अलंकार से वस्तु व्यंग्य

तरुन कोकनद बरन बर, भये अरुन निशि जागि।
वाही के अनुराग दृग रहे मनौ अनुरागि॥

यहाँ कवि-निबद्ध पात्र खंडिता नायिका का अनुराग-रंग लाल बतलाना और उसका आँखों में छा जाना कविनिबद्धपात्र प्रौढ़ोक्ति है नायिका अपने पति की आँखों में परकीया के अनुराग छा जाने की कल्पना करती है अतः यहाँ उत्प्रेक्षालंकार है। और इस उत्प्रेक्षालंकार द्वारा पति के प्रति अपना रोष प्रकट करती है—यह वस्तु रूप व्यंग्य है। इस प्रकार यहाँ कवि निबद्धपात्रप्रौढ़ोक्तिसिद्ध अलंकार से वस्तु व्यंग्य है।

कविनिबद्धपात्रप्रौढ़ोक्तिसिद्ध अलंकार से अलंकार व्यंग्य

नित संसौ हंसौ बचत मनहु सु यहि अनुमान।
विरह अगिनि लपटन सकत झपटि न मीचु समान॥

सखी की उक्ति—'विरह-अगिनि' तथा 'मीचु समान' में कविनिबद्ध पात्रप्रौढ़ोक्ति है; दोनों में रूपकालंकार है। सदा यहाँ संशय बना रहता है कि इस विरहिणी का प्राण कैसे बचा है। मानो यही अनुमान करके कि मृत्यु रूपी बाज विरहाग्नि की लपटों के कारण प्राण पर झपट नहीं सकता—इसमें उत्प्रेक्षा अलंकार है। न मरने का कारण सिद्ध करने से काव्यलिङ्ग भी है। किन्तु यहाँ दोनों रूपक अलंकारों से विशेषोक्ति अलंकार ध्वनित हो रहा है क्योंकि समर्थ कारण रहने पर भी कार्य नहीं होता। इसलिए यहाँ कवि निबद्ध पात्र प्रौढ़ोक्तिसिद्ध अलंकार से अलंकार व्यंग्य है।

उभयशक्त्युद्भवध्वनि

शब्दार्थोभयशक्तिमूलक संलक्ष्य व्यंग्य में शब्द और अर्थ दोनों की

शक्तियाँ समान रूप से मिलकर वस्तु को व्यक्त करती हैं अर्थात् शब्द के व्यंजकत्व में अर्थ सहायक होता है और अर्थ के व्यंजकत्व में उसका शब्द। इस प्रकार विवक्षित व्यंग्यार्थ के बोधन में दोनों प्रधान रूप से कार्य करते हैं। इसमें कतिपय श्लिष्ट पदों का प्रयोग होता है। श्लिष्ट पदों में से कुछ पद ऐसे होते हैं जो अपने पर्यायवाची शब्दों से अपना व्यंग्यार्थ प्रकट करते हैं और कुछ ऐसे भी होते हैं जो अपने पर्यायवाची शब्दों से व्यंग्यार्थ प्रगट करने में असमर्थ होते हैं पर व्यंग्यार्थ-बोधन में दोनों प्रधान रूप से अपेक्षित रहते हैं। इसका पदगत भेद नहीं होता केवल वाक्यगत भेद होता है और वह भी एक ही। वाक्यगत वस्तु से केवल अलंकार व्यंग्य होता है, वस्तु नहीं। इसलिए इसका एक ही भेद माना गया है। जब व्यंजना में व्यंजक की शब्द शक्ति और अर्थ शक्ति दोनों साथ ही काम करेगी तो वह व्यंजक वस्तु रूप ही ठहरेगा, अलंकार रूप कदापि नहीं।

बहुरि शक्र सम बिनवौं तेही।
संतत सुरानीक हित जेही॥

इसमें सुरानीक पद श्लिष्ट है (सुर-देवता, अनीक=सेना का समूह) और दूसरा अर्थ है—सुरा=मदिरा, नीक=अच्छी। चौपाई का अर्थ है इन्द्र के समान उन दुर्जनों की बन्दना करता हूँ जिन्हें सुरानीक हित है। सुरानीक शब्द की शक्ति तथा अन्यान्य शब्दों की अर्थ शक्ति से खल और इन्द्र की समता वर्णित है। अतः वाक्यगत शब्दार्थोभयमूलक शक्ति से ध्वनित वस्तु (साम्य) द्वारा उक्त चौपाई में उपमालंकार व्यंजित हो रहा है। यहाँ सुरानीक शब्द अपने पर्याय-वाची शब्द से व्यंग्य बोध कराने में असमर्थ है किन्तु शक्र आदि शब्दों के स्थान पर उसका पर्यायवाची रखने पर भी यह व्यंग्यबोध संभव है इसलिए उक्त चौपाई में शब्दार्थोभयमूलक संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि है।

लक्षणामूला अविवक्षित वाच्यध्वनि

व्यंग्यार्थ के साथ रूढ़ अर्थ के सम्बन्ध के आधार पर ध्वनि के दो मुख्य भेद हैं:—अर्थान्तरसंक्रमित वाच्यध्वनि तथा अत्यन्ततिरस्कृत-वाच्यध्वनि। प्रथम के मूल में उपादान लक्षणा तथा द्वितीय के मूल में लक्षण लक्षणा काम करती है। इसीलिए इन दोनों को लक्षणामूलक (अविवक्षित वाच्य) ध्वनि भी कहते हैं। ये दोनों ध्वनियाँ अपने मूल में लक्षणा शक्ति रखने के कारण ही व्यंग्यार्थ एवं रूढ़ अर्थ के सम्बन्ध—आधार पर आश्रित हैं। फिर प्रमुख ध्वन्यार्थ साधनों—वाक्य तथा पद के आधार पर इनमें से प्रत्येक के दो भेद होते हैं। इस प्रकार लक्षणामूला अविवक्षित वाच्यध्वनि के मुख्य चार भेद होते हैं:—१—पदगत अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि २—वाक्यगत अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि ३—पदगत अत्यन्ततिरस्कृत वाच्यध्वनि ४—वाक्यगत अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि।

अर्थान्तरसंक्रमित वाच्यध्वनि

जहाँ मुख्यार्थ का बाध होने पर वाचक शब्द का वाच्यार्थ लक्षणा द्वारा दूसरे अर्थ में संक्रमण करता है। वाच्यार्थ का दूसरे अर्थ में प्रवेश करने का कारण उसका उपयोग में न आना है। यह अनुपयोग दो प्रकार का होता है—एक शब्द की पुनरुक्ति से और दूसरा जब वाच्यार्थ प्रकरणार्थ में किसी विशेष अर्थ को न कहता हो अर्थात् वह वक्ता के वक्तव्य के तात्पर्य को व्यक्त करने में असमर्थ हो। यह ध्वनि पदगत तथा वाक्यगत होती है। इसमें प्रयोजनवती उपादान लक्षणा काम करती है।

पदगत अर्थान्तरसंक्रमित वाच्यध्वनि

हंस-वंस दशरथ जनक राम लखन से भाइ।
जननी तू जननी भई विधि सों कहाँ बसाइ॥

यहाँ राम के वनवास से दुखी भरत की अपनी माँ कैकेयी के प्रति उक्ति है। दूसरी बार कहा हुआ जननी शब्द अपने वाच्यार्थ को व्यक्त नहीं करता। यह लक्षणा द्वारा दूसरे अर्थ में संक्रमण कर जाता है। और कैकेयी की अत्यन्त कठोरता को सूचित करता है। यहाँ कैकेयी के राम-बनवास नामक कठोर कार्य को अत्यन्त अनुचित सूचित करना ही लक्षणा का प्रयोजन है। एक और उदाहरण लीजिए :—

आज यह पशु और इतना सरल सुन्दर स्नेह।
पल रहे मेरे दिए जो अन्न से इस गेह।
मैं? कहाँ मैं? ले लिया करते सभी निज भाग।
और देते फेंक मेरा प्राप्य तुच्छ विराग।

उपर्युक्त छन्द में मैं? कहाँ मैं? में अर्थान्तरसंक्रमित वाच्यध्वनि है। यहाँ द्वितीय मैं का वाच्यार्थ अर्थान्तर में संक्रमण करता है अर्थात् लक्ष्यार्थ में प्रवेश करता है फिर लक्षणा द्वारा व्यंग्यार्थ को सूचित करता है। मैं का लक्ष्यार्थ है जिसका श्रद्धा की सब वस्तुओं पर अधिकार है इससे व्यंग्यार्थ यह निकला कि मनु अपने को उपेक्षित अनुभव कर रहा है। इस द्वितीय अर्थ में वाच्यार्थ के संक्रमण करने का कारण उसका उपयोग में न आना है। मनु का अपने हृदय में श्रद्धा की ओर से उपेक्षा का अनुभव करना ही लक्षणा का प्रयोजन है।

वाक्यगत अर्थान्तरसंक्रमित वाच्यध्वनि

जहाँ मुख्यार्थ के बाधित होने के कारण, वाच्यार्थ की विवक्षा न होने पर, वाक्य अपने दूसरे अर्थ में संक्रमण कर जाय वहाँ वाक्यगत अर्थान्तरसंक्रमित वाच्यध्वनि होती है। जैसे,

सेना छिन्न, प्रयत्नभिन्न कर पा मुराद मनचाही।
कैसे पूजूँ गुमराही को मैं हूँ एक सिपाही।

यहाँ "मैं हूँ एक सिपाही" वाक्य के मुख्यार्थ से कवि के कहने का तात्पर्य बिल्कुल भिन्न है। इसका व्यंग्यार्थ है—मैं कष्टसहिष्णु, साहसी, राष्ट्र का रक्षक, आज्ञा पालक, देश प्रेमी तथा वीर हूँ। ऐसी परिस्थिति में मैं गुमराही की पूजा कैसे करूँ ? यहाँ वाक्य का मुख्यार्थ बाधित होकर अर्थान्तर (व्यंग्यार्थ) में संक्रमित हो गया है।

अत्यन्ततिरस्कृत वाच्यध्वनि

जहाँ बाधित वाच्यार्थ का अर्थान्तर में संक्रमण न होकर बिल्कुल तिरस्कार हो जाता है अर्थात् उसका एक भिन्न अर्थ हो जाता है वहाँ अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि होती है। इसमें वाच्य अर्थ को सर्वथा छोड़ दिया जाता है। इसीलिए इसको अत्यन्ततिरस्कृत वाच्यध्वनि कहते हैं। इस ध्वनि में प्रयोजनवती लक्षण लक्षणा रहती है। यह भी दो प्रकार की होती है—पदगत तथा वाक्यगत।

पदगत अत्यन्ततिरस्कृत वाच्यध्वनि

कहि न सकौं नव सुजनता, अति कीन्हें उपकार।
सखे ! करत यों रह सुखी, जीवहु बरस हजार॥

यह अपकार करनेवाले के प्रति उसके कार्यों से दुखित व्यक्ति की उक्ति है। वाच्यार्थ में अपकारी की प्रशंसा दिखाई पड़ती है किन्तु अपकारी व्यक्ति की कोई इस प्रकार प्रशंसा नहीं कर सकता इसलिए यहाँ वाच्यार्थ का बाध है। इस वाच्यार्थ का सर्वथा तिरस्कार कर के विपरीत लक्षणा से यहाँ उपकार का अपकार, सुजनता का दुर्जनता, सखे का शत्रु अर्थ है। इन अर्थों के द्वारा अत्यन्त अपकार रूप व्यंग्य सूचित है। इसलिए यहाँ पदगतअत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि है।

वाक्यगत अत्यन्त तिरस्कृत वाच्यध्वनि

नाक कान बिनु भगिनि निहारी। छमा कीन्ह तुम धर्म विचारी।
धर्म सीलता तव जग जागी। पावा दरस हमहुँ बड़भागी॥

उक्त चौपाइयों में सम्पूर्ण वाक्य का वाच्यार्थ तिरस्कृत हुआ है। रावण ने जब अंगद से यह कहा कि तुम्हारी कठोर बातें मैं सहन कर रहा हूँ इसलिए कि मैं नीति और धर्म जानता हूँ और इसी कारण दूत का बध करना अन्याय समझता हूँ। इस पर अंगद ने यह उत्तर दिया कि तुम्हारी धर्मशीलता सारे संसार को विदित है। धर्मशीलता ही के कारण तो तुमने अपनी बहन के नाक कान काटने वाले को क्षमा कर दिया। आप जैसे धर्मात्मा का दर्शन पाकर मैं भी आज अपने को बड़ा भाग्यवान समझता हूँ। इस वाच्यार्थ का इसमें बिल्कुल तिरस्कार है क्योंकि रावण जैसे अन्यायी शत्रु की इस प्रकार कभी प्रशंसा नहीं की जा सकती। इसलिए यहाँ 'क्षमा कीन तुम धर्म विचारी' पूरे वाक्य में मुख्यार्थ का बाध होकर लक्ष्यार्थ का बोध होता है कि तुम कायर हो। इसी प्रकार 'पावा दरस हमहुँ बड़ भागी' में मुख्यार्थ का बाध होकर लक्ष्यार्थ का बोध हुआ कि तुम्हारे जैसे अधर्मी, कायर और अन्यायी का मुँह देख कर मैं भी आज अभागा सिद्ध हुआ। इसमें रावण को सर्वथा तिरस्कृत सिद्ध करना व्यंग्य है। पूरे वाक्य के वाक्य का वाच्यार्थ तिरस्कृत होने से यहाँ वाक्यगत अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि है।

जहाँ एक ध्वनि दूसरी ध्वनि में मिलकर उससे तादात्म्य स्थापित कर ले वहाँ ध्वनि संकर और जहाँ कई ध्वनियाँ एकत्र होने पर भी भिन्न-भिन्न प्रतीत हों वहाँ ध्वनि संसृष्टि होती है। और कहीं-कहीं काव्य में संकर और संसृष्टि का भी सम्मिलन हो जाता है। इनमें से प्रत्येक का एक एक उदाहरण लीजिए—

ध्वनि-संकर

उन्नतपीन उरोज लसैं युग, दीरघ चञ्चल दीठ विलोकित।
गेह की देहरी पै स्थित ह्वै, पिय आगम के उत्साह प्रलोभित॥
कञ्चन कुम्भ कुसुम्भ सजे पट, कञ्चन बन्दनवार सुशोभित।
मंगल ये, उपचार किये बिन ही श्रम कञ्जमुखी समयोचित॥

यहाँ आगतपतिका नायिका का वर्णन है। उसने अपने पति का समयोचित माङ्गलिक कार्य उन्नत स्तन रूपी पूर्ण कलशों तथा दीर्घ एवं चञ्चल दृष्टि रूपी बन्दनवार लगाकर किया। 'कञ्चन-कुंभ कुसुम्भ सजे यह कञ्चन-बन्दनवार सुशोभित' में गम्योत्प्रेक्षा अलंकार की ध्वनि है और इसी वाक्य से शृंगार-रस भी ध्वनित हो रहा है। इसलिए यहाँ ध्वनि संकर है।

ध्वनि-संसृष्टि

ऐसे तैं क्यों कटुबचन कह्यो री ?
'राम जाहु कानन' कठोर तेरो कैसे धौं हृदय रह्यौ री ?
दिनकर बंस, पिता दशरथ से, राम लखन से भाई।
जननी तू जननी, तौ कहा कहौं, बिधि केहि खोरि न लाई।
हौ लहिहौं सुख राजमातु ह्वै, सुत सिर छत्र धरैगो।
कुल कलंक मलमूल मनोरथ तव बिनु कौन करैगो।
ऐहैं राम, सुखी सब ह्वैहैं, ईस अजस मेरो हरिहैं।
तुलसिदास, मोको बड़ो सोच है, तू जनम कौन विधि भरिहै॥

दिनकर बंस पिता दशरथ से रामलखन से भाई, नामक पंक्ति में काकाक्षिप्त ध्वनि है 'जननी तू जननी भई' में दूसरी जननी शब्द में पदगत अर्थान्तरसंक्रमित वाच्यध्वनि है। पूरे छन्द में भरत की आत्मग्लानि तथा अपनी माता के प्रति विगर्हणा द्वारा व्यंजित भ्रातृप्रेम

से भावध्वनि है। ये तीनों ध्वनियाँ उपर्युक्त छन्द में अपना स्वतंत्र स्थान रखती हैं। कोई ध्वनि किसी दूसरी ध्वनि के सहारे नहीं खड़ी है। अतः उपर्युक्त छन्द में संसृष्टि ध्वनि है।

संकर और संसृष्टि का मिश्रण

जैसे ध्वनियों के सम्मेलन से संकर और संसृष्टि होती है उसी प्रकार काव्य में संकर और संसृष्टि का भी सम्मिलन दिखाई पड़ता है। जैसे,

कोसलराज के काज हौं आज त्रिकूट उपारि लै वारिधि बोरौं।
महाभुजदण्ड द्वै अंडकटाह चपेट की चोट चटाक दै फोरौं।
आयसु भंग ते जो न डरौं सब मींजि सभासद सोनित खोरौं।
बालि को बालक जौ 'तुलसी' दसहू मुख के रन में रद तोरौं॥

उक्त सवैये में अंगद रावण की सभा में बात बहुत बढ़ जाने पर क्रोधित होकर कह रहे हैं। यहाँ अंगद की त्रिकूट पर्वत को उखाड़ कर समुद्र में बोरने की बात अत्युक्ति है वाच्यार्थ का उसमें बाध है। इसका लक्ष्यार्थ है कि अंगद अपने स्वामी के लिए अपनी शक्ति के बाहर की बात करने को तैयार हैं। व्यंग्यार्थ है अंगद का क्रुद्ध होकर साहस प्रदर्शन, असाध्य साधन के लिए तत्पर होना। दूसरी पंक्ति में भी इसी प्रकार के लक्ष्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ का बोध है। इन दोनों जगहों में अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनियाँ स्वतंत्र हैं। कोई किसी का अंग नहीं। अतः यहाँ तक संसृष्टि ध्वनि है। आगे चौथी पंक्ति में 'बालि के बालक' वाक्य के बालि शब्द में अर्थान्तरसंक्रमित वाच्यध्वनि है क्योंकि यहाँ इसका अर्थ बालि न होकर, बालि की महाबलशालिता, दशमुखमानमर्दनक्षमता आदि व्यंग्यार्थ है और इन सबसे वीर रस ध्वनित होता है। इसलिए पिछली दो पंक्तियों में संकरध्वनि है। इस प्रकार पूरे छन्द में संकर और संसृष्टि के मिश्रण का उदाहरण है। यहाँ तक काव्य के प्रथम भेद ध्वनिकाव्य का निरूपण किया गया; अब काव्य के दूसरे भेद गुणीभूत व्यंग्य का निरूपण किया जा रहा है।

गुणीभूत व्यंग्य काव्य

जहाँ व्यंग्यार्थ वाच्य अर्थ से उत्तम न हो अर्थात् वाच्यार्थ के समान हो या उससे निम्नकोटि का हो उसे गुणीभूत व्यंग्य काव्य कहते हैं। ध्वनि काव्य में व्यंग्य की प्रधानता और गुणीभूतव्यंग्य काव्य में ध्वनि की गौणता रहती है इसलिए ध्वनि काव्य को उत्तमोत्तम या उत्तम काव्य तथा गुणीभूत व्यंग्य काव्य को मध्यम काव्य कहते हैं। वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्य अर्थ के अल्प चमत्कारी होने में मुख्य आठ कारण हैं—अगूढ़ता, अपराङ्गता, वाच्यसिद्ध्यङ्गता, अस्फुटत्व, संदिग्धता, तुल्यप्रधानता, काकाक्षिप्तता तथा असुन्दरता। इन्हीं आठ कारणों के आधार पर गुणीभूत व्यंग्य के आठ भेद हैं—अगूढ़, अपराङ्ग, वाच्य-सिद्ध्यङ्ग, अस्फुट, संदिग्ध, तुल्यप्रधान, काकाक्षिप्त, और असुन्दर।

अगूढ़ व्यंग्य

पानी बाढ़ै नाव में घर में बाढ़ै दाम।
दोऊ हाथ उलीचिए यही सयानो काम॥

यहाँ दाम उलीचने में अत्यन्ततिरस्कृत वाच्यध्वनि है अर्थात् धन दान में व्यय कर डालो—इसका कोई ठिकाना नहीं। किन्तु यहाँ व्यंग्य वाच्य के समान ही स्पष्ट है। इसलिए अगूढ़ व्यंग्य है।

अपराङ्ग व्यंग्य

यहाँ व्यंग्य अर्थ दूसरे अर्थ का अङ्ग हो जाता है। रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता रूप असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य अथवा संलक्ष्यक्रम व्यंग्य वाच्यार्थ के अङ्ग हो जाते हैं। अर्थात् अपने संयोग से स्वतंत्रसिद्ध वाच्यार्थादि को उद्दीप्त करते हैं। असंलक्ष्यक्रम तथा संलक्ष्यक्रम ध्वनियों के भेदों के

अनुसार इसके अनेक भेद होते हैं। यहाँ उन उपभेदों के विस्तार में जाने का समय नहीं। अतः उसकी स्पष्टता के लिए दो एक उदाहरण देकर आगे बढ़ता हूँ।

चाह नहीं मैं सुरबाला के गहनों में गूँथा जाऊँ।
चाह नहीं प्रेमी माला में बिंध प्यारी को ललचाऊँ।
चाह नहीं सम्राटों के शव पर हे हरि डाला जाऊँ।
चाह नहीं देवों के सिर पर चढ़ूँ भाग्य पर इठलाऊँ।
मुझे तोड़ लेना बलमाली उस पथ में देना तुम फेंक।
मातृभूमि पै शीश चढ़ाने जिस पथ जावें वीर अनेक।

उपर्युक्त कविता में कवि की कामना-हीनता का वर्णन शान्त रस को ध्वनित करता है और अन्त में यह ध्वनि मातृभूमि सम्बन्धी प्रेम की पुष्टि करती है। इस प्रकार यहाँ शान्तरस रतिभाव का अपराङ्ग हो गया है। अतः यहाँ अपराङ्ग व्यंग्य है।

अर्थशक्ति मूलक संलक्ष्यक्रम की अपराङ्गता

विरह विकल नलिनी निकट आय अनत रहि रात।
पाद पतन सों प्रात अलि! अब रवि इहिं विकसात।

हे सखि, रात भर दूसरी जगह रह कर प्रातःकाल होते ही विरह-व्याकुला कमलिनी के पास आकर सूर्य अब उसके पैरों में गिर कर (किरणों द्वारा) इसे प्रफुल्लित कर रहे हैं अर्थात् मना रहे हैं। इससे व्यंग्य रूप में वस्तु ध्वनि निकलती है कि तू बड़ी सीधी है जो अपने अन्यासक्त नायक से अनुनय कराये बिना ही प्रसन्न हो जाती है। यहाँ सूर्य और कमलिन का वृत्तान्त वाच्यार्थ है। नायक नायिका सम्बन्धी वृत्तान्त अर्थ शक्ति मूलक वस्तु रूप व्यंग्यार्थ है। यह व्यंग्यार्थ यहाँ गौण स्थान रखता है क्योंकि इस दोहे में सूर्य और कमलिनी का वर्णन ही मुख्य रूप से किया गया है। नायक नायिका सम्बन्धी अर्थ व्यंग्यार्थ रूप में वाच्यार्थ

का उत्कर्ष बढ़ा रहा है। यहाँ शब्द बदल देने पर भी व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो सकती है अतः अर्थ शक्ति मूलक है। यहाँ व्यंग्यार्थ की प्रतीति के प्रथम ही वाच्यार्थ की सिद्धि हो जाती है इसलिए यह वाच्यसिद्धयंग नहीं; अपरांङ्ग गुणीभूत व्यंग्य ही है।

वाच्यार्थ में शब्दशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रम की अपराङ्गता

करुणे क्यों रोती है? उत्तर में और अधिक तू रोई।
मेरी विभूति जो है, उसको भवभूति कहे क्यों कोई।

इसमें 'उत्तररामचरित' 'एकोरसः करुणाएव' तथा 'भवभूति' सम्बन्धी अर्थ गौण है और यह अर्थ मुख्य अर्थ का अंग बनकर आया है। और उक्त छन्द में करुणे, उत्तर, भवभूति शब्द बदलने पर यह अर्थ सम्भव नहीं।

३ वाच्य सिद्ध्यङ्ग व्यंग्य

जहाँ व्यंग्यार्थ के बिना वाच्यार्थ की सिद्धि ही नहीं हो सकती वहाँ वाच्य सिद्धयङ्ग व्यंग्य होता है। अन्य अपराङ्गों में वाच्य की सिद्धि के लिए व्यंग्य की अपेक्षा नहीं रहती। व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की थोड़ी बहुत सहायता कर देता है पर अनिवार्य नहीं रहता।

खेलन सिखये अलि भले चतुर अहेरी मार।
काननचारी नैनमृग नागर नरन सिकार॥

आँसू से भीगे अंचल पर
मन का सब कुछ रखना होगा।
तुमको अपनी स्मिति रेखा से,
यह संधि पत्र लिखना होगा।

उक्त दोनों छन्दों में वाच्यार्थ की सिद्धि व्यंग्यार्थ के बिना नहीं होती।

४ अस्फुट व्यंग्य

जो स्पष्ट रूप से सहृदयों को न प्रतीत होता हो; बहुत सिर खपाने पर समझ में आता हो वह अस्फुट व्यंग्य है।

खिले नव पुष्प जग प्रथम सुगन्ध के
प्रथम बसंत में गुच्छ गुच्छ
(निराला)

यहाँ यौवन के प्रथम चरण में प्रेयसी की नयी नयी अभिलाषायें उदित हुईं—यह व्यंग्यार्थ यहाँ कठिनता से प्रतीत होता है। इसलिए अस्फुट व्यंग्य है।

५—संदिग्धप्राधान्य व्यंग्य

जहाँ यह निश्चय न हो सके कि वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में कौन अधिक सुन्दर है, किसकी प्रधानता है, वहाँ संदिग्ध-प्राधान्य व्यंग्य होता है।

थके नयन रघुपति छवि देखी। पलकन हूँ परिहरी निमेषी।
अधिक सनेह देह भइ भोरी। सरद ससिहिँ जनु चितव चकोरी।

राम की छवि देखते देखते सीता अत्यन्त स्नेह से वैसे विभोर हो गईं जैसे शरद के चन्द्रमा को देखकर चकोरी विभोर हो जाती है। यहाँ वाच्यार्थ (उत्प्रेक्षागत) का चमत्कार अधिक है या 'देह भइ भोरी' से व्यंजित जड़ता नामक संचारी भाव का। इसमें सन्देह रहने के कारण यह उदाहरण संदिग्ध प्राधान्य व्यंग्य का है।

६—तुल्यप्राधान्य व्यंग्य

जहाँ व्यंग्यार्थ और वाच्यार्थ दोनों की प्रधानता या दोनों का चमत्कार तुल्य प्रतीत होता हो वहाँ तुल्यप्राधान्य व्यंग्य होगा।

आज बचपन का कोमल गात। जरा का पीला पात।
चार दिन सुखद चाँदनी रात। और फिर अन्धकार अज्ञात।

वाच्यार्थ स्पष्ट है, इसका व्यंग्यार्थ है कि सबके दिन संसार में एक समान सदा व्यतीत नहीं होते। यहाँ वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ—दोनों में समान चमत्कार है, दोनों में तुल्य प्रधानता है।

७—काक्वाक्षिप्त व्यंग्य

जहाँ काकु (कंठ-रव) द्वारा अर्थात् स्वर विकार से व्यंग्य आक्षिप्त हो उसे काक्वाक्षिप्त व्यंग्य कहते हैं।

कल ही यदि परिवर्तन होगा,
तो फिर कौन बचेगा।
क्या जाने कोई साथी बन
नूतन यज्ञ रचेगा। (कामायनी।)

उपर्युक्त छन्द में नूतन शब्द पर बल पड़ने से व्यंग्य आक्षिप्त होता है। 'नूतन' शब्द का यहाँ व्यंग्यार्थ है हिंसापूर्ण जो स्वर के बल से प्रतीत होता है। एक और उदाहरण लीजिए—

उनके घर में कोलाहल है, मेरा सूना है गुफा द्वार।
तुमको ऐसी क्या कमी रही जिसके हित जाते अन्य द्वार॥

मनु के मृगया से लौटने के पश्चात् श्रद्धा नीड़ की चिड़ियों के जोड़ों की ओर संकेत करके कह रही है—

वाच्यार्थ :—देखो! पक्षी अपने बच्चों को चूम रहे हैं, उनके घर में कितना कलरव है, कितना आनन्द है किन्तु मेरा गुफा द्वार बिल्कुल सूना सूना है। तुमको किस वस्तु की कमी है जो दूसरे के द्वार जाया करते हो।

व्यंग्यार्थ :—तुम्हें किसी चीज की कमी नहीं। इसलिए तुम कभी दूसरों के द्वार मत जाया करो। यह व्यंग्यार्थ तुमको शब्द पर बल

पड़ने से उत्पन्न होता है। अतः उक्त पंक्तियों में काकाक्षिप्त गुणीभूत व्यंग्य है।

८—असुन्दर व्यंग्य

जहाँ वाच्यार्थ से प्रतीत होनेवाला व्यंग्यार्थ, वाच्यार्थ से भी कम सुन्दर प्रतीत होता हो। जैसे,

> बैठी गुरुजन बीच में, सुनि मुरली की तान।
> मुरझति अति अकुलाय उर परे साँकरे प्रान॥

मुरली की तान सुनकर गुरुजनों के बीच बैठी हुई बाला मसोस कर मुरझा जाती है। उसके प्राण संकट में पड़ जाते हैं। व्यंग्यार्थ है मुरली की तान का संकेत पा कर भी गोपिका का कृष्ण से मिलने के लिए जाने में असमर्थ होना। इसमें व्यंग्यार्थ की अपेक्षा वाच्यार्थ अधिक सुन्दर है इसलिए इसमें असुन्दर व्यंग्य है।

ध्वनि-साधनों के आधार पर गुणीभूत व्यंग्य के भी अनेक भेद किये गये हैं। पं० शिवदत्त ने साहित्यदर्पण की टीका में गणना परिपाटी से ध्वनियों के भेदोंपभेदों का उल्लेख किया है। ध्वनि सम्प्रदाय ने काव्य में शब्द, वाक्य, अर्थ तथा उनके निर्माणकारी तत्त्वों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेदों का कितना विस्तृत एवं सूक्ष्म विवेचन किया है—इसके अनुमान के लिए ध्वनियों की संख्या भर बता देना उपयोगी जान पड़ता है। गुणीभूत व्यंग्य के ८ मूल भेद, ४२ शुद्ध भेद; इनको परस्पर गुणा करने से ३३६ उपभेद हुए और इन उपभेदों को परस्पर मिश्रित कर देने से ११२८९६ भेदोपभेद होते हैं। काव्य प्रकाश में ध्वनि के ५१ मूलभेद; इन भेदों के परस्पर मिश्रण से २६०१ उपभेद होते हैं। इनके संकर के भेद, संसृष्टि तथा दोनों के मिश्रण नामक भेद से गुणा करने से १०४०४ भेद बताये गये हैं; फिर इनमें मूल भेद ५१ को जोड़ने से कुल १०४५५ भेद हो जाते हैं। साहित्यदर्पणकार

ने संसृष्टि के १३२६ भेद तथा संकरध्वनि के ३६७८ भेद माने हैं। इनमें ध्वनि के ५१ मूल भेद मिला देने से ध्वनि के कुल ५३५५ भेद माने गये हैं। वस्तुत: ध्वनियों की कोई निश्चित सीमित संख्या नहीं बताई जा सकती। काव्यात्मक अभिव्यक्ति की लोकोत्तर विशिष्टता के अनुसार इसके अनन्त भेद हो सकते हैं। अलंकार तथा रीति प्रसंग में यह बताया जा चुका है कि अलंकारों तथा रीतियों की कोई निश्चित सीमित संख्या नहीं बताई जा सकती। ध्वनि तो अलंकार तथा रीति का ही माध्यम लेकर उत्पन्न होती है। अतः इसके भेदों में अनन्तता का होना स्वाभाविक ही है।

चित्रकाव्य ध्वनि रहित काव्य को कहते हैं। बाह्यदृष्टि से काव्य के समान प्रतीत होता है। काव्य के बाह्य तत्त्व-शब्द, अर्थ, गुण, अलंकार इसमें रहते हैं। इसमें काव्य की आत्मा ध्वनि या रस के दर्शन नहीं होते, इसमें केवल प्रत्यक्ष (direct) अर्थ रहता है जो सदा रूढ़ अर्थ रहता है। चित्र काव्य में चमत्कार शब्द तथा अर्थ के अलंकारों से आता है। चित्र-काव्य लिखने वाला कवि रसादि तात्पर्य को बिना समझे ही कविता करने में प्रवृत्त होता है इसीलिए उसकी वाणी अव्यवस्थित होती है। काव्य में परिपक्व कवियों की कविता का लक्ष्य सदा रसमय काव्य की रचना करना होता है किन्तु चित्रकाव्य लिखने वाला कवि सदा रस से सम्बन्ध न रखने वाली कविता के रचने में अपनी शक्ति का दुरुपयोग करता है[१]। इसीलिए यह अधम कोटि का काव्य माना जाता है।

---

१ एतत् च चित्रं कवीनां विश्रृंखलगिरां रसादितात्पर्यमनपेक्ष्यैव काव्यप्रवृत्तिदर्शनादस्माभिः परिकल्पितम्। इदानींतनानां तुन्याय्ये काव्यनयव्यवस्थापने क्रियमाणे नास्त्येव ध्वनिव्यतिरिक्तः काव्यप्रकारः। यतः परिपाकवतां कवीनां रसादितात्पर्यविरहे व्यापार एव न शोभते।

(ध्वन्यालोक)
पृ० २२

ध्वनि की स्थापना

काव्य में ध्वनि मानने की आवश्यकता, उसकी स्वतंत्र सत्ता, उसकी प्रकृति, स्वरूप, महत्ता आदि के ज्ञान के लिए तथा ध्वनि मतानुयायियों के ध्वनिवाद सम्बन्धी विचारों की सम्यक् जानकारी के लिए ध्वनि के खण्डनात्मक तथा मण्डनात्मक मतों का ज्ञान आवश्यक है। आनन्दवर्धन के पूर्व तथा पश्चात्—सभी प्रकार के ध्वनि विरोधी मतों को हम छः भागों में बाँट सकते हैं १—अभिधावादी २—लक्षणावादी ३—अलंकारवादी ४—तात्पर्यवादी ५—अनुमितिवादी ६—अनिवर्चनीयतावादी। ध्वनि-विरोधी अभिधावादियों के भीतर वेदान्ती आचार्य, अन्विताभिधानवादी मीमांसक, रसवादी भट्ट लोलट्ट, दण्डी, मुकुलभट्ट, भट्टनायक, कुन्तक आदि का नाम उल्लेखनीय है। इन ध्वनिविरोधी आचार्यों के ध्वनिविषयक खण्डनात्मक तथा मण्डनात्मक मतों का संक्षिप्त ज्ञान ध्वनि-स्थापना के लिए आवश्यक है। वेदान्ती आचार्यों के मत में "अखण्ड बुद्धिनिर्ग्राह्यो वाक्यार्थ एव वाच्यः वाक्यमेव च वाचकम्" अर्थात् क्रिया-कारक भाव से हीन बुद्धि द्वारा भली भाँति ग्रहण करने योग्य वाक्यार्थ ही वाच्य होता है। और वाक्य ही को वाचक मानना उचित है। इनकी दृष्टि में पद और पदार्थ, वाणी और अर्थ अविभाज्य हैं। वे सदा एक दूसरे से इस प्रकार संपृक्त रहते हैं जैसे ब्रह्म से आत्मा। वेदान्तियों की दृष्टि में व्यंग्य अर्थ भी वाक्यों द्वारा बोध का विषय है इसलिए वह भी वाक्य ही की एक शक्ति विशेष मात्र है और कुछ नहीं। जैसे—'सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म' नामक वाक्य से पद-पदार्थ के विभागों को बिना माने ही अखण्ड ब्रह्म का बोध हो जाता है। अन्विताभिधानवादी वाच्य-वाचक भाव से भिन्न व्यंग्य-व्यंजक भाव नहीं मानते। इनकी दृष्टि में भिन्न भिन्न पदार्थों से अन्वित ही पदों का अर्थ संकेत द्वारा गृहीत होता है। पदों के वाच्यार्थों से ही वाक्यार्थों का बोध होता है[१]। इस प्रकार अन्वय विशिष्ट पदों ही के अर्थ

१—वाच्य एव वाक्यार्थ इत्यन्विताभिधान वादिनः (काव्यप्रकाश)

को वाक्यार्थ मानते हैं। ये लोग अभिधा-व्यापार की तुलना तीर व्यापार से करते हैं [१]। जिस प्रकार कुशल धनुर्धारी के द्वारा चलाया हुआ बाण, लक्ष्य गत व्यक्ति को ही स्पर्श नहीं करता उसे मार भी डालता है, उसी प्रकार कुशल कलाकार के द्वारा प्रयुक्त शब्द अभिधा-व्यापार से पहले रूढ़ अर्थ को व्यक्त करते हैं, फिर कवि के अभीष्ट तात्पर्य को, तदनन्तर रस को। शब्द के अर्थ-ज्ञान कराने का व्यापार क्रमशः बाण-व्यापार की तरह बढ़ता और प्रबलतर होता जाता है। जिस प्रकार दूरातिदूर पदार्थों को मारने की शक्ति बाण में धनुर्धारी के बाण-प्रयोग की कला तथा शक्ति पर निर्भर करती है उसी प्रकार शब्दों में दूराधिरूढ़ अर्थों को व्यक्त करने की शक्ति कवि के कलात्मक प्रयोग से आती है किसी अन्य शक्ति से नहीं। जैसे, बाण द्वारा मारे हुए सुदूर पदार्थों के मरने की क्रिया की व्याख्या में बाण या धनुर्धारी के अतिरिक्त किसी दूसरी शक्ति का आरोप करना व्यर्थ है तद्वत् विभिन्न प्रसंगों में शब्द के विभिन्न अर्थों के निकलने पर उन अर्थों के मूल स्रोत की व्याख्या के समय शब्द की एक शक्ति अभिधा के अतिरिक्त किसी अन्य शक्ति का वहाँ आरोप करना अनावश्यक है। अतएव जहाँ तक शब्द द्वारा अर्थबोध हो सकता है वहाँ तक अभिधा-व्यापार ही स्वीकार करना चाहिए। इस प्रकार अन्वित विशेष को भी वाच्यार्थ ही के अन्तर्गत मानना चाहिए; व्यञ्जना व्यापार को एक अलग शब्द-व्यापार के रूप में मानने की कोई आवश्यकता नहीं। इनके विचार से अभिधा का विस्तार इतना अधिक हो सकता है कि उसकी सीमा के भीतर कोई भी अर्थ गृहीत हो सकता है, चाहे वह कितना ही दूराधिरूढ़ क्यों न हो। किसी भी प्रस्ताव या उक्ति के उच्चारण के पश्चात् जितने भी उसके अर्थ समझे जा सकते हैं, वे सब अभिधा के अन्तर्गत आ जाते हैं; चाहे वे क्रमानुसार पहले आवें या बाद को। अन्विताभिधानवादी अपने सूत्र "यत्परः शब्दः स शब्दार्थः" के बल पर कहते हैं कि वक्ता के; अपने श्रोता के लिए सभी प्रकार के

१—सोऽयमिषोरिवदीर्घदीर्घतरो व्यापारः।

संप्रेषणीय संकलिपत अर्थ अभिधा के अन्तर्गत आ जाते हैं। अतः अभिधा के द्वारा लक्ष्यार्थ, व्यंग्यार्थ या तात्पर्यार्थ-सबकी प्रतीति हो सकती है। इस प्रकार रसानुभूति भी अभिधा व्यापार द्वारा संभव हो जाती है। इनका कहना है कि काव्यगत वाक्य का तात्पर्य या व्यंग्यार्थ पदों के संश्लिष्ट वाच्यार्थ के अतिरिक्त और क्या हो सकता है; और पदों का यह संश्लिष्ट वाच्यार्थ अभिधा द्वारा जाना जा सकता है। अतः व्यंजना या तात्पर्य को पृथक वृत्ति मानने की आवश्यकता नहीं। भट्टलोल्लट भी शब्दों के दीर्घदीर्घाभिधा व्यापार में विश्वास करते हैं। इनके मत से शब्दों में एक ही प्रकार की अर्थ शक्ति रहती है और वह अभिधाशक्ति है, जिसके अन्तर्गत लक्षणा और व्यंजना शक्तियों में आरोपित अर्थ समाहित हो जाते हैं। किसी वाक्य में शब्द द्वारा जहाँ तक अर्थ बोध हो सकता है वहाँ तक अभिधा व्यापार का ही क्षेत्र विस्तृत है। इनके विचार से 'गंगायां घोषः' नामक वाक्य अभिधा व्यापार द्वारा ही गंगा तट पर स्थित घोष के वातावरण की पवित्रता तथा शीतलता का बोध करा देता है। भट्टलोल्लट ने अपनी उपर्युक्त अभिधावादी धारणा का प्रयोग अपने रसवाद सम्बन्धी सिद्धान्त में किया है और बतलाया है कि नाटक का अभिनय देखते समय उसके कथानक, विभाव, अनुभाव, संचारी आदि का ज्ञान एक दर्शक, शब्द के अभिधा व्यापार द्वारा ही करता है। वह पात्रों या अभिनेताओं में रसोत्पत्ति का अनुभव भी शब्दों के अभिधाव्यापार द्वारा ही करने में समर्थ होता है।

आनन्दवर्धन की ध्वनि-स्थापना के पश्चात् ही व्यंग्यार्थ के विरोधी आचार्य मुकुलभट्ट का नाम आता है। इन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक अभिधावृत्ति मातृका में मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ दो ही प्रकार के अर्थों की सत्ता स्वीकार की है। और अन्त में लक्षणा का समाहार अभिधा के अन्तर्गत कर दिया है अर्थात् अभिधा की स्थिति से लक्षणा की स्थिति पृथक् नहीं मानी है। अभिधावादी ध्वनि-विरोधियों

१ *Abhidha, according to Bhuktivadins, embraces both Abhtdha and Lackchana* (*Quoted by* P. Panchpagesh Shashtri *in his Philosophy of Aesthetic Pleasure*)

में, मुकुलभट्ट के पश्चात् भट्टनायक का नाम उल्लेखनीय है। इनकी दृष्टि में काव्य या नाटक में अभिधा[1] द्वारा विशिष्ट प्रकार के विभावों अनुभावों, संचारीभावों आदि का ज्ञान उनके विशिष्ट रूप में होता है, तदुपरान्त भावकत्व व्यापार द्वारा वे सामान्य रूप या साधारणीकृत रूप में पाठक के पास पहुँचते हैं तदनन्तर भोजकत्व व्यापार द्वारा उनके अन्तर्गत निहित मूल स्थायी भाव (Basic mental condition) का भोग या आस्वादन होता है। भट्टनायक की अभिधाशक्ति काव्य-पदार्थों का ज्ञान उनके विशिष्ट रूप में कराकर अपना काम समाप्त कर देती है। इसके पश्चात् साधारणीकरण तथा रसभोग के व्यापार में भावकत्व एवं भोजकत्व शक्तियाँ काम करती हैं। शकुन्तला नाटक पढ़ते या देखते समय भट्टनायक की अभिधा से कालिदास की विशिष्ट शकुन्तला का ज्ञान होता है। भावकत्व व्यापार द्वारा वह विशिष्ट शकुन्तला एक सामान्य रूपवती रमणी के रूप में पाठकों के हृदय में उपस्थित होती है। भोजकत्व व्यापार द्वारा इस सामान्य शकुन्तला की मूल मानसिक दशा—प्रेम का भोग या आस्वादन होता है। इस प्रकार इनकी दृष्टि में रस की व्यंजना नहीं होती, भोग होता है[2]। भट्टनायक, व्यंजना-व्यापार के स्थान पर दो नया व्यापार—भावकत्व और भोजकत्व मान लेते हैं। काव्य में ध्वनि का कार्य इन्हीं दो व्यापारों द्वारा कराते हुए दिखाई पड़ते हैं। इनका ग्रन्थ—हृदय दर्पण ध्वनिध्वंस ग्रन्थ कहा जाता है क्योंकि वह ध्वनिवाद के विरोध में लिखा गया था।

भट्टनायक के पश्चात् अभिधावादी ध्वनि-विरोधी आचार्यों में सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान कुन्तक का है। कुन्तक अपनी बक्रोक्ति को 'विशिष्टा अभिधा' कहते हैं। यदि उनके बक्रोक्तिवादी काव्य में विशिष्ट अभिधा नामक

---

१ तस्मादभिधया निवेदिताः पदार्थाः भावकत्वव्यापारेणागम्यात्वादिरसविरोधिज्ञान प्रतिबन्धद्वारा क्रान्तात्वादिरसानुकूलधर्मपुरस्कारेणोपस्थाप्यन्ते।
(रसगंगाधर में पं० राजजगन्नाथ द्वारा भट्टनायक की व्याख्या से)

२ नाभिव्यज्यतेरसः। भटनायक

व्यापार की प्रधानता है तो भट्टनायक के मत से काव्य में रसविषयक चर्वणा-व्यापार की। कुन्तक की अभिधा सामान्य अभिधा से विलक्षण एक विशिष्ट प्रकार की शक्ति है जिसके भीतर द्योतना तथा व्यंजना का भी अन्तर्भाव हो जाता है। कुन्तक के वाचक शब्द का अभिप्राय सामान्य वाचक से भिन्न कोटि का है। ज्ञेय रूप धर्म से युक्त होने के कारण इनका वाच्य, द्योत्य तथा व्यंग्य अर्थों का भी प्रतिपादक है।[१]

अभिवादी ध्वनि विरोधियों की दृष्टि में आकांक्षा, आसत्ति आदि अभिधा की विशेषतायें हैं; इनको धारण किए बिना व्यंजना खड़ी नहीं हो सकती, अतः उसकी स्वतंत्र सत्ता मानने की क्या आवश्यकता? इनकी दृष्टि में लक्षणामूला ध्वनि वाच्यार्थ के विचित्र रूप के अतिरिक्त कुछ नहीं; और अभिधामूला ध्वनि वाच्यार्थ का समन्वित सार मात्र है। किसी किसी का कहना है कि वाच्यार्थ के सहारे ध्वनि-काव्य में जो एक दूसरा अर्थ प्रतीत होता है उसको भी वाच्यार्थ ही कहना चाहिए। ध्वनिवादी जिसको गुणीभूत व्यंग्य कहते हैं वह अभिधावादियों की दृष्टि में वाच्यार्थ की प्रसंगगर्भिता ही तो है अर्थात् एक प्रकरण में अन्य प्रसंग का लाना। वाच्यार्थ के चमत्कार एवं गाम्भीर्य बढ़ाने के अन्यान्य साधनों में यह एक साधन है। कतिपय अभिधावादियों की दृष्टि में व्याहत वाच्यार्थ ही व्यंजना के उदय का कारण है और वाच्यार्थ के विभिन्न प्रकार के सम्बन्ध ही विभिन्न प्रकार की लक्षणाओं का रूप धारण करते हैं; ऐसी अवस्था में लक्षणा और व्यंजना को एक स्वतंत्र शब्दशक्ति मानने की क्या आवश्यकता है। किन्हीं-किन्हीं अभिधा-वादियों का कहना है कि रस या भाव ध्वनि में आलम्बन, आश्रय, उद्दीपन, अनुभाव, संचारी आदि के संयोग से रस उद्दीप्त होता है अथवा इनमें से

---

१ अर्थप्रतीति-कारित्व-सामान्यादुपचारात् (द्योतकव्यञ्जकावपि) तावपि वाचका-वेव। एवं द्योत्यव्यंग्योरर्थयोः प्रत्येयत्वसामान्यादुपचारात् वाच्यत्वमेव।

बक्रोक्तिजीवित।

किसी एक के प्रकर्षपूर्ण वर्णन से। कहने की आवश्यकता नहीं कि विभावादि का ज्ञान वाच्यार्थ द्वारा ही होता है तो फिर ध्वनि मानने की क्या आवश्यकता ? कुछ ध्वनि विरोधियों का कहना है कि रस या भाव ध्वनि वाले छन्दों में कुछ शब्द ऐसे सार्थक होते हैं कि जिनका अभिप्राय या वाच्यार्थ उस रस या भाव का संकेत कर देता है या उसको व्यक्त कर देता है। वस्तु तथा अलंकार ध्वनियों में तो वस्तु तथा अलंकार का स्वरूप वाच्यार्थ द्वारा ही खड़ा होता है। ऐसी परिस्थिति में उन उन स्थानों में अभिधाव्यापार के अतिरिक्त एक अलग व्यञ्जना-व्यापार मानने की क्या आवश्यकता ?

वेदान्ती लोग अपने अद्वैत दर्शन के पूर्वग्रह से ग्रहीत होने के कारण अर्थ-निश्चयकारी तत्वों (determinant factor of meaning) पर विचार नहीं कर सके। वेदान्तियों तथा ध्वनिवादियों में प्रस्थान-भेद के कारण भी दर्शन भेद हुआ। वेदान्ती एक शब्द का एक ही अर्थ मान कर चलते हैं तभी तो वे पद-पदार्थ की अभिन्नता सिद्ध करते हैं। ध्वनिवादी; प्रकरण, वक्ता, श्रोता, प्रस्ताव आदि के अनुसार एक शब्द के अनेक अर्थ लेकर चलते हैं। वेदान्तियों की दृष्टि में वाक्य ही वाचक होता है तथा वाक्यार्थ ही वाच्य। ध्वनिवादियों की दृष्टि में शब्द, अर्थ (वाक्यार्थ) वाचक होते हैं तथा उनसे निकलनेवाला एक विशिष्ट अर्थ वाच्य। काव्यप्रकाशकार की दृष्टि में संसार की व्यवहार दशा में अविद्या का अवलम्बन माननेवाले वेदान्तियों को भी पद-पदार्थ की कल्पना करनी ही पड़ती है।[1] इस प्रकार वे ध्वनि तत्त्व के खण्डन में असमर्थ हो जाते हैं। मीमांसक अभिव्यक्ति में शब्द की ही सारी महत्ता मानने के कारण अभिधा के अन्तर्गत सब अर्थों को समेटने का प्रयत्न करते हैं। इसके विपरीत व्यंजनावादी साहित्यिक अभिव्यक्ति को एक पूर्ण संश्लिष्ट

१—'अखण्डबुद्धिनिर्ग्राह्यो वाक्यार्थ एव वाच्यः वाक्यमेव च वाचकम्' इति येऽप्याहुः तैरप्यविद्यापदपतितैः पदपदार्थ कल्पना कर्तव्यैवेति

(हरिमंगलमिश्र अनुवाद)

अभिव्यक्ति के रूप में देखते हैं। उसमें शब्द अर्थ दोनों को महत्त्व देते हैं। अर्थ-निरूपण में अर्थ-निश्चयकारी तत्त्वों का विचार करते हैं। प्रस्थान भेद के कारण इन दोनों की दृष्टियों में भेद हो जाता है। जो मीमांसक व्यंग्यार्थ के लिए केवल शब्द का निमित्तत्त्व स्वीकार करते हैं पर व्यंजना-व्यापार को स्वीकार नहीं करते उन्हें अभिधेयार्थ के लिए फिर अभिधा-व्यापार मानने की क्या आवश्यकता है ? जो ध्वनि विरोधी आचार्य अभिधा-व्यापार की समता तीर-व्यापार से करते हैं और जहाँ तक शब्द द्वारा अर्थ बोध हो सकता है वहाँ तक अभिधा व्यापार को ही घसीटते हैं; वे भी भूल करते हैं। क्योंकि अभिधा-व्यापार शब्द के संकेतित अर्थ तक ही कार्य कर सकता है, इसके आगे वह साधन बन कर लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ की उपलब्धि में सहायता करता है पर व्यापार वहाँ लक्षणा या व्यंजना का ही होता है। जैसे वाच्य और लक्ष्य अर्थ के लिए बहुत से अभिधावादी अभिधा एवं लक्षणा नामक व्यापार को स्वीकार करते हैं तद्वत् व्यंग्यार्थ के लिए भी उन्हें किसी एक अलग व्यापार को स्वीकार करना ही पड़ेगा। यदि किसी अभिव्यक्ति में शब्द सुन लेने के पश्चात् जितना अर्थ प्रतीत होता है सब अभिधा व्यापार के ही अन्तर्गत ले लिया जाय तब तो 'हे ब्राह्मण ! तुम्हें पुत्र उत्पन्न हुआ है': अथवा 'हे ब्राह्मण ! तुम्हारी कुमारी कन्या गर्भवती हो गई, इत्यादि वाक्यार्थों के अभिधेयार्थ हर्ष और विषाद माने जाने चाहिए; पर ऐसा माना नहीं जाता। हर्ष और विषाद क्रमशः उन वाक्यों के व्यंग्यार्थ माने जाते हैं। अतः किसी शब्द के सब प्रकार के अर्थ अभिधेयार्थ के भीतर नहीं घसीटे जा सकते। यदि वाच्य वाचक भाव से भिन्न व्यंग्य व्यञ्जक भाव माना नहीं जायगा तो असाधुत्व आदि दोषों की नित्यता तथा कष्टत्व आदि दोषों की अनित्यता के भेद कैसे सिद्ध होंगे और ये भेद भी असिद्ध नहीं हैं क्योंकि ये सभी अलग अलग स्पष्ट रूप में प्रकट रहते हैं।

अतः उपर्युक्त तर्कों से यह सिद्ध हुआ कि वाचकता और व्यञ्जकता-ये दोनों स्वतंत्र व्यापार हैं और इनसे निकलनेवाले अर्थ-वाच्य तथा व्यंग्य भी अलग अलग हैं।

वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ एक साथ नहीं घटते कि उनकी अभिन्नता मान ली जाय। गंगायामृघोषः में पाठक पहले वाच्यार्थ लगाता है उसके अनुपपन्न होने पर लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ की ओर जाता है। असंलक्ष्य-क्रमध्वनि में अभिधा द्वारा अनुभाव, विभाव आदि का ज्ञान होता है तदुपरान्त व्यंजना व्यापार द्वारा रसभावादि की अनुभूति होती है। शब्दशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रमध्वनि में अनेकार्थक शब्दों के अभिधेय अर्थ में नियंत्रण हो जाने पर व्यंग्यार्थ का बोध होता है। अर्थात् वाच्यार्थ बोध हो जाने पर किसी पद या वाक्य द्वारा व्यंग्यार्थ रूप में वस्तु या अलंकार ध्वनि निकलती है। अर्थशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रमध्वनि में अभिधा द्वारा वाच्यार्थ के बोध हो जाने पर वस्तु या अलंकार ध्वनि, व्यंजना व्यापार द्वारा निकलती है। अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि में पहले वाच्यार्थ का ज्ञान होता है फिर उसकी असमर्थता या अयोग्यता का बोध। तदुपरान्त लक्षणा के सहारे वह दूसरे अर्थ में संक्रमित हो जाता है। यही दूसरा अर्थ व्यंग्यार्थ होता है। इस तरह यहाँ वाच्यार्थ का कुछ उपयोग नहीं होता। इसी तरह अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि में भी वाच्यार्थ का सर्वथा तिरस्कार कर दिया जाता है। उपर्युक्त तर्कों से यह सिद्ध हो गया कि न तो वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ एक हो सकता है और न उसको उत्पन्न करने वाला अभिधा तथा व्यंजना व्यापार अभिन्न।

व्यंजना व्यापार को अभिधा से अलग तथा स्वतंत्र व्यापार सिद्ध करने के लिए उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त निम्नाङ्कित अनेक कारण हैं—वाच्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ के स्वरूप, प्रकृति, रीति, व्याप्ति, कार्य, विषय, निमित्त, काल, आश्रय आदि में स्पष्ट भेद दिखाई पड़ता है।

स्वरूप की भिन्नता :—वाच्यार्थ जब विधि रूप रहता है तब व्यंग्यार्थ निषेध रूप; इसी प्रकार जब वाच्यार्थ निषेध रूप रहता है तब व्यंग्यर्थ विधि रूप रहता है।

अहो ! भगत निधरक विचर, इत न स्वान वह आहि।
या वन के वा सिंह ने हत्यो आज है ताहि।

उपर्युक्त दोहे में भक्त को निश्शंक आने को कहा गया है इस प्रकार वाच्यार्थ विधिरूप है। पर व्यंग्यार्थ में आने का निषेध सूचित है।

कुच के तट चन्दन छुट्यो सबै
अधरानहू पै न रही अरुनाई।
दृग-प्रान्त निरञ्जन तेरे भये,
तनु अङ्गन में पुलकावलि छाई।
नहिं जानत पीर हितून की तू अरि,
बोलिबो झूठ कहाँ पढ़ि आई।
इत सों गई न्हाइबे वापी हीं तू
न गई तिहिं पापी के पास तहाँई।

उपर्युक्त सवैये में वाच्यार्थ निषेध रूप है। दूती का यह कहना कि मैं तुम्हारे पति के पास नहीं गई थी। पर व्यंग्यार्थ विधि रूप है। अन्य सम्भोग दुखिता नायिका की उक्ति में प्रत्येक तर्क द्वारा यही व्यंग्य है कि तू उस पापी (उसके पति) के पास निश्चय गई थी और तू अवश्य ही उससे रमण करके आई है।

प्रकृति में भिन्नता :—शब्द जिस व्यापार से वाच्यार्थ का बोध कराता है, उस व्यापार से व्यंग्यार्थ का बोध नहीं कराता। वाच्यार्थ शब्द के साथ प्रत्यक्ष रूप में सम्बद्ध रहता है और व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ द्वारा आक्षिप्त होता है।

हंस बंस दशरथ जनक राम लखन से भाइ।
जननी तू जननी भई विधि सों कहा बसाइ।

उपर्युक्त दोहे में जननी का वाच्यार्थ स्पष्ट माता है जो शब्द के साथ सदा साक्षात् रूप में सम्बद्ध रहता है पर दूसरे जननी शब्द का अर्थ

कठोरता को सूचित करता है जो वाच्यार्थ द्वारा आक्षिप्त हुआ है। इस प्रकार व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ द्वारा आक्षिप्त होता है।

रीति में भिन्नता :—वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ-बोध की रीति में भिन्नता होती है। वाच्यार्थ बोध के समय पहले वाक्य-गत प्रत्येक पद के पदार्थ की उपस्थिति होती है। तदुपरान्त आकांक्षादि के वश से पदार्थों का अन्वय होने पर वाच्यार्थ का बोध होता है किन्तु व्यंग्यार्थ की प्रतीति समुदित वाक्यार्थ से निष्पन्न होती है। इसका उदाहरण ध्वनि-प्रकरण में पहले कई बार दिया जा चुका है।

व्याप्ति में भिन्नता—किसी वाक्य का वाच्यार्थ उस भाषा के सभी समझने तथा सुनने वालों को एक ही सा बोध होता है इसलिए वह नियत तथा सीमाबद्ध है। जैसे 'सूर्यास्त हुआ' वाक्य का वाच्यार्थ (शाम हुई) सदा एक रूप रहेगा परन्तु इसी का व्यंग्यार्थ प्रकरण, वक्ता, श्रोता, प्रस्ताव, काकु आदि के भेद से अनेक प्रकार का होगा। जैसे दूती-वाक्य होने पर व्यंग्यार्थ होगा—नायक के पास अभिसार करने का समय हो गया; कर्मचारी का वाक्य होने से व्यंग्यार्थ होगा "छुट्टी का समय हो गया" व्यापारी के मुख से निकलने पर अर्थ होगा—"दूकान बन्द करो"; यदि इसे प्रोषितपतिका अपनी सखी से कहे तो व्यंग्यार्थ होगा—अब तक मेरा प्रियतम नहीं आया; गुरु शिष्य के प्रति कहे तो व्यंग्यार्थ होगा कि अब संध्योपासन करना चाहिए; पथिक अपने साथियों से कहे तो व्यंग्यार्थ होगा कि अब कहीं विश्राम करना चाहिए आदि।

कार्य की भिन्नता—वाच्यार्थ से केवल पदार्थ ज्ञान होता है किन्तु व्यंग्यार्थ से चमत्कार उत्पन्न होता है। वाच्यार्थ तथ्य-कथन इति वृत्तात्मक ढंग से करता है व्यंग्यार्थ सूचनात्मक ढंग से। वाच्यार्थ यदि रस का वातावरण तैयार करता है तो व्यंग्यार्थ रस की अभिव्यक्ति करता है। अभिधा पहले से सिद्ध वस्तु का बोध कराती है किन्तु

व्यंजना पूर्व सिद्ध वस्तु का बोध नहीं कराती। रस, जिसको व्यंजना सूचित करती है आस्वाद की वस्तु है जो सहृदय पाठक या श्रोता के हृदय में प्रकट होता है व्यक्त होने के पूर्व इसका कोई अस्तित्व नहीं रहता।

विषय की भिन्नता—एक ही वाक्य या एक ही छन्द में वाच्यार्थ के विषय से व्यंग्यार्थ का विषय भिन्न रहता है जैसे, 'सूर्यास्त हो गया' वाक्य में वाच्यार्थ का विषय संध्या हो गई है परन्तु व्यंग्यार्थ का विषय वक्ता, श्रोता, प्रकरण आदि के अनुसार भिन्न भिन्न है। एक दूसरा उदाहरण देखिए—

प्रिया-अधर-छत युग निरखि किहि के होइ न रोष।
बरजत हूँ समधुप कमल सूँघत भई स दोष॥

उपर्युक्त दोहे में वाच्यार्थ का विषय वह नायिका है जिसके अधर पर व्रण दिखाई पड़ता था और जिसे यह वाक्य कहा गया है। इसमें प्रथम व्यंग्य का विषय नायिका का पति है जिसको यह सूचित करने के लिए कि 'इस मेरी सखी के अधर को भ्रमर ने काटा है उपपति ने नहीं' यह उक्ति कही गई है। इस दोहे से निकलनेवाले द्वितीय व्यंङ्ग्य का विषय उस नायिका की पड़ोसिन है जिससे नायिका का अपराध उसकी सखी चतुरता से छिपा रही है। इस दोहे से निकलनेवाले तृतीय व्यंग्य का विषय उसकी सपत्नी होगी जिसके कारण उसका अपराध समाधान किया जा रहा है।

निमित्त की भिन्नता—वाच्यार्थ बोध केवल साधारण शब्द ज्ञान तथा व्याकरण ज्ञान से हो सकता है परन्तु व्यंग्यार्थ-बोध के लिए स्वाभाविक प्रतिभा की आवश्यकता है। वह काव्यमर्मज्ञों को ही भासित हो सकता है।

काल की भिन्नता—वाच्यार्थ का ज्ञान पहले तथा व्यंग्यार्थ बोध उसके पीछे होता है अतः दोनों की प्रतीति में काल भेद भी रहता है।

आश्रय की भिन्नता—वाच्यार्थ केवल शब्द के आश्रित रहता है किन्तु व्यंग्यार्थ, शब्द, शब्द के एक अंश, शब्द के अर्थ, वाक्यार्थ, वर्णों की स्थापना विशेष; काकु रचना विशेष, प्रबन्ध विशेष आदि में भी रहता है।

लक्षणावादियों में उद्भट तथा वामन का नाम उल्लेखनीय है। लक्षणावादी ध्वनि को लक्षणा से अभिन्न मानते हैं। इसीलिए वे ध्वनि को लक्षणा का पर्याय कहते हैं। उनकी दृष्टि में लक्षणा और व्यंजना—दोनों एक ही अर्थ की ओर संकेत करती हैं। इन आचार्यों के विचार से लक्ष्यार्थ, ध्वन्यार्थ का एक विशिष्ट अनिवार्य लक्षण है। अतः जहाँ-जहाँ लक्षणा होगी वहाँ-वहाँ ध्वनि अवश्य रहेगी। इस प्रकार लक्षणा सदा ध्वनि-गर्भित रहती है। दूसरे शब्दों में ध्वनि सदा लक्षणा-गर्भित रहती है। लक्षणावादी ध्वन्यार्थ का अस्तित्व अस्वीकार नहीं करते। वे ध्वनिवाद के विरुद्ध सबसे बड़ा आरोप यही लगाते हैं कि ध्वन्यार्थ भाषा की दूसरी शक्ति या व्यापार से उत्पन्न नहीं होता। वह लक्षणा-व्यापार से ही उत्पन्न होता है। कुछ लक्षणावादी लक्षणा की परिभाषा भाषा की उस शक्ति के रूप में करते हैं जिससे रूढ़ अर्थ को छोड़कर और सभी प्रकार के अर्थों की उत्पत्ति संभव है।

लक्षणा और व्यंजना की अभिन्नता भाषा-शक्ति के रूप में अप्रतिपादनीय है। क्योंकि दोनों मूलतः एक दूसरे से भिन्न हैं, दोनों का क्षेत्र अलग ।अलग है। व्यंजना-व्यापार के क्षेत्र में शब्द और अभिधेय-अर्थ दोनों का प्रधान उद्देश्य व्यंग्यार्थ को उपस्थित करना होता है। लक्षणा-व्यापार में किसी तत्त्व या अर्थ का अतिशय कथन होता है या उक्ति में किसी बात पर विशेष बल दिया जाता है। जैसे—'गंगायाम् घोषः' में गंगा के किनारे घोष का सामीप्य अतिशय रूप में कहा गया है। लक्षणा शक्ति का कार्य व्यंजना शक्ति के कार्य से भिन्न होता है। लक्षणा शक्ति मुख्यार्थ-बाध को दूर करने के लिए एक अतिरिक्त अर्थ उपस्थित कर देती है जो मुख्यार्थ से किसी न किसी प्रकार सम्बन्धित रहता है। व्यंजना शक्ति

मुख्यार्थ की बाधा को दूर करने के लिए कोई अतिरिक्त अर्थ नहीं लाती वरन् अन्वयार्थ में उपस्थित बाधा को दूर करने के लिए वह एक विशिष्ट अर्थ लाती है; या वाच्यार्थ द्वारा रस, वस्तु या अलंकार को ध्वनित करती है। लक्षणा केवल शब्द-व्यापार है, अर्थ-व्यापार नहीं, पर व्यंजना उभय-व्यपार है। लक्ष्यार्थ, वाच्यार्थ के बाधित होने पर उसका स्थानापन्न हो जाता है व्यंग्यार्थ में वाच्यार्थ का सदा उपघात नहीं होता, अर्थात् व्यंग्यार्थ कभी वाच्यार्थ कभी लक्ष्यार्थ का आश्रय लेकर खड़ा होता है। लक्षणा केवल मुख्यार्थ वा तात्पर्य की गड़बड़ी मिटा करके शाब्द-बोधमात्र कराकर विरत हो जाती है उससे चमत्कारकारक-प्रयोजन-रूप व्यंग्यार्थ का बोध नहीं होता। उपर्युक्त विवेचन से यह ज्ञात हुआ कि लक्षणा और व्यंजना दोनों शक्तियों का कार्य, प्रकृति, क्षेत्र, परिस्थिति भिन्न भिन्न प्रकार की होती है। उपर्युक्त भिन्नताओं के अतिरिक्त दोनों की प्रक्रियाओं में भी भिन्नता पाई जाती है :—

लक्षणा की प्रक्रिया :—

लक्षणा शक्ति लक्ष्यार्थ का बोध निम्नाङ्कित स्थितियों द्वारा कराती है।

१—शब्दों का मुख्यार्थ या रूढ़ अर्थ का बोध।

२—मुख्यार्थ का बाध।

३—रूढ़ि या प्रयोजन में से किसी एक हेतु का योग।

४—मुख्यार्थ की बाधा को दूर करने वाले अतिरिक्त अर्थ की उत्पत्ति।

५—अतिरिक्त अर्थ से मुख्य अर्थ का सम्बन्ध।

६—पूर्ण लाक्षणिक अर्थ की उत्पत्ति।

व्यंजना शक्ति व्यंग्यार्थ का बोध निम्नाङ्कित स्थितियों द्वारा कराती है :—

१—वाच्यार्थ का बोध

२—अन्वयार्थ में बाधा (In the case of अविवक्षित वाच्य-ध्वनि)

३—वक्ता, प्रकरण, श्रोता, प्रस्ताव आदि का ज्ञान।

४—अतिरिक्त अर्थ की उपस्थिति (In the case of अविवक्षित वाच्य ध्वनि)

५—अतिरिक्त अर्थ के प्रयोजनरूप में व्यंग्यार्थ का बोध।

अभिधामूला विवक्षित वाच्य ध्वनि में :—

१—वाच्यार्थ का बोध।

२—वक्ता प्रकरण श्रोता प्रस्ताव आदि का ज्ञान।

३—रस, वस्तु या अलंकार की व्यंजना।

लक्षणा और व्यंजना दोनों शक्तियों के कार्य करने की दशायें भी भिन्न प्रकार की होती हैं :—

लक्षणा शक्ति को कार्य करने के लिए वाक्य के विभिन्न अवयवों या शब्दों के अर्थों में विरोध या बाधा की आवश्यकता है। लक्षणा का कारण रूढ़ि या प्रयोजन होता है। व्यंजना शक्ति को कार्य करने के लिए शब्दों या उसके अवयवों में विशेष प्रकार के चयन तथा योजना की आवश्यकता है। शब्दों की इस विशिष्ट प्रकार की योजना तथा चयन के लिए वक्ता या लेखक में एक विशेष प्रकार की मनोवैज्ञानिक परिस्थिति आवश्यक होती है जिससे कोई बात या तथ्य प्रत्यक्ष रूप में कहा नहीं जा सकता।

लक्षणा मूला अविवक्षित वाच्य ध्वनि में अन्वयार्थ में बाधा अवश्यक है, व्यंजना का कारण वक्ता या लेखक की सहज अनुभूति या अन्तर्ज्ञानोपलब्ध अर्थ होता है। लाक्षणिक अर्थ को समझने के लिए रूढ़ अर्थ या प्रयोजन को जानने की आवश्यकता है किन्तु व्यंग्यार्थ को समझने के लिए प्रतिभा की।

लक्षणा और व्यंजना-व्यापार के कार्यान्वित होने में काल का भी अन्तर रहता है। 'गंगायाम् घोष:' में लक्षणा द्वारा लाक्षणिक अर्थ (तटादिक) के ज्ञान हो जाने के अनन्तर प्रयोजनादि (पावनत्व शैत्य) की प्रतीति लक्षणा से भिन्न किसी अन्य व्यापार द्वारा (अर्थात् व्यंजना-व्यापार द्वारा) होती है। क्योंकि कारणीभूत ज्ञान के विषय (तीर) और उसके प्रयोजनों (शैत्यादि) का ज्ञान एक साथ नहीं हो सकता।

पहले लक्ष्यार्थ का ज्ञान होता है पीछे प्रयोजन का। अतः यह सिद्ध हुआ कि एक ही शक्ति से एक ही काल में दोनों का ज्ञान नहीं हो सकता।

कभी-कभी किसी ऐसी उक्ति में जहाँ लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ दोनों निकल सकते हैं, परन्तु यदि वहाँ प्रसंगानुकूल व्यंग्यार्थ आवश्यक नहीं होता तो लक्षणा-व्यापार से लक्ष्यार्थ निकलने के पश्चात् शब्द की अर्थ-प्रकाशिका शक्ति अर्थ-व्यंजन का कोई कार्य नहीं करती और उस परिस्थिति में श्रोता या पाठक के मन में व्यंग्यार्थ उत्पन्न नहीं होता। अतः जब भाषा की एक शक्ति (लक्षणा) के कार्य करते समय दूसरी (व्यंजना) बिल्कुल निष्क्रिय हो सकती है तब दोनों (लक्षणा और व्यंजना) को कैसे एक माना जाय ?

लक्ष्यार्थ, ध्वन्यार्थ का अनिवार्य लक्षण नहीं माना जा सकता। अर्थात् जहाँ लक्षणा होती है वहाँ सर्वत्र व्यंजना नहीं होती। जैसे रूढ़ि लक्षणा में व्यंजना का कोई उपयोग नहीं होता कुछ लक्षणावादी प्रयोजनवती लक्षणा में प्रयोजनों को भी लक्ष्यार्थ के अन्तर्गत मानते हैं। जैसे—'गंगायाम् घोषः' में तट में लक्षणा मानने से शैत्यादि प्रयोजन व्यक्त होते हैं। यदि इन प्रयोजनों को लक्ष्यार्थ माना जाय तो इनका फिर अन्य कोई प्रयोजन होगा। यदि उस प्रयोजन को भी लक्ष्यार्थ माना जाय तो उससे भी कुछ और प्रयोजन निकलना चाहिए। इस प्रकार लक्षणावादियों का तर्क मानने से अनवस्था दोष आ जाता है। कतिपय आचार्य प्रयोजनसहित अर्थ का लक्षणा से बोध मानते हैं। लक्ष्यार्थ तथा उसका प्रयोजन दोनों भिन्न-भिन्न हैं। इसलिए वे एक ही समय और एक ही साथ लक्षित नहीं हो सकते। एक का बोध दूसरे के अनन्तर ही संभव है। दोनों अर्थों के स्वरूपों में तथा उनके उद्भव—काल में भिन्नता होने के कारण दोनों की उत्पत्ति के लिए दो भिन्न शक्तियों को मानना आवश्यक है।

व्यंजना लक्षणा ही के साथ सदा रहती हो, ऐसा भी नियम नहीं माना जा सकता। क्योंकि असंलक्ष्य-क्रम-व्यंग्य में लक्ष्यार्थ की प्रतीति बिल्कुल नहीं होती। अभिधा के सहारे व्यंग्यार्थ तुरत उत्पन्न हो जाता

है। लक्षणा रस का बोधक भी नहीं हो सकती। अभिधा और लक्षणा से वही वस्तु बोधित हो सकती है जो पहले से विद्यमान हो। गंगा और उसका तट पहले से विद्यमान हैं। अतः 'गंगायांघोषः' में 'गंगायां' से गंगा-प्रवाह अभिधा द्वारा तथा गंगा-तट लक्षणा से प्रतीत होता है। इन दोनों व्यापारों से शैत्य, पवित्रतादि का बोध नहीं हो सकता। रस वस्तुतः आनन्द या आस्वाद की अनुभूति है जो सहृदय श्रोता या पाठक के मन में प्रकट होती है। व्यंजित होने के पूर्व इसकी सत्ता नहीं रहती।

इसके अतिरिक्त रस-प्रतीति के स्थलों में मुख्य अर्थ का बाध नहीं होता। इस कारण भी लक्षणा द्वारा रस की प्रतीति नहीं मानी जा सकती। अनुपपत्ति के कारण जहाँ वाच्य अर्थ का सम्बन्ध ही न बन सकता हो वहीं लक्षणा मानी जाती है। परन्तु अभिधामूला ध्वनियों में तो वाच्यार्थ में अनुपपन्नता नहीं रहती क्योंकि वहाँ वाच्यार्थ विवक्षित रहता है और उससे सीधा व्यंग्य अर्थ ही प्रतीत होता है।

ऐसा भी नियम नहीं है कि व्यंजना सदा अभिधा और लक्षणा ही के सहारे रहती हो; व्यंजना तो ऐसे वर्णों के सहारे भी खड़ी हो सकती है जिनका कुछ भी वाच्य अर्थ नहीं है। कभी-कभी बिना शब्दोच्चारण किये नेत्र, मुख आदि के संकेतों अथवा चेष्टाओं से भी व्यंजना-व्यापार सिद्ध हो सकता है। कुछ लक्षणावादी विद्वानों का कहना है कि जिस प्रकार व्यंग्यार्थ अनेक प्रकार का होता है तद्वत् लक्ष्यार्थ भी। फिर व्यंग्यार्थ और लक्ष्यार्थ को भिन्न क्यों माना जाय ? इसका पहला उत्तर तो यह है कि कोई भी दो चीजें इसलिए अभिन्न नहीं मानी जा सकतीं कि उन दोनों के अनेक भेद होते हैं। दूसरे लक्ष्यार्थ अनेक प्रकार का होने पर भी अनेकार्थी शब्द में वाच्य अर्थ के समान नियत या सीमाबद्ध ही रहता है। क्योंकि जिस अर्थ का मुख्यार्थ या वाच्यार्थ से नियत सम्बन्ध नहीं है उसका बोध लक्षणा द्वारा नहीं हो सकता। जिस प्रकार अनेकार्थी शब्द का अभिधा-व्यापार द्वारा एक ही वाच्यार्थ संभव है उसी प्रकार लक्षणा-व्यापार भी उसी एक अर्थ को लक्ष्य करा सकता है जो वाच्य अर्थ का नियत सम्बन्धी होता है। जैसे 'गंगायांघोषः' में गङ्गा शब्द

के प्रवाहरूप वाच्यार्थ का नियत सम्बन्धी तट है अतः तट ही में गंगा शब्द का लाक्षणिक अर्थ निहित है, अन्य किसी दूसरे अर्थ में नहीं। अतः लक्ष्यार्थ भी वाच्यार्थ के समान नियत-सम्बन्ध है। परन्तु व्यंग्य अर्थ में प्रकरण आदि की भिन्नता के कारण नियत-सम्बन्ध, अनियत सम्बन्ध और सम्बन्ध सम्बन्ध भी रह कर प्रकाशित होता है। उपर्युक्त विवेचनों से यह स्पष्ट सिद्ध हो गया कि व्यंजना-व्यापार लक्षणा व्यापार से भिन्न है, इसी प्रकार व्यंग्यार्थ और लक्ष्यार्थ भी कभी एक नहीं होते;-दोनों भिन्न भिन्न होते हैं। क्योंकि दोनों दो भिन्न व्यापारों से पैदा होते हैं। अतः लक्ष्यार्थ, ध्वन्यार्थ का अनिवार्य लक्षण कभी नहीं बन सकता। क्योंकि ध्वन्यार्थ, सदा लक्ष्यार्थ के साथ नहीं रहता। एतावता लक्षणा सदा ध्वनिगर्भित नहीं रहती। ध्वनि-विरोधियों में अलंकारवादियों का स्थान बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। वे अभाव वादियों के नाम से प्रसिद्ध हैं। अर्थात् काव्य में ध्वनि का बिल्कुल अभाव मानते हैं। ध्वनि-विरोधी अलंकार वादियों में भामह, दण्डी, प्रतिहारेन्दुराज आदि का नाम उल्लेखनीय है। अलंकारवादियों का कहना है कि जब "शब्दार्थौ काव्यम्" है तब शब्दगत चारुता अर्थात् शब्दालंकार एवं शब्दसंघटनाश्रित शब्दगुण; अर्थगत चारुता अर्थात् अर्थालंकार एवं अर्थगुण तथा बन्धगत चारुता—अर्थात् रीति, वृत्ति आदि काव्य के सौन्दर्यधायक तत्त्वों के अतिरिक्त "शब्दार्थयोः चारुत्वं ध्वनिः" नामक तत्त्व काव्य में कहाँ से आ गया? सहृदय हृदय-आल्हादकारी शब्दार्थमयता ही काव्य का लक्षण है। काव्य के इस परम्परागत स्वरूप को छोड़ देने से न तो काव्य की परिभाषा ठीक हो सकती है और न काव्य-स्वरूप समझने का ढंग ठीक हो सकता है। काव्य की परिभाषा या लक्षण कथन सम्पूर्ण अवयवी के रूप में संभव है, अवयव के रूप में नहीं। अलंकार परम्परा की दृष्टि से काव्य के भीतर दो ही प्रमुख तत्त्व हैं—शब्द तथा अर्थ। शब्दार्थ तथा उनके गुण—अलंकार गुण आदि, एवं उनके बन्धगुण (रीति, वृत्ति आदि) को छोड़ देने से काव्यत्व की हानि हो जायगी। काव्य के जितने शोभाधायक उपकरण हैं, चाहे उनका

कुछ भी नामकरण किया जाय वे अलंकार, रीति, वृति, गुण के अन्तर्गत आ जाते हैं। इस प्रकार काव्य-सौन्दर्य के मूल स्रोतों की विवेचना घूम फिर कर गुण, अलंकार, रीति, वृत्ति आदि की ही विशिष्टता के अन्तर्गत आयेगी, किसी अन्य काव्य-सौन्दर्य-तत्त्व के अन्तर्गत नहीं। ध्वनि तो एक परिकल्पित तत्त्व है जिसकी काव्य में सत्ता नहीं है। काव्य का प्रधान लक्ष्य सहृदयों को आनन्द देना है, काव्य द्वारा आनन्द की निष्पत्ति काव्य में उक्त उपकरणों के रहने से ही संभव है। यदि कोई आचार्य इन उपकरणों के अन्तर्गत न आनेवाले किसी अन्य उपकरण को काव्यानन्द का कारण मानता है तो यह भी निश्चित है कि उसमें सकल विद्वज्जनमनोहारिता नहीं रह सकती और वह साहित्य-सौन्दर्य के संवर्धन में भी कोई योग नहीं दे सकता। कतिपय अलं-कारवादियों का कहना है कि शब्दार्थ के वैचित्र्य-प्रकार अनन्त हैं और उनके चारुत्व हेतु में गुण, अलंकार, रीति, वृत्ति आदि आते हैं, ध्वनि नहीं। न तो कोई किसी उक्ति में शब्द या अर्थ को ध्वनि कह सकता है और न उनकी सुन्दरता को। शब्द-अर्थ की सुन्दरता का सन्निवेश शब्दालंकार तथा अर्थालंकार के भीतर आ जाता है। शब्दालंकार तथा अर्थालंकार को कोई ध्वनि कहता नहीं। अतः ध्वनि कोई अपूर्व तत्त्व या स्वतंत्र वस्तु नहीं, जिसका काव्य में अस्तित्व पाया जाता हो। क्योंकि ध्वनिकार के पूर्ववर्ती किसी प्रसिद्ध आलंकारिक ने इस विषय के पक्ष में विवेचन नहीं किया है। यदि काव्य के प्राण-स्वरूप ध्वनि की सत्ता काव्य में स्वीकृत होती तो उसके पक्ष में आलंकारिकों द्वारा अवश्य कुछ विवेचन मिलता। इसलिए ध्वनि-ध्वनि की रट लगाना कोई अर्थ नहीं रखता। अलंकारवादी ध्वनि के विषय में अधिक से अधिक इतना ही कहते हैं कि काव्य के अनेक सौन्दर्याधायक तत्त्वों में से किसी एक के अनेक भेद-उपभेद किये जा सकते हैं और उन भेदों या उपभेदों में से किसी एक वर्ग के अनेक तत्त्वों के भीतर ध्वनि भी एक तत्त्व के रूप में आ जा सकता है। स्वतंत्र रूप में उसकी कोई सत्ता नहीं। अलंकारवादियों की काव्य-परिभाषा 'शब्दार्थौ काव्यम्' अतिव्याप्ति-

दोष है। ध्वनिकार की दृष्टि में जहाँ वाच्यविशेष या वाचकविशेष अपने को उपसर्जित कर के प्रतीयमान अर्थ की अभिव्यक्ति करते हैं वहीं ध्वनि-काव्य होता है इस प्रकार दोनों सम्प्रदायों के प्रस्थान में भेद होने से दर्शन में भेद हो गया है। आनन्द के उपर्युक्त काव्य-लक्षण द्वारा वाच्यवाचक चारुत्व निबन्धक अर्थालंकारों तथा शब्दालंकारों से ध्वनि की पृथकता स्पष्ट हो जाती है। व्यंग्य-व्यञ्जक भावाश्रयी ध्वनि का समाहार अलंकार-वर्ग में नहीं हो सकता यद्यपि वह अधिकांश अर्थालंकारों के माध्यम से प्रकट होती है। ध्वन्यालोककार की दृष्टि में शब्दार्थ काव्य-शरीर है और प्रतीयमान अर्थ उसकी आत्मा। जैसे शरीर और आत्मा की युगपद् स्थिति में ही मनुष्य अस्तित्व में आ सकता है। तद्वत् शब्दार्थ तथा उनके प्रतीयमानार्थ की युगपद् स्थिति में ही काव्य की सत्ता संभव है। अलंकारवादियों का यह कहना कि काव्य के सभी शोभाधायक तत्त्व अलंकार, गुण, रीति आदि के अन्तर्गत आ जाते हैं। इसके ऊपर आनन्दवर्धन का सबसे बड़ा आरोप यह है कि ध्वनि के बिना काव्य अस्तित्व के अन्तर्गत आयेगा ही नहीं तब शोभाधायक तत्त्वों से लाभ ही क्या होगा? दूसरे ध्वनि-तत्त्व उनकी दृष्टि में ललना-लावण्य की कोटि का होता है, उसकी तुलना कोई भी शोभाधायक उपकरण नहीं कर सकता। व्यंग्यार्थ काव्य में ललना-लावण्य की भाँति अंग-संस्थान से अतिरिक्त दिखाई पड़ता है, अतः काव्य में अलंकार, गुण, रीति, वृत्ति के अतिरिक्त उसकी स्वतंत्र सत्ता है। काव्य-सौन्दर्य के मूल स्रोतों की विवेचना घूम-फिर कर अलंकार, गुण, रीति आदि की ही विशिष्टता के अन्तर्गत नहीं आयेगी वरन् वह औचित्य, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि के भीतर भी आयेगी और इनमें से ध्वनि का स्थान सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि रस के अभाव में अलंकार, गुण रीति आदि के सौन्दर्य-काव्य में सौन्दर्य की सृष्टि नहीं कर सकते, जैसे प्राण रहित स्त्री के शरीर पर आभूषणादि शोभाकारक सिद्ध न हो कर घृणास्पद ही सिद्ध होते हैं। काव्य का प्रधान लक्ष्य सहृदयों को आनन्द देना अलंकारवादियों के समान ही ध्वनिवादी भी स्वीकार करते हैं किन्तु आनन्द-निष्पत्ति के उपकरणों में दोनों

विभिन्न मत रखते हैं। ध्वनिवादी अलंकारवादियों के समान काव्य में रस की निष्पत्ति अलंकार, गुण, रीति आदि द्वारा संभव न मानकर ध्वनि द्वारा संभव मानते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं, इस विषय में ध्वनिवादियों का ही मत मान्य हो सकता है, आलंकारिकों का नहीं; क्योंकि अलंकार, गुण, रीति आदि रसोत्पति में केवल सहायक हो सकते हैं, केवल इन्हीं द्वारा रस-निष्पत्ति संभव नहीं। ध्वनि के अन्तर्गत रस भावादि आते हैं और वे ही सहृदयों के आनन्द के कारण होते हैं अतः ध्वनि-तत्त्व में ही विद्वज्जनमनोहारिता वर्तमान है अकेले, अलंकारादि में नहीं। साहित्य-सौन्दर्य के संवर्धन में ध्वनि सबसे अधिक योग देता है, क्योंकि उसके भीतर काव्य के अन्य तत्त्वों का समाहार जो हो जाता है।

शब्दार्थ के वैचित्र्य-प्रकार अनन्त हैं पर उन वैचित्र्यों का प्राण-तत्त्व ध्वनि में वर्तमान है। जिसकी अनुपस्थिति में अलंकारवादियों के चारुत्व हेतु—अलंकार, गुण, रीति आदि सौन्दर्य-निष्पादक नहीं, वरन् हास्यास्पद सिद्ध होंगे। अलंकारवादियों की इस बात को मानने में कोई हर्ज नहीं कि शब्दालंकार तथा अर्थालंकार को कोई ध्वनि नहीं कह सकता किन्तु इस बात को अस्वीकार भी नहीं किया जा सकता कि ध्वनि का क्षेत्र इतना व्यापक है कि उसके भीतर शब्दालंकार तथा अर्थालंकार समाहित हो सकते हैं। काव्य में ध्वनि-तत्त्व की स्वतंत्र सत्ता है यह बात पहले सिद्ध की जा चुकी है एवं कही जा चुकी है अतः फिर प्रमाणित करने की कोई आवश्यकता नहीं। अलंकारवादियों की यह दलील कि ध्वनिकार के पूर्व किसी आलंकारिक ने ध्वनि का उल्लेख नहीं किया और उसे काव्य के प्राण-स्वरूप में अभिहित नहीं किया, अतः ध्वनि का काव्य में कोई अस्तित्व ही नहीं है; बहुत ही भद्दा एवं भोंड़ा तर्क है अतः इसके खण्डन में समय लगाना उसका दुरुपयोग करना है। अन्ततोगत्वा अलंकारवादियों ने यह मान कर कि काव्य के अनेक सौन्दर्याधायक तत्त्वों के भेदों या उपभेदों के भीतर ध्वनि-तत्त्व एक आवश्यक तत्त्व के रूप में वर्तमान रहता है, काव्य में ध्वनि-तत्त्व की उपस्थिति को दबे स्वर में स्वीकार कर लिया है।

ध्वनि विरोधियों में तात्पर्यवादियों का स्थान कम महत्त्वपूर्ण नहीं है अतः इनके खण्डन-पक्ष पर भी विचार कर लेना चाहिए। तात्पर्यवादियों में प्राचीन नैय्यायिक, कुमारिलभट्ट प्रभृति मीमांसकाचार्य तथा धनञ्जय, धनिक आदि साहित्याचार्य प्रसिद्ध हैं। कुमारिलभट्ट आदि अभिहितान्वयवादियों के मत में अभिधाशक्ति एक-एक पद का अर्थ अलग अलग बिखरे हुए रूप में कराकर विरत हो जाती है। वे अभिधा द्वारा उपस्थित पदों के असम्बन्धित अर्थों का परस्पर अन्वय (सम्बन्ध) के बोधन के लिए वाक्य में तात्पर्य नाम की शक्ति मानते हैं और तात्पर्यार्थ को उस वृत्ति का प्रतिपाद्य अर्थ मानते हैं तथा वाक्य को तात्पर्यबोधक मानते हैं[1]। धनञ्जय और धनिक की दृष्टि में तात्पर्यशक्ति कोई तुली हुई वस्तु नहीं है जो निकालने से घट जायगी। ये लोग तात्पर्यवृत्ति को 'यावत्कार्यप्रसारी' मानते हैं[2] अतएव इनकी सम्मति में तात्पर्य शक्ति से ही वाक्यार्थ का ज्ञान एवं व्यंग्यार्थ का मान दोनों हो सकता है। व्यञ्जना को कोई अतिरिक्त शक्ति मानने की आवश्यकता नहीं।

खण्डन :—तात्पर्य शक्ति से केवल वाक्यार्थ का ज्ञान होता है। वाक्यार्थ ज्ञान के पश्चात् तात्पर्य शक्ति अपने कार्य से विरत हो जाती है। परन्तु रस, भाव आदि की प्रतीति वाक्यार्थ-ज्ञान के पश्चात् होती है।

१—तात्पर्याख्यां वृत्तिमाहुः पदार्थान्वयबोधने।
तात्पर्यार्थं तदर्थं च वाक्यं तद्बोधकं परे।

अभिधाया एकैकपदार्थबोधनविरमाद्वाक्यार्थरूपस्य पदार्थान्वयस्य बोधिका-तात्पर्यं नाम वृत्तिः तदर्थश्च तात्पर्यार्थः—तद्बोधकं च वाक्यमित्यभिहितान्वयवादिनां मतम्। साहित्यदर्पण पृष्ठ ६५

२—एतावत्येव विश्रान्तिः तात्पर्यस्येति किं कृतम्।
यावत् कार्यप्रसारित्वात्तात्पर्यं न तुलाधृतम्।

—दशरूपक

अतः रसादि के बोध के लिए चौथी वृत्ति व्यंजना को मानना आवश्यक है। वस्तुतः तात्पर्य वृत्ति पदार्थों के सम्बन्धमात्र का बोध कराकर परिक्षीण हो जाती है अतः फिर उससे व्यंग्य अर्थ का बोध कराना सम्भव नहीं। कुछ तात्पर्यवादियों की दृष्टि में अभिहितान्वयवादियों की सम्मत तात्पर्य-शक्ति से विभावादि का संसर्ग और रसादि की प्रतीति एक साथ हो जाती है अतः व्यंजना को माने बिना भी काम चल जाता है। तात्पर्यवादियों का यह मत ठीक नहीं है क्योंकि विभावादिकों का संसर्ग-ज्ञान रस का कारण है। और रस-प्रतीति विभावादिक ज्ञान का कार्य। कार्य और कारण कभी एक साथ नहीं होते। कारण पहले और कार्य बाद को हुआ करता है। अतः एक ही शब्द-शक्ति से विभावादिकों का संसर्ग तथा रस-प्रतीति मानना ठीक नहीं। तात्पर्य यह कि रस-प्रतीति के लिए व्यंजना-व्यापार को मानना आवश्यक है। धनिक की दृष्टि में व्यञ्जकत्व तात्पर्य से भिन्न नहीं अतः ध्वनि तात्पर्यार्थ अलग कोई पदार्थ नहीं। तात्पर्यशक्ति यावत्कार्यप्रसारी है। तात्पर्य का प्रसार जहाँ तक चाहें वहाँ तक हो सकता है। तात्पर्य तराजू पर तौली हुई कोई वस्तु नहीं जिसके घट जाने का सन्देह हो। अतएव तात्पर्य वृत्ति से वाक्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ दोनों की प्रतीति हो सकती है।

व्यंजना-व्यापार तात्पर्य-व्यापार से अलग व्यापार है। दोनों व्यापारों की प्रक्रियाएँ अलग अलग हैं। तात्पर्यार्थ और ध्वनि दोनों अलग अलग पदार्थ हैं। तात्पर्यार्थ केवल वाक्यार्थ-ज्ञान मात्र है। ध्वनि रस, भाव आदि की प्रतीति है। तात्पर्यार्थ का तात्पर्य ध्वनि में समाया है। तात्पयार्थ यदि वाक्यार्थ है तो व्यंग्यार्थ उस वाक्यार्थ की ध्वनि। तात्पर्यार्थ यदि कारण है तो ध्वनि कार्य। तात्पर्यार्थ की उपमा तराजू पर तौली हुई वस्तु से देना ठीक नहीं। तात्पर्यार्थ वाक्यार्थ ज्ञान मात्र तक सीमित है अतः वह यावत्कार्य प्रसारी नहीं हो सकता—उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया कि व्यंग्यार्थ तात्पर्यार्थ से भिन्न है। व्यंजना-व्यापार तात्पर्यार्थ के व्यापार से स्वतंत्र व्यापार है। तात्पर्यवृत्ति यावत्कार्यप्रसारी नहीं मानी जा सकती।

तात्पर्य-शक्ति से वाच्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ दोनों की प्रतीति नहीं हो सकती।

ध्वनि विरोधी आचार्यों में महिमभट्ट का नाम बहुत ही महत्त्वपूर्ण है उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'व्यक्ति-विवेक' की रचना ध्वनि-सम्प्रदाय के विरोध के लिए ही जान पड़ती है अतः इनके ध्वनि-विरोधी विचारों तथा उनके खण्डनात्मक पक्ष से अवगत होना आवश्यक है। महिमभट्ट के अनुसार शब्द में कई शक्तियाँ नहीं रहतीं केवल एक अभिधा शक्ति होती है। शब्द-व्यापार भी केवल एक ही प्रकार का होता है अर्थात् अभिधा-व्यापार ही केवल शब्द का व्यापार है। अन्य व्यापार जैसे—अनुमेयार्थ प्रकट करने वाला व्यापार अर्थ-व्यापार से सम्बन्ध रखता है। महिमभट्ट का कहना है कि जिस वस्तु में कई शक्तियाँ रहती हैं उस वस्तु में उन शक्तियों का एक साथ प्रकाशन भी देखा जाता है। जैसे अग्नि में दाहकत्व, पाचकत्व और प्रकाशत्व। इनका व्यापार भी एक साथ होता है। यदि शब्द में भी अन्य शक्तियाँ रहतीं तो अभिधा के साथ-साथ उनका भी व्यापार भी देखा जाता। किन्तु आनन्दवर्धन तथा उनके अनुयायियों द्वारा प्रतिपादित अन्य शक्तियों के व्यापार अभिधा के पश्चात् कार्य करते हुए दिखाई पड़ते हैं इसलिए उन शक्तियों का क्षेत्र अभिधा के अतिरिक्त अर्थात् शब्द के अतिरिक्त मानना चाहिए।

महिमभट्ट की दृष्टि में दो प्रकार के अर्थ होते हैं। अभिधेय तथा अनुमेय। अभिधेय अर्थ वह है जो किसी रूढ़ि या भद्रजनों के व्यवहार से निश्चित होता है। अनुमेय अर्थ वह अर्थ है जो किसी रूढ़ि या प्रयोग के कारण शब्द से सम्बन्ध नहीं रखता वरन् मुख्यार्थ से साधक तथा साध्य रूप में सम्बन्धित रहता है। अनुमेय अर्थ दो प्रकार का होता है। पहला वह है जो मुख्यार्थ से प्रत्यक्ष रूप में अनुमेय हो, जैसे भाव, वस्तु अलंकार आदि। दूसरा वह है जो मुख्यार्थ से अप्रत्यक्ष रूप में अर्थात् प्रथम अनुमेयार्थ से प्रत्यक्ष रूप में अनुमेय होता हो। दूसरे को अनुमितानुमेयार्थ मानते हैं। अनुमितानुमेयार्थ के लिए ध्वनि-शब्द का प्रयोग करने में महिमभट्ट को कोई विरोध

नहीं है यदि इसका प्रयोग गौण अर्थ में सहृदय में चमत्कार उत्पन्न करनेवाले तत्त्व के अर्थ में होता है। महिमभट्ट इन दो प्रकार के अर्थों के लिए दो प्रकार की शक्तियाँ मानते हैं, इनमें से एक का सम्बन्ध शब्द से है दूसरे का सम्बन्ध अभिधेय अर्थ से है। महिमभट्ट लक्षणा, व्यंजना, तात्पर्य आदि शक्तियों का समावेश अनुमेयार्थ उत्पन्न करने वाली अर्थशक्ति में कर देते हैं और इसी कारण लक्ष्यार्थ, व्यंग्यार्थ, तात्पर्यार्थ को अनुमेयार्थ के भीतर समाहित मानते हैं। इस प्रकार वे अनुमेयार्थ का क्षेत्र लक्ष्यार्थ, व्यंग्यार्थ तात्पयार्थ तीनों के सम्मिलित क्षेत्र से भी अधिक विस्तृत मानते हैं। अनुमेयार्थ अपनी प्रकृति के अनुसार तीन प्रकार का होता है रसानुमिति, वस्तुअनुमिति तथा अलंकार अनुमिति।

लक्षणा का खण्डन

महिमभट्ट शब्द की एक ही शक्ति मानने के कारण लक्षणा शक्ति को स्वीकार नहीं करते, लक्ष्यार्थ को अनुमेयार्थ के भीतर समाविष्ट करते हैं जैसे न "वह आदमी निरा गधा है" वाक्य से अनुमितिवाद के सिद्धान्तानुसार 'वह आदमी मूर्ख है' अर्थ शब्दों से नहीं निकलता क्योंकि गधे तथा आदमी में अभिन्नता नहीं। कोई भी समझदार आदमी दोनों की अभिन्नता की बात करते देखा नहीं गया। वह श्रोता जो वक्ता के व्यक्तित्व से परिचित होने के कारण उसके अभिप्राय को जानता है—दोनों (उस आदमी और गधे के) सादृश्य का अनुमान उस एक पक्ष में करके अनुमेयार्थ को निकाल लेता है। किसी एक पक्ष में दोनों की समानता का अनुमान इस अनुमेयार्थ तक पहुँचाता है कि वह आदमी निरा मूर्ख है। इस प्रकार लक्ष्यार्थ, अनुमेयार्थ के अन्तर्गत आ जाता है। 'गंगायाम् घोषः' में गंगा के किनारे झोपड़ा वाला अर्थ अनुमान से निकलता है। अनुमेयार्थ प्रत्यक्ष रूप से कही गई वस्तु से दूसरे पदार्थ की उत्पत्ति मात्र है। अनुमेयार्थ तथा अभिधेयार्थ साध्य एवं हेतु रूप में ग्रथित रहते हैं। दोनों में समवाय-सम्बन्ध

है। किसी भी उक्ति में रूढ़ अर्थ के अतिरिक्त दूसरा अर्थ किसी हेतु से निकलता है। महिमभट्ट उस उक्ति के अन्तर्गत प्रतिष्ठित परिस्थितियों को हेतु मानते हैं; शब्द को नहीं। लक्ष्यार्थ की उत्पत्ति में ये ही परिस्थितियाँ हेतु का कार्य करती हैं। इन परिस्थितियों को महिमभट्ट-लिङ्ग नाम से अभिहित करते हैं। लिङ्ग से जो अर्थ जाना जाता है वह अनुमेयार्थ है। इस प्रकार व्यक्ति-विवेककार की दृष्टि में लक्ष्यार्थ की उत्पत्ति शब्द-शक्ति के परे है क्योंकि उनकी दृष्टि में शब्द केवल रूढ़ या, अभिधेय अर्थ उत्पन्न करने की क्षमता रखता है। लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ की नहीं। महिमभट्ट के लक्षणा के उपर्युक्त खण्डन से इसी सिद्धान्तानुसार लक्ष्यार्थ पर आधारित लक्षणामूला ध्वनियों—अर्थान्तरसंक्रमित तथा अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य का अपने आप खण्डन हो जाता है।

महिमभट्ट द्वारा व्यंजना का खण्डन

महिमभट्ट के अनुसार शब्द में व्यंजना शक्ति तार्किक प्रणाली से स्थापित नहीं की जा सकती क्योंकि उसमें एक ही शक्ति निहित है—अभिधा, जो रूढ़ अर्थ को व्यक्त करती है। अतः शब्द से व्यंग्यार्थ की उत्पत्ति असंभव है। किसी उक्ति में शब्द नहीं वरन् अभिधेय या रूढ़ अर्थ किन्हीं विशिष्ट दशाओं में अनुमेयार्थ का बोध कराते हैं जिसे ध्वनिवादी व्यंग्यार्थ कहते हैं। इस प्रकार शब्द तथा व्यंग्यार्थ में कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता। यदि रूढ़ अर्थ के अतिरिक्त अन्य अर्थ, शब्द और अर्थ में बिना किसी निश्चित सम्बन्ध-स्थापन के शब्द-जन्म मान लिये जायँ तो अर्थ की सीमा निश्चित करना असम्भव हो जायगा और यदि व्यंग्यार्थ को वाच्यार्थ से असम्बद्ध मान लिया जाता तो वाच्य से कोई भी व्यंग्य अर्थ निकलने लगेगा। तब अतिव्याप्ति दोष आ जायगा। क्योंकि फिर अर्थ का नियंत्रण करने के लिए कोई नियम नहीं रहेगा। ऐसी स्थिति में शब्द और अर्थ में कोई स्वाभाविक सम्बन्ध

भी स्थापित नहीं किया जा सकेगा। आनन्दवर्धन के अनुसार भी यह नहीं कहा जा सकता कि व्यंग्यार्थ परम्परा या रूढ़ि से शब्द से सम्बन्धित रहता है क्योंकि व्यंग्यार्थ की उत्पत्ति कुछ विशिष्ट परिस्थितियों, जैसे-विशिष्ट समय, स्थान, पात्र, वक्ता की प्रवृत्ति, प्रकरण, प्रस्ताव, श्रोता, साहचर्य, वियोग, संयोग विरोध, औचित्य आदि पर निर्भर करती हैं और ये परिस्थितियाँ किसी रूढ़ि या परम्परा द्वारा न तो निश्चित की जाती हैं और न की जा सकती हैं, एक ही शब्द या वाक्य भिन्न भिन्न परिस्थितियों में भिन्न भिन्न अर्थ देता है। इस प्रकार व्यंग्यार्थ की परिस्थितिमूलक प्रकृति आनन्द द्वारा भी स्वीकृत की जाती है। इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि शब्द व्यंग्यार्थ को उत्पन्न नहीं करते वरन् उन शब्दों के रूढ़ अर्थ से निश्चित पदार्थ कुछ विशिष्ट परिस्थितियों के कारण व्यंग्यार्थ के सृजन में समर्थ होते हैं। अतः यह कहना कि शब्द व्यंग्यार्थ ध्वनित करते हैं, अर्थरहित है, व्यञ्जना की धारणा शब्द-शक्ति के रूप में अतार्किक है। शब्दों में जब एक ही शक्ति—अभिधा है, जो रूढ़ अर्थ को व्यक्त करती है; अतः वे शब्द व्यंग्य अर्थ को सूचित नहीं कर सकते। व्यक्ति-विवेककार जब व्यंग्यार्थ की सत्ता ही नहीं मानते तब यह कहना कि वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ को सूचित करता है कोई अर्थ नहीं रखता। आनन्दवर्धन के अनुसार असंलक्ष्यक्रम व्यंग्यध्वनि में वाच्चार्थ तथा व्यंग्यार्थ में क्रम परिलक्षित नहीं होता किन्तु महिमभट्ट तार्किक दृष्टि से सिद्ध करते हैं कि हेतुरूप वाच्यार्थ तथा साध्यरूप अनुमेयार्थ में काल-क्रम स्पष्ट दिखाई पड़ता है अतः इनकी दृष्टि में वाच्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ की तथा ज्ञान और आनन्द की अनुभूति को एककालीन मानना असिद्ध बात है। अतएव इस असिद्ध आधार पर स्थित ध्वनि-सिद्धान्त भी सिद्ध नहीं किया जा सकता। रस या भावध्वनियों को महिमभट्ट अनुमान के ही अन्तर्गत मानते हैं। उनकी प्रक्रिया को भी अनुमान-प्रक्रिया से सिद्ध बतलाते हैं। उनका तर्क है कि जैसे एक वस्तु से हम दूसरी वस्तु का अनुमान करते हैं तद्वत् विभावा, अनुभाव संचारी आदि से जो क्रमशः भावों के कारण, कार्य, सहकारी होते हैं हम,

रस का अनुमान करते हैं। हेतु रूप विभावादिकों से रति आदि भाव का अनुमान होता है। रत्यादि भावों के अनुमित होने पर उनका आस्वाद, जो रस स्थिति को पहुँचता है, उसका ज्ञान भी अनुमान-प्रक्रिया से ही होता है इस प्रकार रस अनुमितानुमेयार्थ है। महिमभट्ट की दृष्टि में रस के लिए ध्वनि का प्रयोग इस त्रुटि पर अवलम्बित है कि ध्वनिवादी रस में कारण और कार्य का बोध एककालीन मानते हैं इस प्रकार उनकी दृष्टि में रस में कारण-कार्य, सम्बन्ध का बोध नहीं होता, यद्यपि यह सम्बन्ध उसमें वर्तमान रहता है। किन्तु वस्तु-ध्वनि तथा अलंकार-ध्वनि के विषय में कारण-कार्य बोध की एककालीनता नामक त्रुटि के अवलम्बन की भी गुंजायश नहीं क्योंकि महिमभट्ट की दृष्टि में इन दोनों ध्वनियों में अभिधेय अर्थ कारण रूप में कार्य करता हुआ वस्तु तथा अलंकार का ज्ञान अनुमान-प्रक्रिया द्वारा अनुमेयार्थ के रूप में कराता है। इस प्रकार वाच्यार्थ एवं वस्तु या अलंकार-ध्वनि में हेतु एवं साध्य का सम्बन्ध है, अतः वस्तु-ध्वनि तथा अलंकार-ध्वनि के प्रयोग में ध्वनि शब्द का प्रयोग करना न्यायोचित नहीं, महिमभट्ट ने आनन्दवर्धन के ध्वनि-आधार तथा स्फोट-सादृश्य को भी त्रुटिपूर्ण सिद्ध किया है, महिमभट्ट के अनुसार शब्द-स्फोट तथा उसके उत्पन्न करनेवाले वर्णों में काल का अनुक्रम दिखाई पड़ता है। ठीक इसी प्रकार वाच्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ-प्रतीति में कालानुक्रम स्पष्ट दिखाई पड़ता है। इनकी दृष्टि में वाच्य तथा व्यंग्य में व्यंजक-व्यंग्य सम्बन्ध नहीं वरन् गमक-गम्य या साधक-साध्य सम्बन्ध है। महिमभट्ट रस को काव्य का प्राण मानते हैं पर उसे अनुमान की प्रक्रिया द्वारा ग्राह्य कहते हैं। इनकी सम्मति में सौन्दर्यानुभूति तथा तार्किक अनुभूति (Logical experience) में कोई अन्तर नहीं। सौन्दर्यानुभूति में हेतु या कारण से साध्य तक तार्किक प्रक्रिया काम करती है। महिमभट्ट ने आनन्द के ध्वनि-सिद्धान्त, ध्वनि-आधार, ध्वनिभेदों को ही त्रुटिपूर्ण सिद्ध नहीं किया है वरन् उनकी काव्य-कसौटी तथा काव्य-विभाजन को भी त्रुटिपूर्ण घोषित किया है। आनन्द की काव्य-कसौटी ध्वनि की प्रधानता, अप्रधानता या अनुपस्थिति है। महिमभट्ट की

दृष्टि में आनन्द के ध्वनि-तत्त्व को काव्य-कसौटी बनाने से किसी कृति के प्रयोजन तथा उसकी मूल-प्रकृति, ढाँचे आदि पर विचार नहीं हो सकता। महिमभट्ट का कहना है कि स्वीकृत काव्य-धारणा के अनुसार रस काव्य की आत्मा है। अतः रस-ध्वनि के आधार पर किसी काव्य को विशिष्ट प्रकार की श्रेणी में रखना ठीक नहीं। क्योंकि रस रहित काव्य को कोई काव्य नहीं कहता। इसी प्रकार वस्तु-ध्वनि तथा अलंकार-ध्वनि वाले काव्य को भी विशिष्ट श्रेणी देना ठीक नहीं क्योंकि वस्तु तथा अलंकार ध्वनियाँ वस्तुतः रसाभिव्यक्ति के विभिन्न प्रकार के स्वरूप हैं।

महिमभट्ट का खण्डन

महिमभट्ट तथा आनन्दवर्धन के प्रस्थान में भेद होने के कारण दोनों के साहित्य-दर्शन में भेद हो गया। भर्तृहरि के समय में स्फोट तथा ध्वनि के सम्बन्ध में विभिन्न मत थे। स्फोटवादी भी इस विषय में एक मत नहीं थे कि स्फोट और ध्वनि की प्रतीति एक ही समय में होती है या कालक्रम से भिन्न भिन्न कालों में होती है। कुछ स्फोटवादियों की धारणा थी कि स्फोट और ध्वनि की प्रतीति एक ही समय में होती है और कुछ का मत था कि भिन्न-भिन्न कालों में होती है। ध्वनि का सिद्धान्त स्फोटवाद पर आधारित है। आनन्दवर्धन ने अपने ध्वनि-सिद्धान्त के लिए स्फोटवाद के प्रथम मत को आधार रूप में अपनाया। इसीलिए उन्होंने स्फोट तथा ध्वनि की तथा वाच्यार्थ एवं ध्वनि की एककालीनता स्वीकार की। महिमभट्ट ने स्फोटवाद के दूसरे मत को अपनाया। इसीलिए उन्होंने स्फोट तथा ध्वनि की एवं वाच्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ की व्यंग्यार्थ की प्रतीति में एककालीनता स्वीकार नहीं की। स्फोटवाद के इन्हीं दो विभिन्न मतों को अपनाने के कारण इनके ऊपर आधारित आनन्दवर्धन के ध्वनिवाद तथा अनुमितिवाद में इतना महान अन्तर उपस्थित हो गया। रस या ध्वनि को अनुमान के अन्तर्गत रखने का दूसरा कारण यह था कि महिमभट्ट वस्तुतः न्यायाचार्य थे। उनका

मस्तिष्क सदा न्याय की ज्ञान प्रक्रिया से व्याप्त रहता था। न्याय की दृष्टि से सब वस्तुओं को देखना उनके लिए स्वाभाविक था। ऐसा जान पड़ता है कि मनोविज्ञान से अपरिचित होना एक तीसरा कारण था जिससे वे ज्ञान-प्रक्रिया तथा अनुभूति-प्रक्रिया के पारस्परिक अन्तर से अपरिचित होने के कारण व्यंग्यार्थ तथा रस को जो, वस्तुतः अनुभूति की वस्तु है; ज्ञान-प्रक्रिया अर्थात् अनुमान-प्रक्रिया के भीतर रखने में समर्थ हुए। रस वस्तुतः भाव की अनुभूति है, भाव का ज्ञान नहीं। क्योंकि रस उत्पन्न होता है वह ज्ञात नहीं कराया जाता। काव्य में विभाव, अनुभाव आदि के ज्ञान की उत्पत्ति अभिधा द्वारा होती है। विभाव, अनुभाव आदि के ज्ञान से आश्रय (नायक या नायिका) के भाव का अनुमान भी किया जा सकता है किन्तु भाव का अनुमान या ज्ञान रस नहीं है। रस तो अपने हृदय में ही प्रत्यक्ष जीवन या काव्य-पठन श्रवण अथवा अवलोकन काल में उत्पन्न होता है, उसका अनुमान नहीं कराया जाता। उसकी अनुभूति ही होती है। यदि अपनी अनुभूति अपने ही को अनुमान द्वारा प्रतीति होने लगेगी तो फिर उसका प्रत्यक्ष किसे होगा? अतः रस को अनुमितानुमेयार्थ कहना न्यायसंगत नहीं।

महिमभट्ट का कहना है कि अभिधेयार्थ हेतु है और व्यंग्यार्थ या अनुमितानुमेयार्थ साध्य। उनकी दृष्टि में हेतु और साध्य में जैसा सम्बन्ध होता है वैसा ही सम्बन्ध व्यंजक तथा व्यंग्यार्थ में होता है। किन्तु उनका यह भी तर्क ठीक नहीं है क्योंकि अनुमान में सत् हेतु की आवश्यकता है तथा व्यंग्यार्थ को अनुमेय सिद्ध करने में जो हेतु दिये जाते हैं वे सब असत् हेतु या हेत्वाभास मात्र रहते हैं। उदाहरणार्थ नीचे के दोहे को देखिए:—

अहो! भगत! निधरक विचर इत न स्वान वह आहि।
या वन के वा सिंह ने हत्यो आज है ताहि।

उक्त दोहे में निषेध व्यंग्यार्थ है जिसकी प्रतीति महिमभट्ट अनुमान द्वारा सिद्ध करते हैं। उनकी दृष्टि में यहाँ परकीया द्वारा सिंह के प्रत्

होने की सूचना हेतु है और भगत जी का संकेत स्थल पर आने के लिए निषेध करना साध्य है। किन्तु अनुमान की प्रक्रिया यहाँ घटती नहीं। क्योंकि इसमें हेतु संदिग्ध है। अनुमानसिद्ध ज्ञान में हेतु और साध्य का व्याप्तिग्रह प्रत्यक्ष सिद्ध होता या किसी प्रामाणिक द्वारा कथित। यहाँ पर दोनों में से एक भी कारण नहीं है। 'सिंह के आने की सूचना' नामक हेतु कुलटा के मुख से निकलने के कारण प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। बहुत संभव हो वहाँ सिंह न हो। कुलटा ने भगत जी को डरा कर भगाने के लिए सिंह के आगमन की सूचना दी हो। अतः इस अनुमान का हेतु असत् हेतु है। सिंह को आते न तो उस कुलटा ही ने देखा है और न भगत ने ही। अतः यह हेतु प्रत्यक्ष सिद्ध भी नहीं है। सच्चे ईश-भक्त सिंह से डरते भी नहीं। अतः इस परिस्थिति में संकेत-स्थल से भगत के चले जाने का साध्य सिद्ध नहीं हो सकता। अतः उक्त हेतु प्रत्यक्ष सिद्ध या प्रामाणिक होने पर भी साध्य के लिए दुर्बल पड़ता है। संसार में कुछ ऐसे लोग भी पाये जाते हैं जो कुत्ते से तो डरते हैं पर सिंह से नहीं। इसलिए यह हेतु अनैकान्तिक या व्यभिचारी भी सिद्ध हो सकता है। इस प्रकार यहाँ धूमाग्नि के समान समवाय-सम्बन्ध-हेतु ... साध्य में न रहने से व्याप्तिज्ञान में अपूर्णता आ जाती है। इसलिए यहाँ अनुमान-प्रक्रिया से व्यंग्यार्थ की सिद्धि नहीं हो सकती।

महिमभट्ट का यह कथन कि पहले रति आदि का अनुमान होता है; पीछे रसादि अनुमितानुमेयार्थ के रूप में उत्पन्न होते हैं; इस प्रकार इन दोनों में हेतु और साध्य का सम्बन्ध रहता है; अर्थात् पहले विभावादि कारण की प्रतीति, फिर रत्यादि का अनुमान, तदनन्तर इस अनुमान के कारण रूप में कार्य करने से अनुमान-प्रक्रिया द्वारा ही रसनिष्पत्ति होती है; ठीक नहीं। क्योंकि, जैसा पहले सिद्ध किया जा चुका है कि रसादिक में असंलक्ष्यक्रम रहता है अर्थात् इनमें कारण और कार्य का क्रम रहता है पर लक्षित नहीं होता। रस में कारण और कार्य में एककालीनता प्रतीत होती है। किन्तु अनुमान-प्रक्रिया में कारण और कार्य

में क्रम तथा कालभेद का लक्षित होना आवश्यक है। अतः रसादिक व्यंग्य की सिद्धि अनुमान-प्रक्रिया द्वारा नहीं हो सकती।

व्यक्तिविवेककार वस्तुध्वनि तथा अलंकारध्वनि को भी अनुमान के ही अन्तर्गत मानते हैं और अपने इस कथन की सिद्धि के लिए सबसे बड़ा तर्क यही देते हैं कि वस्तु तथा अलंकार-ध्वनियों में हेतु और साध्य में क्रम लक्षित रहता है, तथा व्याप्तिग्रह इन ध्वनियों में बैठ जाता है। इन ध्वनियों को अनुमेयार्थ सिद्ध करने में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि इनमें हेतु प्रायः संदिग्ध या व्यभिचारी कोटि के होते हैं इसलिए इनमें व्याप्तिग्रह बैठ नहीं सकता। किन्तु अनुमान-प्रक्रिया की सिद्धि के लिए हेतु में किसी प्रकार का दोष नहीं रहना चाहिए, उस साध्य के साथ सदा उसका समवाय-सम्बन्ध रहना ही चाहिए अतः उक्त ध्वनियों में अनुमान-प्रक्रिया नहीं प्रयुक्त हो सकती। वस्तुध्वनि तथा अलंकार-ध्वनि को अनुमेयार्थ सिद्ध करने के लिए महिमभट्ट के दियें हुए उदाहरणों में हेतु तथा साध्य में समवाय-सम्बन्ध नहीं पाया जाता। दोनों उदाहरणों में हेतु अनैकान्तिक कोटि के हैं अतः वे हेतु नहीं हेत्वाभास हैं—

उदाहरणार्थ नीचे के श्लोक को देखिए—

भ्रमधार्मिक! विश्रब्धः स शूनकोऽद्य मारितस्तेन।
गोदानदीकच्छकुञ्जवासिना दृप्तसिंहेन॥

इस श्लोक में साध्य है धार्मिक पुरुष के भ्रमण का निषेध—किन्तु इसका हेतु सिंह संदिग्ध कोटि का है। गोदावरी के किनारे सिंह है या नहीं—इसमें सन्देह है। सिंह रहने पर भी वह धार्मिक गोदावरी तट से चला ही जायगा इसमें सन्देह है अतः हेतु व्यभिचारी कोटि का सिद्ध होता है। अब महिमभट्ट का दूसरा श्लोक देखिए—

जलकेलितरलकरतलमुक्तयुनः पिहितराधिकावदनः।
जगदवतु कोकयूनो विघटनसंघटनकौतुकी कृष्णः॥

(जलक्रीड़ा के समय चंचल हथेलियों से बार बार राधा के मुख को ढाँककर खोलकर चक्रवाक के जोड़े का संयोग और वियोग करनेवाले कौतुकी कृष्ण संसार की रक्षा करें)। यहाँ व्यंग्य अलंकार रूपक है। उक्त श्लोक के हेतु चन्द्रमा हैं; साध्य-चक्रवाक के जोड़ों का संयोग तथा वियोग है। यहाँ भी हेतु अनैकान्तिक है क्योंकि चक्रवाक के जोड़ों के वियोग के लिए चन्द्रमा के अतिरिक्त और भी कई हेतु हो सकते हैं— जैसे, व्याध या बाज पक्षी। उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध हो गया कि वस्तु तथा अलंकार ध्वनियों में भी हेतु तथा साध्य में समवाय-सम्बन्ध नहीं रहता अतः उन दोनों में भी अनुमान प्रक्रिया नहीं लग सकती।

वस्तुतः वस्तु तथा अलंकार-ध्वनियाँ रसाभिव्यक्ति के दो विभिन्न स्वरूप हैं। यदि रसाभिव्यक्ति की प्रक्रिया अनुमान-प्रक्रिया से भिन्न कोटि की है तो वस्तु तथा अलंकार-ध्वनियों की प्रक्रिया में भी अनुमान-प्रक्रिया नहीं लग सकती। उपर्युक्त भिन्नताओं के अतिरिक्त अनुमान-प्रक्रिया द्वारा प्राप्त वस्तु तथा काव्य-प्रक्रिया द्वारा व्यंजित वस्तु में एक और अन्तर है। काव्य की वस्तु-व्यंजना में वक्ता या कवि की दृष्टि में रहने वाला अर्थ प्रमुख होता है किन्तु न्याय की अनुमान-प्रक्रिया में वक्ता या लेखक अपनी निजी बात नहीं कहता; वरन् वह सामान्यतया घटित होने वाली घटना या उपलब्ध वस्तु सिद्ध करता है। काव्यगत व्यंजना में प्रायः कवि या वक्ता का विचार व्यंग्य हुआ करता है अतः उसमें दूरारूढ़ संभाव्यता का विचार करना पड़ता है किन्तु अनुमान-पद्धति में साध्य वस्तु घटित होने वाली घटना पर आश्रित रहती है अतः उसमें दूरारूढ़ कल्पना तथा संभाव्यता के विचार की आवश्यकता नहीं पड़ती। काव्यगत वस्तु-व्यंजना तथा अनुमान-प्रक्रिया से सिद्ध वस्तु के उपर्युक्त अन्तर से भी यह स्पष्ट हो गया कि वस्तुध्वनि और अनुमेय सिद्ध वस्तु एक नहीं होतीं।

अनुमान-प्रक्रिया में व्याप्ति तथा पक्षधर्मता आदि का ज्ञान तथा निर्धारण आवश्यक होता है पर व्यंजना-प्रक्रिया में नहीं, अतः इस दृष्टि से भी व्यंजना-प्रक्रिया अनुमान की प्रक्रिया से भिन्न है। अनुमान-पद्धति में

आये हुए शब्दों का अपने विशिष्ट अर्थों से नित्य और नियत सम्बन्ध रहता है जिससे उनको पढ़ या सुन कर वक्ता या लेखक के अभिप्राय का अनुमान सरलता से लग जाता है पर व्यंजना में शब्दों का अपने विशिष्ट अर्थों से नित्य या नियत सम्बन्ध नहीं रहता वह वक्ता, श्रोता, प्रकरण, आदि की भिन्नता के अनुसार बदलता रहता है अतः उसके ज्ञान के लिए प्रतिभा की आवश्यकता होती है। उपर्युक्त विवेचन से यह भली भाँति विदित हो गया कि व्यंग्यार्थ तथा अनुमेयार्थ अपनी प्रकृति, प्रक्रिया, हेतु, साध्य आदि अनेक बातों में भिन्न हैं अतः दोनों को एकसिद्ध करने का प्रयत्न करना काव्य की प्रकृति, प्रक्रिया, साध्य आदि को बदलकर उसके वास्तविक स्वरूप से उसे वंचित कर देना है।

अन्तिम ध्वनि-विरोधी मत अनिवर्चनीयतावादियों का था। इनका कहना था कि ध्वनि-तत्त्व सहृदय-हृदय-संवेद्य तो है परन्तु वाणी या शब्द द्वारा इसका विवेचन नहीं हो सकता[१]। आनन्द ने इनके मत का खण्डन निम्नाङ्कित ढंग से किया है:—ध्वनितत्त्व सत्कवियों के काव्य का रहस्य है। वह काव्य का अति रमणीय तत्त्व है। अलंकारवादी गुणवादी आचार्यों द्वारा इसका आविष्कार नहीं हो सका था—इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं कि काव्य के जिन तत्त्वों का आविष्कार वे आचार्य न कर सके हों वह काव्य में अस्तित्व ही नहीं रखता। रामायण महाभारत आदि महाकाव्यों के लेखकों ने ध्वनि-तत्त्व का आदर किया है। ध्वनि-तत्त्व सत्काव्यों में आत्म-तत्त्व रूप में वर्तमान रहता है। ध्वनि-तत्त्व से ही सहृदयों को आनन्द मिलता है। अतः ध्वनि के पक्ष में इतने कारणों के रहते हुए उसके अस्तित्व को काव्य में कैसे अस्वीकार किया जाय। आनन्दवर्धन के खण्डन के साथ ही अनिवर्चनीयतावादी भी समाप्त हो गये। ध्वनिकार का खण्डन बहुत यथार्थ है अतः उसके

१—केचित् पुनर्लक्षणकरणशालीनबुद्धयो ध्वनेस्तत्त्वं गिरामगोचरं सहृदयहृदयसंवेद्यमेव समाख्यातवन्तः

(ध्वन्यालोक)

विपक्ष में कुछ कहने के लिए स्थान नहीं। सच पूछा जाय तो अनिर्वचनीयतावादी, अपने मत में विरोध स्वयं उपस्थित कर देते हैं। यदि कोई वस्तु सहृदयों के हृदय द्वारा अनुभव की जाती है, तो निश्चय ही उसकी कोई सत्ता अवश्य है। जब अनुभवैकगम्य बहुत सी बातों का स्वरूप विवेचित किया जाता है तो ध्वनि को अनिवर्चनीयतावादियों के मत के अनुसार सहृदयों द्वारा ही अनुभवैकगम्य मान लेने पर भी उसका विवेचन हो सकता है। दूसरे ध्वनि का प्रभाव तो प्रसिद्ध व्यवहार-क्षेत्र में भी देखा जाता है। काव्यगत ध्वनि का प्रभाव भौतिक जगत् के परिवर्तन में दिखाई पड़ता है। काव्यगत ध्वनि के प्रभाव से ही विलासिता के नद में डूबते हुए मिर्ज़ाराजा जयसिंह उससे बाहर चले आये, तुलसीदास अपनी पत्नी के ध्वनिगर्भित वर्णन के प्रभाव से गृहस्थ से संन्यासी हो गये। इस प्रकार ध्वनि-विरोधी सभी मतों के खण्डन से ध्वनि की सत्ता काव्य में सिद्ध हो जाती है।

ध्वनि-सम्प्रदाय सम्बन्धी पूर्व-विवेचन से हम उसके सैद्धान्तिक पक्ष के विषय में निम्नाङ्कित परिणाम निकाल सकते हैं।

ध्वनि-सम्प्रदाय, काव्य में शब्द की तीन शक्तियाँ—अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना की सत्ता में विश्वास करता है। इन तीनों के व्यापार को स्वतंत्र मानता है। ध्वनिवादियों की दृष्टि में व्यंजना शक्ति; अभिधा, लक्षणा, तात्पर्य, अनुमिति, भोज्य-भोजक आदि शक्तियों से भिन्न है। इस मत के अनुसार काव्य में वाच्यार्थ नहीं, वरन् व्यंग्यार्थ की प्रधानता रहती है। उसी में काव्य की सारी रमणीयता भरी रहती है। इस सम्प्रदाय की दृष्टि में काव्य के सभी प्रकार के सौन्दर्यों की केन्द्र-भूमि ध्वनि ही है; अतः वही काव्य की आत्मा है। ध्वनि काव्य में व्यंग्य अगूढ़ नहीं, वरन् गूढ़ रहता है। वह सामान्य या यांत्रिक ढंग का नहीं होता, वरन् अनुकूल वेदनीय ढंग का होता है। ध्वनि से काव्य में वाग्वैदग्ध आता है, पर वहाँ रस ही प्राण रूप में रहता है, अलंकार नहीं; क्योंकि वह वाग्वैदग्ध बुद्धिकौशल के प्रयत्न से नहीं आता वरन् अनुभूति की तीव्रता से आता है।

ध्वनि सम्प्रदाय में काव्य के अधिकाधिक तत्त्व विकसित हुए; उनको काव्याभिव्यक्ति के भीतर उचित स्थान मिला। जैसे, ध्वनिमत के अनुसार शब्द और अर्थ काव्य-शरीर गुणादि शौर्यादिवत्, अलंकारादि कटकादिवत्, रीति चारुत्वविधि, औचित्य अंगों के समानुपातिक सम्बन्ध रूप में, रस प्राण रूप में तथा ध्वनि आत्मा रूप में प्रतिष्ठित हुई। ध्वनिवादी मत काव्य तथा उसकी प्रक्रिया को महानता प्रदान करता है, कवि के व्यक्तित्व को उच्च स्थान देता है। ध्वनिवादी समीक्षा काव्य के बहिरंग तथा अन्तरङ्ग नियम एवं स्वातंत्र्य में समन्वय स्थापित करती है। ध्वनिमत के सैद्धान्तिक पक्ष में काव्य के सभी प्रयोजनों का समाहार दिखाई पड़ता है। इस मत के अनुसार शब्दार्थ द्वारा विषय का ज्ञान कराना काव्य का इष्ट नहीं; काव्य का लक्ष्य है ऐसे भावों या रसों की व्यंजना करना जिनमें मग्न होकर मनुष्य अपनी पृथक्, सत्ता को भूल जाय। इसी कारण अनौचित्य भरी भावव्यंजना या रस-व्यंजना को इस मत ने भावाभास तथा रसाभास के भीतर स्थान दिया। ध्वनिवाद की धारणा के अनुसार काव्य या साहित्य की परिभाषा होगी विशिष्ट प्रकार के शब्दों की कलात्मक रचना जो काव्य के उचित गुणों से उपनिबन्धित रहती है; जिसका मुख्य प्रयोजन भाव या रस की ऐसी व्यंजना करना है जो सहृदयों को अपने में रमा सके। ध्वनिवादियों की दृष्टि में काव्य में ध्वनि का रहना आवश्यक है। काव्य में कहीं वह मुख्य स्थान ग्रहण करके रहेगी कहीं गौण। काव्य में जहाँ वह मुख्य स्थान ग्रहण करके रहेगी वह ध्वनि-काव्य के नाम से अभिहित होगा, जहाँ गौण स्थान ग्रहण करके रहेगी वह गुणीभूत व्यंग्य-काव्य कहलायेगा और जहाँ उसका अभाव रहेगा वह चित्र-काव्य की संज्ञा पायेगा। काव्य परखने की मुख्य कसौटी ध्वनि मानने के कारण ही आनन्दवर्धन इन काव्यों को क्रमशः उत्तम, मध्यम तथा अधम काव्य की संज्ञा देते हैं। यों तो ध्वनिकार ने ध्वनि के अनेक भेदोपभेद किये हैं पर मुख्य तथा श्रेष्ठ ध्वनि रस-ध्वनि ही मानी गई है और उसका संचार किसी न किसी मात्रा तथा रूप में सभी ध्वनियों के भीतर माना गया है। इससे काव्य

की मूल प्रकृति एवं उसके प्राण-तत्त्व की सुरक्षा सर्वत्र हो गई है। रस-ध्वनि काव्य को उत्तम तथा अनौचित्य को रसभङ्ग का कारण कह कर ध्वनिवादियों ने काव्य की भित्ति सामाजिक ही मानी है। ध्वनि का सम्बन्ध काव्य के अन्य तत्त्वों से बताते समय यह दिखाया जा चुका है कि किस प्रकार ध्वनि का सम्बन्ध अलंकार, रीति, गुण, वक्रोक्ति, औचित्य, रस आदि से है। उसी समय यह भी बताया जा चुका है कि किस प्रकार ध्वनि-तत्त्व के भीतर कल्पना, चिन्तन तथा अनुभूति का समावेश हो जाता है। ध्वनि-सिद्धान्त कथन की विवरणात्मक या इतिवृत्तात्मक पद्धति को महत्त्व नहीं देता। उसकी दृष्टि में काव्यात्मक अभिव्यक्ति में कवि किसी वस्तु, घटना, परिस्थिति आदि के मार्मिक अंश को पकड़कर अपनी कला द्वारा उसे इतना अधिक सूचकात्मक (suggestive) बनाता है कि उसकी व्यंजना द्वारा वर्ण्य के मार्मिक अंशों की ही झाँकी नहीं मिलती वरन् उसके साधारण अंशों पर भी प्रकाश पड़ जाता है। इस प्रकार ध्वनिवाद काव्य में वर्ण्य के महत्त्वपूर्ण तथा मार्मिक स्थलों की पहचान तथा चुनाव के सिद्धान्त की ओर अप्रत्यक्ष रूप से संकेत करता है। ध्वनि-मत काव्य में चमत्कार, रमणीयता, प्रभविष्णुता के सिद्धान्त का समर्थन करता है। यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि ध्वनिवादियों का चमत्कार अलंकारवादियों के समान बुद्धि को विस्मित या चकित करनेवाला नहीं होता वरन् चित्तविकासक होता है। ध्वनिवाद की रमणीयता केवल शब्द द्वारा ही प्रतिपादित नहीं होती, अर्थ द्वारा भी प्रतिपादित होती है और कभी शब्द-अर्थ दोनों द्वारा। यह रमणीयता ध्वनि द्वारा सम्पादित होती है और काव्य में ललना-लावण्य की भाँति उसके अंग-संस्थानों के अतिरिक्त दिखाई पड़ती है। ध्वनि काव्य की प्रभविष्णुता ध्वनिकाव्यकार की भावना की सचाई, अनुभूति की तीव्रता एवं कान्ता-सम्मित ढंग की अभिव्यक्ति-प्रणाली द्वारा सम्पादित होती है। ध्वनि-मत काव्य में भाव की प्रेषणीयता के लिए व्यंजना सिद्धान्त को अपनाता है।

ध्वनि-काव्य का सत्य सूचनात्मक नहीं होता, विज्ञान से सम्बन्ध

नहीं रखता, यांत्रिक ढंग का नहीं होता, वरन् वह कवि के स्वयंप्रकाश ज्ञान या सहजानुभूति से सम्बन्ध रखता है या किसी दार्शनिक सत्य की मार्मिक अनुभूति से उत्पन्न होता है। जिस काव्य में कवि का अन्तर्ज्ञानोपलब्ध अर्थ जितना अधिक भरा होगा। वह, ध्वनि सिद्धान्त की दृष्टि से उतना ही अधिक काव्यात्मक माना जायगा। ध्वनि-सिद्धान्त की दृष्टि से कवि का मुख्य कर्तव्य है रस को काव्य का मुख्य प्रयोजन बना कर उसके निष्पत्त्यर्थ शब्दों, अर्थों, घटनाओं, पात्रों आदि का उपनिबन्धन करना। ध्वनिवादियों के अनुसार काव्य-दोष वही है जो मुख्य अर्थ का ह्रास या नाश करे[१]। मुख्य अर्थ होता है रस। अतः काव्य में रस को दूषित करने वाले दोष ही वास्तविक काव्य-दोष हैं।

ध्वनि सम्प्रदाय के मूल्याङ्कन के लिए अब उसके गुणों तथा दोषों पर विचार करना चाहिए। ध्वनिवादी समीक्षा व्यावहारिक समीक्षा में परम्परा को नहीं अपनाती। समीक्षक को भी प्रतिभा-प्रयोग के लिए पर्याप्त अवसर देती है। ध्वनि-सम्प्रदाय के उपर्युक्त सिद्धान्तों के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि यह समीक्षा-पद्धति अलंकार, गुण, रीति, वक्रोक्ति; औचित्य आदि समीक्षा-पद्धतियों की अपेक्षा काव्य को अधिक सर्वाङ्गीण दृष्टि से देखने का प्रयत्न करती है। व्यावहारिक समीक्षा में इसके सिद्धान्तों को अपनाने से किसी कृति के बहिरंग तथा अन्तरङ्ग दोनों पक्षों पर विचार हो सकता है। उसके काव्य, गुण, अलंकार, रीति, भाव-व्यंजना, काव्य-दोष आदि पर प्रकाश डाला जा सकता है। कृति के कल्पना-चिन्तन तथा अनुभूति-तत्त्वों का विवेचन किया जा सकता है; काव्यप्रयुक्त भाषा के संभावित अर्थ, शब्द-व्यक्तित्त्व, कवि-व्यक्तित्त्व, कविता के मनोवैज्ञानिक आधार, उस काव्य-रचना की प्रक्रिया, लोकधर्म, दार्शनिक पक्ष, मौलिकता, काव्य सन्देश, काव्य में प्रयुक्त साहित्य-नियम तथा स्वातंत्र्य का विश्लेषण किया जा सकता है। इस प्रकार ध्वनिवादी व्यावहारिक समीक्षा में साहित्य के

१—मुख्यार्थापहतिदोषः। (ध्वन्यालोक)

उत्कर्ष-विधायक प्रायः सभी गुणों का विचार किया जा सकता है। ध्वनि-सम्प्रदाय ने कविता को परखने का जो मानदण्ड निश्चित किया है उसमें किसी प्रकार की एकदेशीयता तथा एककालीनता नहीं है। यह सम्प्रदाय काव्य या साहित्य के अन्तस्तत्त्व के ऊपर सबसे अधिक बल देते हुए उसकी मूल प्रकृति की रक्षा में समर्थ है तथा उसके मूल तत्त्वों के पकड़ने में सफल। ध्वनिवाद-काव्य के गुणपक्ष की पकड़ जितनी तलस्पर्शिनी तथा व्यापक है उतनी ही उसके दोषपक्ष की भी। सैद्धान्तिक दृष्टि से ध्वनि सम्प्रदाय की व्याप्ति बहुत अधिक है। असंलक्ष्यक्रमध्वनि के भीतर सभी प्रकार के भाव तथा रस, संलक्ष्यक्रम-ध्वनि के भीतर वस्तुध्वनि के भीतर सभी प्रकार की घटनायें, परिस्थितियाँ वस्तुवर्णन आदि; अलंकारध्वनि के भीतर सभी प्रकार के अलंकार अर्थात् कल्पनायें आ जाती हैं। ध्वनिवादी आचार्यों ने ध्वनि को एक श्लोक, एक पद, पद के भाग, प्रकृति अथवा प्रत्यय, स्वर आदि के भीतर बतला कर इसकी व्याप्ति को काव्य में सबसे अधिक विस्तृत कर दिया। ध्वनि-सम्प्रदाय ने साहित्य के अन्य सम्प्रदायों द्वारा प्रतिपादित तथा प्रस्थापित काव्य-तत्त्वों को अपनी काव्य धारणा के भीतर स्वीकार करके उन विभिन्न सम्प्रदायों से समझौता भी स्थापित किया तथा साथ ही काव्य में उनका उचित रूप एवं स्थान निरूपित करके काव्याभिव्यक्ति को व्यवस्थित तथा सन्तुलित कर दिया।

ध्वनिवादियों ने वर्णन-प्रधान गुणीभूत व्यंग्य-काव्य तथा ध्वनि-रहित चित्र-काव्य को भी काव्य की संज्ञा देकर अपने सिद्धान्त को अन्य सम्प्रदायों के सिद्धान्तों की अपेक्षा अधिक विस्तृत एवं उदार सिद्ध किया, क्योंकि अन्य सम्प्रदाय वाले अपने प्रतिपादित सिद्धान्त से रहित काव्य को काव्य ही नहीं मानते थे। ध्वनि-काव्य की भित्ति भी नीति पर आधारित है क्योंकि उसका मुख्य आधार रस है जो औचित्य की रक्षा से ही उत्पन्न हो सकता है पर यह औचित्य या नीति-कथन कान्तासम्मित ढंग से रहता है। ध्वनिवादी समीक्षा द्वारा—प्रबन्ध काव्य का सन्देश क्या है? उसके अन्तर्गत प्रतिष्ठित कविताओं

में कितने तरह के अर्थ हैं ?—उनमें कौन अधिक महत्त्वपूर्ण हैं कौन कम ? आदि बातों का ठीक ठीक पता लगाया जा सकता है। ध्वनि-काव्य की प्रेरक न तो कोरी भावुकता होती है और न केवल बुद्धिजन्य दर्शन। इस प्रकार इसमें हृदय और मस्तिष्क दोनों की संयोगात्मक क्रिया काम करती है। बहुत तीव्र व्यंजना, बहुत तीव्र प्रतिभा का परिणाम है। अतः ध्वनि-काव्य लिखने में वही कवि सफल हो सकता है, जिसकी प्रतिभा अर्थात् कल्पना बड़ी ही सूक्ष्म, विशद एवं सर्जनात्मक कोटि की हो; जिसकी भावुकता वर्ण्य के मार्मिक स्थानों में विहार करने में दक्ष हो; जिसकी संवेदन-शक्ति बहुत तीव्र एवं सूक्ष्म कोटि की हो एवं जिसका व्यक्तित्त्व बहुत ही विशद एवं उदार बन गया हो। ध्वनि सम्प्रदाय में काव्य के सभी प्रयोजनों का समाहार दिखाई पड़ता है। ध्वनि सिद्धान्त काव्य-भाषा के अद्वितीय गुण व्यंजना पर सबसे अधिक बल देता है। वह काव्यात्मक भाषा की कला की उच्चता-व्यंजना शक्ति को अधिकाधिक प्रभावशाली, सूक्ष्म, बहुव्यापिनी, रमणीय एवं कवि की संकल्पात्मक अनुभूति से अधिकाधिक संपृक्त होने में मानता है।

ध्वनि-मत काव्य में सूचकता की शक्ति को आत्मा मानकर नव-नवोन्मेषशालीनता के सिद्धान्त का समर्थन करता है। ध्वनिवादी काव्य में कला के मर्म को गूढ़ व्यंजना में निहित समझ कर अप्रत्यक्ष रूप से काव्य में कुतूहल, मनोज्ञता, आकर्षण के सिद्धान्त की प्रशंसा करते हैं।

दोषः ध्वनि-समुदाय रसवाद का ही संवर्धित रूप है अतः इसकी कोई स्वतंत्र भूमि नहीं। रस-सिद्धान्त की आधारभूमि पर ही यह सम्प्रदाय प्रतिष्ठित है। ध्वनि-सिद्धान्त का आविष्कार करके रस के प्रतिपादकों ने अपने अर्थक्षेत्र का विस्तार बढ़ा लिया। काव्यात्मक भाषा तथा उसके अर्थ की समस्याओं पर भी विचार किया, अन्यथा रस-सिद्धान्त की ही सब बातें ध्वनिवाद में पाई जाती हैं। ध्वनि वस्तुतः रसानुभूति की प्रक्रिया है। रस-प्रक्रिया को स्पष्ट करने के लिए ही आरंभ में इसका उदय हुआ इसीलिए रस-सिद्धान्तों को अपनाकर इसने अपने

मत को परिपुष्ट किया। धीरे धीरे ध्वनि-सिद्धान्त रस सामग्री को अपना कर इतना अधिक परिपुष्ट हो गया कि उसने काव्य में अपना प्राधान्य स्थापित कर लिया, इतना ही नहीं उसने काव्य-शासक (रस) के पद को भी छीन लिया और स्वयं काव्य-शासक बन बैठा और अपनी दृष्टि से काव्य का नियमन एवं वर्गीकरण करने लगा। वस्तुतः काव्य का सबसे प्रधान तत्त्व या आत्मा रस ही हो सकता है किन्तु ध्वनिवादी आचार्यों ने ध्वनि को ही काव्य की आत्मा कहा और काव्य का वर्गीकरण ध्वनि के आधार पर किया। ध्वनि को काव्य की आत्मा मानकर भी ध्वनिरहित पद-रचना (चित्रकाव्य) को काव्य की उपाधि देना अपने कथन में विरोध उपस्थित करना है। ध्वनि-सम्प्रदाय के उदय से रस के प्रसार को पूरी सहायता मिली किन्तु काव्यानुशासक रूप मे नहीं वरन् ध्वनि के अनुशासित रूप में। वस्तु-ध्वनि तथा अलंकार-ध्वनि वस्तुतः रसाभिव्यक्ति के विभिन्न स्वरूप हैं अतः इनको ध्वनि की अलग संज्ञा देना ठीक नहीं।

काव्य-परीक्षण के एकमात्र सिद्धान्त के रूप में ध्वनि को अपनाने से किसी विशिष्ट प्रकार के काव्य के रूप, ढाँचे, प्रकृति आदि पर सम्यक् दृष्टि से विचार नहीं हो सकता।

अभिनवगुप्त के परवर्ती आचार्यों के ध्वनि सिद्धान्त के विवेचन में उदाहरण रूप में दिये हुए छन्दों में बौद्धिक चमत्कार की प्रधानता देख कर कहना पड़ता है कि ध्वनि-सिद्धान्त भी कियतकालोपरान्त बुद्धि-तत्त्व के आधिक्य के कारण विकृत हो गया।

——